॥ ओ३म् ॥

समाधि

स्वामी विष्वङ् परिव्राजक

योग-दर्शन के सूत्र साधकों के लिये पतञ्जलि की अनुपम भेंट हैं। इन सूत्रों पर लिखा गया वेदव्यास कृत भाष्य इनमें चार चाँद लगा देता है। साधकों को जितना संक्षिप्त-स्पष्ट-सरल-अचूक-परिपूर्ण-सर्वाङ्गीण मार्ग पातञ्जल-योगदर्शन में दिखाया गया है ऐसा अन्यत्र अनुपलब्ध है।

स्वामी विष्वङ् जी परिव्राजक ने जन-सामान्य की योग-शास्त्र में रुचि, योग-शास्त्र पढ़ते समय आने वाली कठिनाइयों और उठने वाले स्वाभाविक प्रश्नों को देखते हुए इसकी व्याख्या की है।

ओ३म्

समाधि

[पातञ्जल योग-दर्शन के प्रथम पाद की
सरल-सुबोध व्याख्या]

लेखक :
स्वामी विष्वङ् परिव्राजक

प्रकाशक :
वैदिक पुस्तकालय
अजमेर (राज०)

प्रकाशक	:	**वैदिक** पुस्तकालय केसरगंज, अजमेर (राज०), दूरभाष : ०१४५-२४६०१२०
संस्करण	:	सन् २०११
मूल्य	:	₹ १००.००
शब्द-संयोजक	:	**कमलेश पुरोहित,** अजमेर दूरभाष : ०९८२८१८०१९७
पृष्ठ-सज्जा	:	**स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१ दूरभाष : ०९२५५९-१२३१४
आवरण	:	**आशीष मल्होत्रा,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
मुद्रक	:	**राधा प्रेस,** दिल्ली-११००३१

प्रकाशकीय

जब से वेद का पठन-पाठन समाप्त हुआ है, आर्ष-ग्रन्थों का लोप होता जा रहा है। वैदिक-युग में वेद का स्वाध्याय, स्मरण, व्याख्यान व जीवन का उद्देश्य होता था, परन्तु महाभारत के युद्ध के पश्चात् वेद का पठन-पाठन धीरे-धीरे समाप्त होने लगा और वेद के स्थान पर विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों ने समाज में वेदों का स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया। इसी कारण न्याट्याचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र को पांचवा वेद कहकर शूद्रों के लिए भी इसके अधिकार की बात की, तो कुछ ने महाभारत को पांचवा वेद कहना प्रारम्भ कर दिया। शनैः शनैः वेदाध्ययन और वेद-स्वाध्याय की परम्परा समाज से लुप्त हो गई। आर्षग्रंथों का स्थान अनार्ष-ग्रंथों ने ले लिया और उदरम्भरि लोगों की पुराणादिक रचनाओं ने वेदों का स्थान ले लिया। परिणामस्वरूप समाज अनेक ईश्वर, अनेक धर्म-ग्रंथ तथा असंख्य गुरुओं के जाल में फंसता चला गया और विचारों के ऐक्य के अभाव में समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त होता गया, देश के दुर्बल एवं अज्ञान ग्रस्त होने के परिणामस्वरूप विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा कुचला गया, पराधीन हुआ और पौराणिक विद्या भी समाप्त होकर विदेशी भाषा तथा विदेशी शिक्षा ने देश में वेदों का स्थान ले लिया। परिणामस्वरूप इस्लामिक काल में राज्य सत्ता के प्रभाव व आजीविका के लोभ से इस देश के लोगों में उर्दू, फ़ारसी का चलन बढ़ा और कहावत बन गई—**हाथ कंगन को आरसी क्या और पढ़े-लिखे को फ़ारसी क्या ?** इस प्रवाह में यह देश अंग्रेजों का दास बना और उर्दू फ़ारसी का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया, फलस्वरूप आज अंग्रेजी शिक्षा-सभ्यता-संस्कार इस देश के आदर्श बन गये, जो थोड़ा बहुत संस्कृत का चलन ब्राह्मणों के घरों और पाठशालाओं में था, वह भी समाप्त हो चला।

आज संस्कृत की स्थिति इस प्रकार की हो गई है कि यदि हम संस्कृत साहित्य की कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक बाजार में लेना चाहें तो मिलना संभव नहीं है। संस्कृत के प्रकाशक केवल पाठ्यपुस्तक छापकर अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते हैं। कुछ पुस्तकें सरकारी अनुदान के कारण छप जाती हैं।

अन्यथा संस्कृत का पाठक ही नहीं है तो प्रकाशक कहां से आयेगा। नई शिक्षा के कारण आने वाला शिक्षित वर्ग संस्कृत-हिन्दी से अनभिज्ञ होने के कारण संस्कृत साहित्य के पाठकों का वर्ग समाप्त प्रायः हो गया है। आज संस्कृत भाषा और उसका साहित्य केवल कुछ अनुसंधान में संलग्न विद्वानों का विषय बनकर रह गया है। ऐसी विकट परिस्थिति में भारतीय परम्परा और संस्कृति के उपासकों का यह दायित्व हो जाता है कि लुप्त होती वैदिक एवं आर्ष परम्परा को जीवित रखें, उसका संरक्षण करें, उसके प्रचार-प्रसार का उपाय करें। उसी क्रम में ऋषि दयानन्द ने जहां आर्यसमाज और गुरुकुलों के माध्यम से संस्कृत प्रचार-प्रसार का प्रयत्न किया वहीं परोपकारिणी सभा की स्थापना कर उसके तीन उद्देश्यों में प्रथम स्थान वैदिक एवं आर्ष-ग्रन्थों के पठन-पाठन करने, प्रकाशन करने और व्याख्यान करने का विधान किया। अतः सभा अपने स्थापना काल से ही वेद, वैदिक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थ व ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के प्रकाशन में संलग्न रही है। इसी क्रम में सभा शनैः शनैः सभी प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का विचार रखती है, अतः स्वामी विष्वङ् जी के इस योग व्याख्या ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं।

स्वामी जी का ग्रन्थ धारावाहिक रूप से परोपकारी में प्रकाशित होता रहा है। पाठकों को इस व्याख्या ने बहुत प्रभावित और प्रेरित किया, अतः इसका पुस्तक रूप में प्रकाशन आवश्यक हो गया, इसमें दर्शन के मूल भाव और भाष्यकार की भावना को सामान्य पाठक के लिए सुबोध और सुगम बनाया गया है। आशा है पाठकों को यह प्रयास रुचिकर लगेगा। आगे भी दर्शन, उपनिषद् आदि शास्त्र ग्रन्थों के व्याख्यान प्रकाशित करने की योजना है जो पाठकों के सहयोग से सफल हो सकेगी। इस ग्रन्थ के लिए हम स्वामी विष्वङ् जी के आभारी हैं जिन्होंने पाठकों के लिए दर्शन का बोध सुलभ कराया।

—हितैषी

डॉ० धर्मवीर

विषय-सूची

सम्पादकीय

योग-दर्शन के सूत्र साधकों के लिये पतञ्जलि की अनुपम भेंट हैं। इन सूत्रों पर लिखा गया वेदव्यास कृत भाष्य इनमें चार चाँद लगा देता है। साधकों को जितना संक्षिप्त-स्पष्ट-सरल-अचूक-परिपूर्ण-सर्वाङ्गीण मार्ग पातञ्जल-योगदर्शन में दिखाया गया है ऐसा अन्यत्र अनुपलब्ध है। व्यासभाष्य सहित पातञ्जल योग-दर्शन की इसी महत्ता के कारण इस पर संस्कृत, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में अनेक व्याख्यान ग्रंथ मिलते हैं।

व्याख्याता के स्तर, दृष्टि व शैली भेद से इन व्याख्यान-ग्रन्थों में परस्पर पर्याप्त भिन्नता भी मिलती है। अपने पाठक-वर्ग के स्तर को मन में रखते हुए भी व्याख्यान-ग्रन्थों में भेद देखा जाता है। दृष्टि-भेद से उत्पन्न सिद्धान्त-भेद पाठकों के मन में संशय पैदा करता है कि इनमें से पतञ्जलि व वेदव्यास का अपना सिद्धान्त कौन-सा है। योग-सूत्रों व व्यासभाष्य की अंत:साक्षी व इनकी परम्परा को सावधानी से देखें तो इनके अभिप्राय को सर्वाधिक उचित रूप से समझा जा सकता है।

योग-दर्शन छ: वैदिक-दर्शनों में से एक है। यह वैदिक परम्परा का दर्शन है। इसके सूत्र व व्यासभाष्य वैदिक ज्ञान की छाया में रचे गये हैं। अत: वैदिक-परम्परा को शुद्ध रूप में जानकर ही योग-सूत्रों व व्यासभाष्य के साथ न्याय किया जा सकता है। योग सूत्र व व्यासभाष्य संस्कृत भाषा में हैं, अत: संस्कृत भाषा को अच्छा जानने वाला ही इसे ठीक समझ कर उचित व्याख्या कर सकता है।

उचित व्याख्या के लिये ऊपर कही दो योग्यताओं—शुद्ध वैदिक परम्परा का सम्यक् परिचय व संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान—के होने पर एक तीसरी योग्यता भी आवश्यक है 'स्वयं योगाभ्यासी होना'। जो व्यक्ति स्वयं योगाभ्यास नहीं करता है वह प्रथम दो योग्यताओं के होने पर भी योग-शास्त्र के मर्म को नहीं समझ सकता। यदि कोई व्याख्याता योगाभ्यासी तो हो किन्तु प्रथम दो योग्यताओं में से एक से भी रहित हो, तो वह भी योग-शास्त्र के मर्म से चूक जायेगा।

योग शास्त्र की उपलब्ध व्याख्याओं के लिये यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि इनमें पतञ्जलि व वेदव्यास के अभिप्राय को यथावत् पूर्णत: खोला गया है। वर्तमान में योग-शास्त्र की शतप्रतिशत प्रामाणिक व पूर्ण व्याख्या होना असंभव प्रतीत होता है, विशेषकर विभूतिपाद के सन्दर्भ में। पुनरपि कोई व्याख्या पतञ्जलि व वेदव्यास के वास्तविक अभिप्राय के अपेक्षाकृत अधिक अनुरूप तो कही जा सकती है।

स्वामी विष्वङ् जी परिव्राजक ने जन-सामान्य की योग-शास्त्र में रुचि, योग-शास्त्र पढ़ते समय आने वाली कठिनाइयों और उठने वाले स्वाभाविक प्रश्नों को देखते हुए इसकी व्याख्या आरम्भ की है। यह व्याख्या 'परोपकारी' पत्रिका (परोपकारिणी सभा, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर) में क्रमश: छप रही है। योग-दर्शन के प्रथम 'समाधि-पाद' की व्याख्या पाठकों के सामने आ चुकी है। आगे की व्याख्या 'परोपकारी' में क्रमश: आती रहेगी। इसी व्याख्या को किञ्चित् संशोधन-परिवर्धन के बाद पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पूरा योग-शास्त्र चार खण्डों में प्रकाशित होगा। इनमें से प्रथम-खण्ड 'समाधि' आपके हाथ में है।

स्वामी विष्वङ् जी परिव्राजक योगाभ्यासी विद्वान् संन्यासी हैं। लगभग २० वर्ष से वे योग-साधना कर रहे हैं। वैदिक-परम्परा, वैदिक सिद्धान्तों व संस्कृत-भाषा से भी भलीभांति परिचित हैं। ऐसे विद्वान् साधक की व्याख्या से जन-सामान्य योग-शास्त्र को कुछ और अधिक अच्छी तरह समझने में समर्थ होकर अपने जीवन को और अधिक शुद्ध योगमय बना सकेगा, ऐसी आशा है।

पाठकों के सुझावों का सदा स्वागत है।

शुभैषी
सत्यजित्

समाधि-पाद

योग-शास्त्र का आरम्भ

अथ योगानुशासनम्॥ १॥

परमकारुणिक, दयालु, दु:खविनाशक, आनन्दप्रदाता, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने हम सब आत्माओं को दु:खों से रहित कर आनन्द से पूर्ण करने के लिए वेद में योग का शासन किया है। यहाँ पर शासन का अभिप्राय है वह संपूर्ण विधि-विधान जिससे योग का परिज्ञान होता है। परमेश्वर ने वेद में योग का शासन मंत्र रूप में किया है।

वेद में मंत्र रूप में उपदिष्ट योग-शासन को महर्षि पतञ्जलि ने अपने शब्दों में निरूपित किया है। महर्षि पतञ्जलि ने हम आत्माओं के कल्याण की भावना से सरल व सार रूप में योग का अनुशासन (=पश्चात् शासन) किया, जिससे हम सरलता से परमेश्वर के आनन्द को पा सकें। महर्षि ने परमेश्वर के सान्निध्य (इन्द्रस्य युज्य: सखा) को पा कर वेद प्रतिपादित योगशासन को हृदयंगम कर हमारे कल्याण के लिए योगशास्त्र का निर्माण किया है। उसे भी हमने नकारा है। हमारी पतन की पराकाष्ठा देख कर हमारी दुर्दशा को दूर करने के लिए वेदज्ञ, वेदोद्धारक, सर्वमान्य महर्षि वेदव्यास ने पतञ्जलि सूत्रों पर उद्भट भाष्य किया है। जिसे व्यासभाष्य के नाम से जाना जाता है।

'अथ' शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि '**अथ इति अयमधिकारार्थ:**' अर्थात् सूत्र में 'अथ' शब्द का अर्थ 'अधिकार' है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'अथ' के छ: अर्थ दिये हैं—मंगल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कात्स्न्र्य=संपूर्ण एवं अधिकार।

यहाँ पर अधिकार का अभिप्राय एक प्रकार की विद्या विशेष अर्थात् योग विद्या का संकेत करना है। योगानुशासनम् का अर्थ हुआ अब योग विद्या को विषय बना कर प्रस्तुत किया जाना है।

सूत्र में 'योग' पद की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं

कि 'योग: समाधि:' अर्थात् समाधि को योग कहते हैं। यहाँ पर समाधि का अभिप्राय है- किसी भी वस्तु में मन को लगाकर उस वस्तु का साक्षात्कार करना। एक वाक्य में कहा जाये तो साक्षात्कार या प्रत्यक्ष का नाम समाधि है।

मन किसी भी वस्तु में लगता है, तो वह चार प्रकार से लगता है। १. चंचल हो कर लगता है, २. मूढ़ हो कर लगता है, ३. विक्षिप्त हो कर लगता है, ४. एकाग्र होकर लगता है। मन की इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त मन की पांचवीं अवस्था भी होती है। इस अवस्था में मन किसी वस्तु में नहीं लगा होता है, कोई वस्तु मन का विषय नहीं बनती, मन वृत्तिरहित निरुद्ध-अवस्था में चला जाता है। महर्षि वेदव्यास ने इन पांचों प्रकारों में समाधि को माना है। परन्तु वे, सभी प्रकारों में समाधि को स्वीकार करते हुए भी, सब को योग स्वीकार नहीं करते हैं। महर्षि ने एकाग्र एवं निरुद्ध को ही योग स्वीकार किया है। क्योंकि चंचलता, मूढ़ता व विक्षिप्तता में अविद्या काम करती है और अविद्या योग में बाधक है। दूसरा यह भी कारण है कि चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त अवस्थाओं में समाधि की निरन्तरता नहीं रहती है। इसके परिणामस्वरूप आत्मा का अन्तिम प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता है। ऐसी समाधि से क्या प्रयोजन, जिसमें आत्मा दुःखी ही रहे। इसीलिए महर्षि वेदव्यास ने चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त अवस्थाओं को योग में नहीं माना है।

एकाग्र समाधि को योग में इस कारण स्वीकार किया है कि इस अवस्था से आत्मा अपने प्रयोजन को पूर्ण करने की ओर बढ़ता है। इस अवस्था से पहली उपलब्धि यह मिलती है कि यह '**सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति**' अर्थात् प्रत्येक वस्तु जैसी होती है उसे मन वैसा ही प्रत्यक्ष कराता है। यह यथार्थता दीर्घकाल पर्यन्त बनी रहती है। यह स्थिति चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त में कभी नहीं होती है। यदि विक्षिप्त-अवस्था में कुछ काल के लिए हो भी जाये, तो पुनः अविद्या आ घेरती है। अतः निरुद्ध समाधि की ओर नहीं बढ़ पाते हैं।

एकाग्र-अवस्था की **दूसरी** उपलब्धि यह है कि यह '**क्षिणोति च क्लेशान्**' अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश को क्षीण-कमजोर-सोये हुए के समान करके नष्ट होने के कगार पर ले जा कर नियन्त्रित

ही रखती है। चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त अवस्थाओं में पांचों अविद्या आदि क्लेश समृद्ध होते हैं, जो कि आत्मा को ईश्वर से दूर करते हैं।

एकाग्र-अवस्था की **तीसरी** उपलब्धि यह है कि यह '**कर्मबन्धनानि श्लथयति**' अर्थात् आत्मा को बार-बार जन्म दिलाने वाले कर्मों को एवं पाप कर्मों में प्रवृत्त करने वाले कुसंस्कारों को शिथिल करती है क्षीण करती है, समाप्ति की ओर ले जाती है। जिससे संस्कार पाप में प्रवृत्त न करा सकें। चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त अवस्था में किया जाने वाला प्रत्येक कर्म जन्म को देने वाला होता है। उन कर्मों से संस्कार बनते हैं, ये ही संस्कार बार-बार बन्धनकारक कर्म करने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। जिससे आत्मा बन्धन की ओर बढ़ती है।

एकाग्र-अवस्था की **चौथी उपलब्धि** यह है कि यह '**निरोधाभिमुखं करोति**' अर्थात् निरुद्धावस्था की ओर उन्मुख करती है। मन की एकाग्र अवस्था से आत्मा को विवेक होता है। विवेक से वैराग्य होता है। वैराग्य से आत्मा ईश्वर-साक्षात्कार की ओर अग्रसर होती है। चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त अवस्था में आत्मा अविवेकी होकर संसार के पदार्थों को ही सब कुछ स्वीकार करते हुए ईश्वर से विमुख हो जाती है।

एकाग्र-अवस्था की **पांचवीं** उपलब्धि यह है कि इस स्थिति में संपूर्ण ब्रह्माण्ड व स्वयं आत्मा का साक्षात्कार होता है अर्थात् जीवात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है, और संसार के मूल कारण सत्व, रज व तम सहित महतत्त्व, अहंकार, मन, दस इन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं एवं पाँच महाभूतों का साक्षात्=प्रत्यक्ष हो जाता है।

जब आत्मा को यह बोध हो जाता है कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे प्रयोजन को पूर्ण करने में असमर्थ है। तब इसी से आत्मा संसार के प्रति पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन सब वृत्तियों से निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था को निरुद्ध-अवस्था कहते हैं। इस में केवल ईश्वर ही ज्ञान का विषय रहता है। जीवात्मा का ईश्वर के साथ ही सम्बन्ध रहता है। इसी अवस्था में परमेश्वर का प्रत्यक्ष-दर्शन हो जाता है।

महर्षि वेदव्यास ने मन की एकाग्र-अवस्था का नाम संप्रज्ञात-समाधि रखा है, जिसमें संसार व आत्मा का दर्शन होता है। और मन की निरुद्ध-

अवस्था का नाम असंप्रज्ञात-समाधि रखा है, जिसमें केवल परमेश्वर का ही दर्शन होता है।

कोई विरला ही मनुष्य होगा जो मन की एकाग्र व निरुद्ध अवस्था में रहता हो। अन्यथा हम सब बाकी तीनों (चंचल, मूढ़ व विक्षिप्त) अवस्थाओं में ही जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं और वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। हम सब का यह कर्त्तव्य बनता है कि मन की जिन अवस्थाओं से हमारा मुख्य प्रयोजन पूर्ण नहीं होता, उन अवस्थाओं से ऊपर उठ कर एकाग्र व निरुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करें। इसके बिना हमारा संपूर्ण जीवन का पुरुषार्थ आत्मवंचना या आत्महनन के लिए ही रह जायेगा।

'अथ योगानुशासनम्' का अभिप्राय यह हुआ कि योग करने के विधि-विधान, उपाय व बाधाओं को दूर करने सम्बन्धी शास्त्र को विषय बना कर उपदेश किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

❖❖❖❖

चित्तवृत्तियों का रुक जाना—योग

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

महर्षि पतञ्जलि ने 'अथ योगानुशासनम्' के द्वारा योग करने के विधि-विधान, उपाय व बाधाओं को बताने संबन्धी प्रतिज्ञा करके योग की परिभाषा को सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१) चित्त (२) वृत्ति (३) निरोध, इन तीन शब्दों से योग को परिभाषित किया है। यहाँ पर चित्त का अभिप्राय है 'मन'। 'वृत्ति' शब्द का अभिप्राय है 'मन की क्रिया या व्यापार या कार्य'। 'निरोध' शब्द का अभिप्राय है 'रोकना'।

सूत्र का अर्थ हुआ—मन के व्यापारों=क्रिया-कलापों=वृत्तियों=कार्यों को रोकने का नाम योग है।

मन क्रिया=कर्म करता है। क्या यह मन स्वतंत्र रूप से क्रिया करता है अथवा किसी के द्वारा करवाया जाता है? यदि मन चेतन है, तो उसे स्वतंत्र रूप से कर्म करना चाहिए और यदि मन जड़ है, तो उसे चेतन आत्मा के द्वारा प्रेरित होने पर कर्म करना चाहिए।

महर्षि पतञ्जलि ने मन के कर्म को रोकने की बात की है, तो वह मन निश्चित रूप से जड़ है। क्योंकि जड़ परतंत्र होता है और चेतन के अधीन रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि मन स्वत: कोई चेष्टा-कर्म नहीं करता है। यह आवश्यक नहीं है कि जिससे कर्म कराया जाये, वह जड़ ही हो। हाँ, जो सदा दूसरे के अधीन होकर करता हो, वह जड़ ही होता है। जैसे चेतन आत्मा कभी-कभी दूसरी आत्मा के अधीन हो कर कर्म करती है, परन्तु सदा ऐसा नहीं होता। मन तो सदा चेतन के अधीन हो कर ही करता है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्'

अर्थात् सत्व, रज व तम नामक जो संसार के मूल उपादान-कारण हैं, इन्हीं जड़ पदार्थों से बना हुआ मन भी है। अर्थात् मन 'जड़' है, यह ऋषि कहना चाहते हैं।

कोई भी वस्तु बनती है, तो दो प्रकार से बनती है। एक प्रकार वह है, जिसमें वस्तु मूल उपादान-कारण के समभाग में मिलने पर बनती है। दूसरा प्रकार वह है जिसमें मूल उपादान-कारण के विषम-भाग में मिलने पर बनती है। यहाँ पर मन भी इन दो प्रकारों में से विषम-भाग वाले प्रकार से बना है। क्योंकि महर्षि वेदव्यास लिखते हैं **'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्'** अर्थात् यद्यपि मन सत्व, रज व तम से बना है फिर भी मन में सत्व की मात्रा अधिक होने से मन सत्वमय कहलाता है।

महर्षि वेदव्यास जी के इस सिद्धान्त से बहुत बड़ी भ्रान्ति का समाधान होता है। प्राय: लोक में पठित, अपठित, विद्वान्, प्रचारक, उपदेशक आदि अनेकों जनों के मुख से यह सुना जाता है कि मन बड़ा चंचल है। मन का स्वभाव ही चंचल है। रोकने पर भी नहीं रुकता है। इन सभी भ्रांतियों को दूर करने हेतु ही मन के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है। ऋषि के कथन से मन का स्वभाव चंचल न होकर शान्त सिद्ध होता है। क्योंकि वस्तु के निर्माण में जिसकी मात्रा अधिक होती है, उसी के स्वभाव से वस्तु का व्यवहार होता है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने व्याख्या में मन को शान्त स्वभाव वाला माना है।

कोई कहे कि यदि मन शान्त है, तो स्वयं रुका हुआ ही रहेगा। रोकने

की क्या आवश्यकता है। यहाँ इसका समाधान यह समझना चाहिए कि आत्मा अविद्या के कारण व पिछले जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के वशीभूत होकर अपने जड़ मन को अशान्त करती रहती है। इस रहस्य को जानने वाले महर्षि पतञ्जलि व महर्षि वेदव्यास ने हम सब के कल्याणार्थ अनेकों सिद्धान्त रखे हैं। जिनको समझ कर हम मन को रोक सकने में समर्थ होंगे।

मन में सत्त्वगुण की मात्रा अधिक होते हुए भी चंचल इसलिए होता है कि—

'रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति'

अर्थात् जीवात्मा सदा मन से जुड़े हुए होने के कारण मन में स्थित पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण व अविद्या रूपी मोह के कारण मन में रजोगुण को अधिक मात्रा में और तमोगुण को कम मात्रा में उभार कर ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए भाग-दौड़ करती रहती है। ऐश्वर्य को पाने की इतनी लालसा बढ़ा लेती है कि उठने से लेकर रात्रि में सोने तक मन को पैसे में, जमीन में, वस्त्रों में या अन्यान्य भौतिक साधनों में लगाती ही रहती है। और यह लालसा रुकती ही नहीं अपितु और-अधिक और-अधिक बढ़ती ही रहती है। इसलिए आज का मानव भौतिक ऐश्वर्यों में फंसकर ईश्वर की ओर से आँख मूँद लेता है। क्या साधु, क्या संत, क्या वैरागी, क्या योगाभ्यासी प्रायः करके सब इस चपेट में फंस ही जाते हैं।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि—

'तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति'

अर्थात् जब आत्मा गहरे मोह में डूब जाती है, चाहे वर्तमान की अविद्या के कारण या पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण, तब व्यक्ति घोर अधर्म करने लगता है। चाहे यह मोह माता-पिता, बहन-भाई के प्रति ही क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति में मूर्खता की सीमा ही नहीं रह जाती है। ऐसे व्यक्ति में राग इतना ओत-प्रोत होता है, जितना मरे हुए बच्चे को लेकर घूमने वाली बंदरी में होता है। यह ही अवैराग्य का लक्षण है। ऐसे व्यक्ति ऐश्वर्यों में डूबे रहते हुए भी ऐश्वर्यों का उपभोग नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति ऐश्वर्यों में रहते हुए भी अनैश्वर्यशाली बने रहते हैं। इसी कारण महर्षि वेदव्यास लिखते हैं **'धर्मात् सुखं, अधर्मात् दुःखम्'** (योग. व्यास भाष्य ४.११)

जब व्यक्ति दुःखों की ठोकर खा-खा कर होश में आता है तब क्या करता है। इस सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि—

'तदेव प्रक्षीणमोहावरणं **सर्वतः** प्रद्योतमानमनुविद्धं
रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं **भवति'**

अर्थात् जब व्यक्ति दुःखों से पीड़ित हो-हो कर दुःखों को दूर करने का साहस जुटाता है, तब मन में जमा हुआ मोह रूपी आवरण धुल जाता है। ऐसी स्थिति में मन सब ओर से प्रसन्न होता है। बस थोड़ी बहुत रजोगुण की मात्रा न के बराबर उभरी हुई रहती है। उस परिस्थिति में व्यक्ति धर्म में बढ़-चढ़ कर रुचि लेता है और धर्म में ही लगा रहता है। स्वयं को जानने लगता है, औरों को अपने ही जैसा जानता है। संसार की वास्तविकता को पहचान लेता है। संसार के सुखों में दुःख को देखने लगता है और धीरे-धीरे वैराग्य की ओर कदम बढ़ाने लगता है। स्वयं के पास जितने भी ऐश्वर्य रखता है, उन सबका भरपूर उपभोग-प्रयोग उचित रूप में करने लगता है।

आज के चमकीले (=हिरण्मय) संसार में प्रगति की पराकाष्ठा में अपने को अनुभव करने वाले विकसित जनों में उपरोक्त अनुभूतियाँ विरले ही पुरुष कर पाते हैं। ये वे लोग होते हैं जो दिन-रात ईश्वर, वेद, ऋषि, ऋषिकृत ग्रन्थ या तदनुसार चलने वाले महानुभावों के पद-चिह्नों पर सदा दृष्टि रखते हैं। अन्यथा विकसित दिखने वाले हिरण्मय संसार में सदा बार-बार गोते लगाने के कार्यों को करते हुए अपने को महान् धन्य मानने वाले लोगों की ही भरमार है।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि—

'तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं
धर्ममेघध्यानोपगं **भवति'**

अर्थात् जब मनुष्य लम्बे काल तक, निरन्तर, तपस्यापूर्वक, संयमपूर्वक, श्रद्धा व ज्ञानपूर्वक धर्माचरण करता ही रहता है, बुद्धिपूर्वक उचित-अनुचित को जानते हुए करता है, अपने जीवन में वैराग्य का अंकुर उद्‌बुद्ध होने का आभास करता है, वह धर्मपूर्वक ही ऐश्वर्यों का प्रयोग करता है, तो ऐसे मनुष्य के मन में जो थोड़ी-बहुत रजोगुण की मात्रा रहती थी वह भी सर्वथा हट जाती है। तब वह यह अनुभूति करता है कि मेरा मन अपने निज रूप

में है अर्थात् स्वाभाविक सत्त्वगुण से ओत-प्रोत है। अब मेरा मन चंचल हो ही नहीं सकता। मेरा मन शान्त है। इसी अनुभूति के साथ-साथ मन व स्वयं आत्मा के पृथकत्व की साक्षात अनुभूति भी कर लेता है। जैसे ही मन व स्वयं के पृथकत्व की अनुभूति हो जाती है, वैसे ही धर्ममेघ नामक उत्कृष्ट समाधि की ओर अग्रसर हो जाता है। यह स्थिति जीवात्मा की बहुत ही ऊँची उपलब्धि है। जिसे महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः'

अर्थात आत्मा व मन को अलग-अलग साक्षात अनुभव करने वाले योगी-जन यह मानते हैं कि जो यह धर्ममेघ नामक समाधि है, यह आत्मा को अपने स्वयं के संबन्ध में होने वाला सर्वोत्कृष्ट साक्षात्कार है। जीवात्मा को ऐसी क्या उपलब्धि होती है जो आत्मा के संबन्ध में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। इस संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया
शुद्धा चानन्ता च।'

अर्थात् आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात् बोध होता है। क्या है वह बोध, तो महर्षि कहते हैं आत्मा चितिशक्ति है अर्थात् चेतन है और मन जड़ है। कोई कहे कि इतना तो हमें भी पता है। इसका समाधान है कि हम शब्दों में जानते हैं। इसका प्रमाण है कि हम मन को रोक नहीं पाते। दूसरी उपलब्धि कही है कि आत्मा अपरिणामिनी है अर्थात् जैसे मन में परिवर्तन=बार-बार बदलाव होता रहता है। वह कभी तमोगुणी, कभी रजोगुणी, तो कभी सत्त्वगुणी होता है। जिससे मन विकारी व मलिन होता रहता है। ऐसी आत्मा नहीं है। वह तो सदा एक रस रहती है। उसमें किसी भी प्रकार का कोई मल या स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता है। तीसरी उपलब्धि यह होती है कि आत्मा अप्रतिसंक्रमा है। अर्थात् जिस प्रकार मन किसी दूसरी वस्तु के साथ घुलमिल जाता है उदाहरण के लिए चीनी दूध में घुलमिल जाती है। ऐसे ही मन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्द के साथ जुड़ कर वैसा ही बन जाता है। परन्तु आत्मा सर्वथा अलग रहती है घुल-मिल नहीं जाती है। क्योंकि घुलमिल जाने का स्वभाव तो जड़ वस्तुओं में ही होता है, चेतन में नहीं। चौथी उपलब्धि यह है कि आत्मा दर्शितविषय

वाली है अर्थात् आत्मा स्वत: स्वयं कुछ भी भाग-दौड़ नहीं करती। जैसे कोई अधिकारी अपने निकटस्थ सचिव से सभी कार्य कराता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा सभी कार्य मन से कराती है। **पाँचवीं** उपलब्धि यह है कि आत्मा **शुद्ध** है। अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि समस्त मल आत्मा में नहीं होते हैं। ये सारे मल मन में ही हैं, ऐसा आत्मा अनुभव करती है। **छठी** उपलब्धि यह है कि आत्मा **अनन्त** है। अर्थात् स्वयं जीवात्मा यह साक्षात् बोध करती है कि न मैं उत्पन्न होती हूँ न ही समाप्त होती हूँ। मैं सदा से थी और सदा ही रहूँगी। यह ही आत्मा की अनन्तता है। यहाँ पर स्थान की दृष्टि से नहीं कहा जा रहा है। केवल काल की दृष्टि से अनन्तता बताई जा रही है।

यह कोई छोटी-मोटी उपलब्धियाँ नहीं हैं। इन उत्कृष्ट उपलब्धियों को अनुभव करती हुई आत्मा यह भी बोध करती है कि—

'सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति'

अर्थात् आत्मा साक्षात् बोध करती है कि मेरा मन सत्वगुणमय शान्त है और मुझ आत्मा से पृथक् है। शान्त मन से मुझ को यह जो विवेक हो रहा है, यह विवेक भी मुझ आत्मा से अलग शान्त मन में ही विद्यमान रहता है।

आत्मा व मन के साक्षात्कार मात्र से कभी आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। अत: उस विवेक से भी ऊपर उठना ही पड़ता है। इस कारण महर्षि लिखते हैं कि—

'अतस्तस्यां **विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं** निरुणद्धि'

अर्थात् उस विवेक से भी विरक्त होकर=ऊपर उठकर परमेश्वर साक्षात्कार के लिए मन को सर्वथा रोक लेती है। अभिप्राय यह है कि मन का विषय आत्मा व संसार के सूक्ष्म विषय-महत्तत्त्व, अहंकार आदि नहीं रहते हैं। क्योंकि इनका साक्षात्कार हो चुका है। अब इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करना है। अब तो परमेश्वर ही शेष रहता है। अत: आत्मा ईश्वर में प्रवेश करती है अर्थात् ईश्वर के गुणों को अनुभव करती है। '**तदवस्थं** संस्कारोपगं **भवति**' अर्थात् जीवात्मा परमेश्वर के विभिन्न गुणों को अनुभव करते हुए आनन्दित होती है। और मन अपने निज रूप में शान्त होकर आन्तरिक परिवर्तनों में रहते हुए स्थिर रहता है। ऐसी स्थिति में—

'स निर्बीजः समाधिः न तत्र किंचित् संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः'

अर्थात् ईश्वर का ही साक्षात्कार होता है। जिसमें अविद्या रूपी बीज नहीं रहता है और आत्मा व संसार के विषय नहीं रहते हैं। आत्मा केवल परमेश्वर के ही आनन्द में मग्न रहती है। इसी स्थिति को निर्बीज-समाधि या असंप्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

❖❖❖❖❖

योग में आत्मा की स्थिति

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से आत्मा संसार में आने के अपने प्रयोजन को यथार्थ रूप से समझ लेती है कि यह संसार मेरे सुख-आनन्द के लिए बना है। यदि मैं इस संसार को सुख पाने का माध्यम न मान कर इसी में डूबी रहूंगी, तो यही संसार मेरे दुःख का कारण बनेगा। मैंने संसार के वास्तविक स्वरूप को जाना है, तो इसे साधन के रूप में ही प्रयोग करूंगी। इस विषय को आत्मा अपने आप को समझा कर पूर्ण विवेक से संसार को साधन के रूप में उपयोग कर अपने मन की चंचलता को सर्वथा बन्द करती है। विवेक-वैराग्य के कारण मूढ़ता को दबा लेती है। परमेश्वर के द्वार को खुला देख कर विक्षेपों के प्रति ध्यान ही नहीं देती है। अपनी सारी एकाग्रता को परमेश्वर में ही केन्द्रित करती है।

इसी अवस्था को लगातर बनाए रखती हुई रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द की ओर मन को न जाने देकर हर समय बांध कर रखती है। मन को हर बार बांध-बांध कर वृत्ति-रहित स्थिति बना लेती है और स्वयं को ईश्वर में केन्द्रित करती है। इस प्रकार मन को पूर्ण रूप से वृत्ति-रहित बना लेती है।

इसी सन्दर्भ में महर्षि वेदव्यास सूत्र की भूमिका में लिखते हैं—

'तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति।'

अर्थात् उस अवस्था (जिस अवस्था में आत्मा बार-बार मन को कुछ भी कार्य न करवा कर निरुद्ध-रोके रखती है) में मन में किसी प्रकार का

कोई विषय (रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द) न होने से, बुद्धि (यहाँ बुद्धि का अर्थ मन) को जानने वाला पुरुष किस स्वभाव वाला होता है ? क्योंकि आत्मा स्वयं कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। जो कुछ भी कार्य होता है वह मन से ही होता है और वह मन अब कुछ भी नहीं कर, रुका हुआ है। ऐसी अवस्था में आत्मा किस स्वभाव वाली होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर महर्षि पतञ्जलि ने '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्**' के रूप में दिया है। यहाँ पर '**तदा**' का अभिप्राय है '**तब**'। तब शब्द का प्रयोग भाषा में तभी होता है। जब 'जब' शब्द का प्रयोग होता है। 'जब जीवात्मा मन के समस्त व्यापारों-क्रियाकलापों-वृत्तियों को रोक लेती है तब' ऐसा अर्थ प्रकट होगा।

यहां पर यह विचार करना है कि जीवात्मा मन को सब वृत्तियों से रोक लेती है अर्थात् जिस रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द से सुख मिलता है उसी में मन को न लगा कर, रोक लेती है। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है, वह आत्मा समर्थ होकर भी संसार के उत्तम से उत्तम रूपवान् के प्रति आकर्षित नहीं होती है। उसमें संसार भर के उत्तमोत्तम व्यंजनों से रस लेने की तनिक भी प्रवृत्ति नहीं होती है। वह संसार की दिव्य गंधों से मुख मोड़ लेती है। स्पर्श के सुख में सभी बह जाते हैं, पर यह वह आत्मा है जो स्पर्श के सुख में दुःख ही देख कर उससे कोसों दूर रहती है। कौन ऐसी विरल आत्मा है, जो शब्दों से पिघल न जाये, पर यह तो शब्दों के समक्ष स्वयं को लोहा बनाकर शाब्दिक-सुख से दूर रहती है। जन्म-जन्मान्तरों एवं वर्तमान के पुरुषार्थ से अर्जित विवेक से इन सुखों में प्रवृत्त ही नहीं होती है। इतना ही नहीं जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार जो इन सुखों में प्रवृत्त कराने वाले हैं, उनको भी दबा के रखती है।

विचार (प्रश्न) आ सकता है कि वह आत्मा इन प्रत्यक्ष सुखों में तो प्रवृत्त नहीं होती होगी, परन्तु अप्रत्यक्ष जो सुने हुए सुख हैं उनमें तो लालसा रखती होगी ? बड़े-बड़े उद्योगपति, बड़े-बड़े राजे-महाराजे जिन सुखों को लेते हैं, उनके प्रति तो उसकी लालसा रहती होगी ? किन्तु यह आत्मा तो अपने विशुद्ध विवेक से टस से मस नहीं होती है। चाहे प्रत्यक्ष-सुख हों, चाहे अप्रत्यक्ष=सुने हुए सुख हों। किसी के प्रति किसी भी प्रकार की कोई

लालसा ही नहीं रखती है। कारण यह है कि आत्मा को यह बोध हो चुका है कि सांसारिक चाहे छोटे सुख हों या बड़े, मुझे वे सुख तृप्त नहीं कर सकते। इतनी बड़ी उपलब्धि को पाकर आत्मा जब अपने मन को सर्वथा संसार से रोक लेती है उस स्थिति के लिए सूत्रकार ने '**तदा**' शब्द का प्रयोग किया है।

सूत्र में '**द्रष्टुः**' शब्द का अभिप्राय है द्रष्टा की—देखने वाले की। यहां पर देखने वाली जीवात्मा भी हो सकती है और परमात्मा भी हो सकता है। यदि हम महर्षि वेदव्यास की व्याख्या के अनुसार मानें तो **द्रष्टा**-जीवात्मा है और यदि महर्षि दयानन्द सरस्वती की व्याख्या के अनुसार मानें तो **द्रष्टा**-परमात्मा है। कोई कहे कि ये दो विरुद्ध अर्थ कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान है कि वाक्यार्थ को समझने की विधि उन दोनों ऋषियों को अच्छी तरह पता थी। अत: महर्षि वेदव्यास ने सिक्के के एक पहलू को उद्घाटित किया है और महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सिक्के के दूसरे पहलू को उद्घाटित किया है। इस कारण द्रष्टा के आत्मा व परमात्मा दोनों अर्थ हैं।

सूत्र में '**स्वरूपे**' का अभिप्राय है—अपने निज स्वरूप-यथार्थ स्वरूप में अर्थात् आत्मा जैसी है वैसी ही। इसी स्थिति को '**स्वरूपे**' शब्द स्पष्ट करता है। सूत्र में '**अवस्थानम्**' का अभिप्राय है—रहना, अनुभव करना या बोध करना।

'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्**' का अर्थ महर्षि वेदव्यास के अपने शब्दों में इस प्रकार है—

'**स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।**'

अर्थात् जब जीवात्मा अपने मन की सभी वृत्तियों को रोक लेती है, तब अपने निज रूप में विद्यमान रहती है- अपने यथार्थ स्वरूप का बोध करती है, जैसे मोक्ष में करती है अर्थात् जीवात्मा स्वयं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाली है परन्तु सत्व, रज व तम से बने हुए संसार में रहते हुए महत्तत्त्व, अहंकार, मन, इन्द्रियों, तन्मात्राओं एवं स्थूल-शरीर के संपर्क में रह-रह कर अपने निज स्वरूप को भूल कर अविद्या से ओत-प्रोत हो कर दु:ख सागर में डूबी हुई रहती है। जब होश में आती है अर्थात् विवेक रूपी विद्या को पा लेती है तो अपने को संसार, संसार के पदार्थों से पृथक् कर

लेती है। इस पृथक् करने को ही समस्त वृत्तियों को रोक लेना बताया गया है। जब वृत्तियों को सर्वथा रोक लेती है, तो स्वयं के निज रूप में विद्यमान रहती है। अपने स्वरूप का बोध करती है कि मैं सदा से थी व सदा रहूंगी मैं नित्य हूँ। मुझ में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि मलिनताएँ नहीं हैं- मैं शुद्ध हूँ। मैं केवल हूँ=अकेली हूँ, सत्त्व, रज, तम से पृथक् हूँ मुक्त हूँ। जैसे मुक्ति-मोक्ष में आत्मा अपने को अनुभव करती है, उसी प्रकार शरीर में रहती हुई भी अपने को शरीर से अलग-निर्लिप्त मानती है। इसी स्थिति को बताने के लिए महर्षि वेदव्यास ने **द्रष्टुः** का अर्थ जीवात्मा किया है। यह सिक्के का एक पहलू है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्' का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दों में इस प्रकार है—

'यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासना विषय)

अर्थात् जब संसार के समस्त व्यवहारों से मन रुक जाता है, तब उपासना करने वाले उपासक का मन द्रष्टा=परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

यहाँ पर यह समझना चाहिए कि जब जीवात्मा प्रकृति के संपर्क को सर्बथा रोक लेती है, तो अपने स्वरूप का बोध तो कर ही लेती है। किन्तु इतना ही आत्मा का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि जो संसार से सुख ले रही थी उसे तो रोक लिया। अब वह सुख रहित निठल्ली नहीं रहेगी। उसका स्वभाव ही सुख के लिये प्रयत्न-पुरुषार्थ करना है। अतः स्वयं को जानती हुई अपने को परमेश्वर में लीन कर परमेश्वर का आनन्द लेती ही रहेगी। इसी भाव को दर्शाने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **'द्रष्टुः'** का अर्थ 'परमात्मा' किया है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थाम्' का संक्षेप में यह अर्थ हुआ कि जब जीवात्मा मन की समस्त वृत्तियों को रोक लेती है तब अपने निज स्वभाव का बोध करती हुई परम-पिता परमेश्वर में लीन हो कर आनन्द के भण्डार में गोते लगाती हुई आनन्दित रहती है।

❖❖❖❖

अयोग में आत्मा की स्थिति

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

योग की भाषा में संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक प्रकार के वे होते हैं, जिनका लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार करके परमात्म-साक्षात्कार करना होता है। जिनका जीवन प्रात:काल उठने से लेकर रात्रि में शयन करने तक एवं जब तक लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जाता तब तक आत्मा व परमात्मा को सुनने में, मनन करने में, निर्णय करने में, जानने-देखने में ही जाता है। और वे इसी कार्य को करने में अपने को धन्य मानते हैं, अपने जीवन की सफलता उसी में स्वीकारते हैं। इसी बात को महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में कहा जाये, तो

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्'

(बृ०उप० २.४.५)

वे ऐसे व्यक्तित्व के धनी होते हैं जैसे कीचड़ में रहते हुए भी कमल के पत्ते निर्लिप्त रहते हैं। वे चारों तरफ से भोग प्रधान संसार में रहते हुए भी निर्लिप्त होकर योग में तृप्त रहते हैं। इसी बात को महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दों में कहा जाये तो

'इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारण-मनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति।'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासना विषय)

अर्थात् जब योगी संसार में व्यवहार करते हैं, तो उनके प्रति कोई छल-कपट करता है, कोई धोखा देता है, कोई अभद्र बोलता है, कोई झूठ बोलता है, कोई दुःख देता है, कोई उनकी कोई भी वस्तु छीनता है, तब योगी-जन शान्त रहते हुए, धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए, विद्या से ओत-प्रोत होकर विज्ञान का प्रकाश करते हुए, यथार्थ सत्याचरण में तत्पर होकर उचित ही करते हैं। कोई भी ऐसा कर्म नहीं करते, जिससे आत्मानन्द को पाने की तीव्रता में कोई बाधा उपस्थित हो सके।

दूसरे प्रकार के वे होते हैं, जिनका लक्ष्य भोग होता है। यहाँ पर भोग का अभिप्राय है भौतिक वस्तुएँ, जिनको पाकर लोग उसी में अपने को सफल मानते हैं। कोई धन-कुबेर बनने की कतार में खड़ा है, तो कोई अपने समुदाय को बढ़ाने में लगा हुआ है और कोई उच्च से उच्चतम पद-प्रतिष्ठा को पाने में लगा हुआ है। ये वे लोग होते हैं, जो किसी न किसी रूप में वित्तैषणा को, पुत्रैषणा को एवं लोकैषणा को संपुष्ट करने में लगे रहते हैं। ये वे ही लोग होते हैं, जो बार-बार दुःख सागर में डुबकी लगाने में ही अपने को धन्य मानते हैं, उसी में अपने जीवन की सफलता स्वीकारते हैं।

सब की आत्माएं एक जैसी हैं। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव वाली है, जैसा कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के व्याख्यान में बताया गया है। जब आत्माएँ एक जैसी हैं, तो ये दो प्रकार के लोग कैसे हो रहे हैं? विद्या व अविद्या के कारण दो प्रकार के लोग बन रहे हैं। जो योगी-जन समाधिस्थ होकर अपने निज स्वरूप को पहचानते हैं, वे तो अपने निज स्वरूप में विद्यमान रहते हैं और जो अपने निज स्वरूप को नहीं पहचानते हैं, क्या वे अपने निजरूप में नहीं रहते?

इस सन्दर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा,
कथं तर्हि? दर्शितविषयत्वात्'

अर्थात् व्युत्थान-चित्त वाले (=सांसारिक अवस्था वाले) की आत्मा अपने निज स्वरूप में रहती हुई भी अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानती है। इसके पीछे बहुत बड़ा कारण है उसकी अविद्या। इसी अविद्या से प्रेरित होकर उसका मन आत्मा को उलटा ही दिखाता रहता है। यहाँ पर व्युत्थान-चित्त का अभिप्राय है ऐसा मन जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि में नहीं लगता है। ऐसा मन जो वित्तैषणा, पुत्रैषणा व लोकैषणा में ही लगा रहता है। यह ही जन्म सब कुछ है, जो सांसारिक सुख प्राप्त करना हो सब कुछ इसी जन्म में कर लो, ऐसे विचार करने वाले मन को व्युत्थान-चित्त कहते हैं। यदि मैं यमाचार्य के शब्दों में कहने लगूँ तो—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठो० २.६)

इस प्रकार के व्युत्थान-चित्त वाले की क्या अवस्था होती है। इसका समाधान महर्षि पतञ्जलि ने स्वयं सूत्र के रूप में कहा है—

'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

अर्थात् १. वृत्तिसारूप्यम् २. इतरत्र। हम पहले इतरत्र को समझने का प्रयास करते हैं। दो विभागों में से एक विभाग को इतरत्र शब्द से कहते हैं। एक विभाग समाधि लगाने वालों का है। जो समाधि न लगाने वाले हैं उनको यहां इतरत्र शब्द से कहा गया है। जो समाधि न लगाने वाले हैं, वे 'वृत्तिसारूप्यम्' होते हैं। जैसा कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र में स्पष्ट किया गया था कि वृत्ति अर्थात् व्यापार-क्रिया और सारूप्यम् का अभिप्राय है समानता या समान। 'वृत्तिसारूप्यम्' का अर्थ हुआ क्रिया या व्यापार के समान।

यहाँ पर 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' का तात्पर्य है—जो समाधि न लगाने वाले होते हैं, वे मन के व्यापार-क्रिया के समान होते हैं। बात स्पष्ट नहीं हो रही है कि मन के व्यापार के समान कैसे होते हैं? यहाँ पर समाधि न लगाने वालों का व्यवहार बताया जा रहा है। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः।'

अर्थात् व्युत्थान-काल में मन की जैसी-जैसी वृत्तियाँ बनती हैं, आत्मा अपने को उन्हीं वृत्तियों के समान समझती है। इस बात को इस प्रकार समझना चाहिए कि आत्मा अविद्या से युक्त होकर अपने मन को प्रेरित करती है और मन नेत्रेन्द्रिय को प्रेरित करता है। वह नेत्रेन्द्रिय रूप से युक्त होती है। फिर रूप इन्द्रिय के माध्यम से मन तक आता है। मन रूप से युक्त हो जाता है। रूप से युक्त होना मन की क्रिया है। यह ही मन की वृत्ति है। अब आत्मा क्या समझती है कि मैं रूप से युक्त हूँ अर्थात् मुझ में रूप आया।

यहाँ पर यह देखना है कि मन में तो रूप आ सकता है या मन रूप से युक्त हो सकता है, पर आत्मा में नहीं आ सकता या आत्मा रूप से युक्त

नहीं हो सकती है; क्योंकि आत्मा केवल द्रष्टा है। वह दूर रहती हुई ही, निर्लिप्त रहती हुई ही मन से कार्य कराती रहती है, स्वत: स्वयं कुछ नहीं करती। रूप, रस, गंध, स्पर्श व शब्द मन तक ही सीमित रहते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा इन्हें अपने में आरोपित कर लेती है। मन में होने वाले व्यापार को अपने में होने वाला व्यापार समझना, आत्मा की बहुत बड़ी भूल है। इसी को वृत्तियों के समान अपने को समझना, कहा गया है। इसे 'वृत्तिसारूप्यम्' कहा गया है। आगे महर्षि लिखते हैं—

'एकमेवदर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'

अर्थात् जीवात्मा मन के व्यापार को और स्वयं को अलग न समझ कर सारा व्यापार मुझ आत्मा में ही हो रहा है, ऐसा समझती है। इसी कारण जब धन बढ़ जाता है तब मैं बढ़ रही हूँ, ऐसा समझती है। धन के डूबने पर मैं डूब रही हूँ, ऐसा समझती है। शरीर के बढ़ने से अपने को बढ़ा हुआ समझना, शरीर की सुन्दरता को अपनी सुन्दरता मानना। इस प्रकार के ढेरों उदाहरण हो सकते हैं।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि इस प्रकार की भ्रान्ति इसलिए भी होती है—

'चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि
दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः।'

अर्थात् मन मानो चुम्बक के समान है और वह आत्मा के अति निकट रहते हुए आत्मा के प्रयोजन को पूरा करता है। क्योंकि मन आत्मप्रयोजन को पूरा करने का अत्युत्तम साधन है, इसीलिए पुरुष=जीवात्मा का वह मन साधन रूपी धन है। मानो कि आत्मा स्वामी है और मन धन है। महर्षि लिखते हैं—

'तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः सम्बन्धो हेतुः।'

अर्थात् आत्मा के निकट रहते हुए मन जन्म-जन्मान्तरों से आत्मा को ज्ञान कराता रहता है। यही कारण है कि आत्मा अविद्या से ओत-प्रोत होकर स्वयं को और मन के व्यापार को अलग-अलग नहीं समझ पा रही है। यह अविद्या का ही प्रताप है। इस कारण सांसारिक-जन प्रभु दर्शन नहीं कर पाते हैं।

संक्षेप से 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' का अर्थ यह हुआ है कि समाधि न लगाने वाले सांसारिक-जन अपने निज स्वरूप में रहते हुए भी अविद्या के कारण स्वयं को और मन को अलग-अलग न समझ कर, मन के व्यापार को अपने में आरोपित करके, वृत्तियों के समान होकर सांसारिक सुख-दुःख से ऊपर उठ नहीं पाते हैं।

❖❖❖❖

चित्तवृत्तियाँ—संख्या व प्रकार

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने वृत्तियों को सर्वथा रोकने की बात कही थी। मन की वृत्तियाँ अनगिनत हैं। इन वृत्तियों को कैसे रोका जाये ? कठोपनिषत्कार यमाचार्य कहते हैं—

'आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'

अर्थात् कोई धीर पुरुष अमरत्व को पाने के लिए अपनी समस्त इन्द्रियों को संसार की ओर से हटाकर, आंखें मूंद कर एक टक अपने मन को देखता ही जाये, तो उसे ज्ञात होगा कि मन में कितनी उथल-पुथल हो रही है। मन इधर से उधर, उधर से इधर भागता हुआ दिखाई देगा। न जाने संसार में कितनी वस्तुएँ हैं, कितने स्थान हैं। उस धीर पुरुष को यह प्रतीति होगी कि मुझ द्वारा न गिनने योग्य, असंख्य प्रतीत होने वाली ये वृत्तियाँ क्या मुझे पकड़ में आएँगी ? क्या मैं इन्हें रोक पाऊँगा ?

धीर पुरुष कभी हताश-निराश न हो, उसे सहारा देने के लिए महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

'ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य'

अर्थात् हे धीर पुरुष! चाहे वे वृत्तियाँ तुझे असंख्य दिख रही हों, पर तूने मन को देखना प्रारम्भ किया है, अतः तू उन्हें रोक सकता है, अवश्य रोकेगा, तुझे उन्हें रोकना ही चाहिए। धीर मनुष्य यह ठान लेता है कि मुझे मन को देखते हुए ही चलना है, मुझे मन की एक-एक वृत्ति को पकड़ना है, मुझे यह पकड़ना है कि मेरी कैसी वृत्ति बन रही है। कौन ऐसा व्यक्ति

हुआ है, जो पुरुषार्थ से सफलता को प्राप्त न हुआ हो। मुझे तो मन को पकड़ने का कार्य करते ही चलना है।

चरन् वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥

(ऐतरेय ब्राह्मण)

अर्थात् चलता हुआ ही मनुष्य मधु=अमरत्व को पाता है, चलता हुआ ही निष्काम-कर्मों का स्वादिष्ट फल चखता है, मन को देखने वाले हे योगाभ्यासी! तू तनिक उस सूर्य के परिश्रम को तो देख जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए तू मन को देखते ही चल, देखते ही चल।

मन को देख-देखकर धीर पुरुष को क्या स्पष्ट प्रतीति होती है, इसे महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र रूप में स्पष्ट किया—

'वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः'

अर्थात् (वृत्तयः) वृत्तियाँ (पंचतय्यः) पांच प्रकार की होती हैं। पांच प्रकार की कैसी? (क्लिष्टाक्लिष्टाः) पांच प्रकार की क्लिष्ट-वृत्तियाँ और पाँच प्रकार की अक्लिष्ट-वृत्तियाँ। क्लिष्ट-वृत्ति का अभिप्राय है—आत्मा को दुःख देने वाली वृत्ति। अक्लिष्ट-वृत्ति का अभिप्राय है—आत्मा को सुख देने वाली वृत्ति। ये वृत्तियाँ आत्मा को दुःख या सुख कैसे देती हैं? इसका समाधान महर्षि वेदव्यास करते हैं—

'क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः'

अर्थात् मनुष्य अविद्या से प्रेरित होकर मन को ऐसे कर्मों में लगाये रखता है जिनके कारण आत्मा को दुःख मिलता है। अविद्या रूपी क्लेश के कारण उत्पन्न होने वाली मन की वृत्ति दुःखदायी बनती है। जब कभी मन के द्वारा कोई भी कर्म हो जाता है, तब उस कर्म की मन पर गहरी छाप पड़ती है। उस छाप को 'संस्कार' शब्द से कहा जाता है। यदि कर्म ही न हों, तो संस्कार भी नहीं बनेंगे। इन संस्कारों से भी दुःख मिलता है। उदाहरण के लिए जब कभी व्यक्ति जिस रूप को नहीं देखना चाहिए उसे देखता है, तो कर्म बन गया, कर्म के साथ संस्कार बन जाता है। वह संस्कार पुनः उस कर्म को करने के लिए प्रेरित करता है। जब वह कर्म नहीं होता तब वह

संस्कार व्यक्ति को दुःख देता रहता है। चूंकि वृत्ति रूपी कर्म संस्कार को बनाने में कारण बनता है, इसलिए उसे भी क्लिष्ट माना है, वह भी दुःखदायी है।

सुखदायी वृत्तियों के सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास समाधान करते हैं—

'ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽ**क्लिष्टाः**'

अर्थात् ऐसी वृत्ति जो आत्मा को यह बोध करावे कि मैं अलग हूँ और मन अलग है। ऐसी वृत्ति जो आत्मा को यह ज्ञान करावे कि मैं तो साधक हूँ, यह संपूर्ण संसार साधन है और मेरा साध्य=प्राप्त करने योग्य ईश्वर है। ऐसी वृत्ति जो आत्मा को यह अनुभूति करावे कि प्रत्येक सांसारिक सुख में दुःख मिला हुआ है क्योंकि प्रत्येक वस्तु सत्व, रज व तम से बनी हुई है और रज का काम दुःख देना है। इस प्रकार की वृत्तियाँ ख्याति को उत्पन्न करती हैं। यहां पर ख्याति का अभिप्राय **विवेक** है अर्थात् विवेक रूपी ख्याति को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ सुखदायी होती हैं।

संपूर्ण संसार अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ एवं शरीर इन सब से आत्मा दो प्रकार के कर्म करता है। एक वे कर्म जो बार-बार आत्मा को जन्म दिलाते हैं, दूसरे वे कर्म जो आत्मा को मुक्ति दिलाते हैं। संसार को ही सब कुछ (साध्य) मानने वाली आत्मा को ये कर्म बार-बार जन्म दिलाते हैं और संसार को साधन मानने वाली आत्मा को मुक्ति दिलाते हैं। इस प्रकार सत्व, रज, तम गुणों का अधिकार (=कर्म) दो प्रकार का हुआ। इनमें से जो बार-बार जन्म दिलाने वाले गुणों का अधिकार है, उन्हें रोकने वाली वृत्तियों को उत्पन्न करना ही 'गुणाधिकार **विरोधी**' वृत्तियाँ हैं। ऐसी वृत्तियाँ सुखदायी होती हैं। इस प्रकार दुःखदायी और सुखदायी के रूप में पांचों प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं अर्थात् दुःखदायी वृत्तियाँ पांच प्रकार की और सुखदायी वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती हैं।

महर्षि वेदव्यास यह भी कहते हैं—

'क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा **भवन्ति।**
अक्लिष्टच्छिद्रेषु **क्लिष्टा इति।**'

अर्थात् कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दुःख देने वाली वृत्तियाँ चल रही हों, तो उनके बीच में सुख देने वाली वृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है और

सुख देने वाली वृत्तियाँ चल रही हों, तो उनके बीच में दु:ख देने वाली वृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इसका आशय इस प्रकार समझना चाहिए कि जब मनुष्य के ज्ञान का स्तर घट या बढ़ जाता है, तब मनुष्य क्लिष्ट या अक्लिष्ट विचार उत्पन्न कर लेता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति प्रतिदिन हिंसा करता हो, वही कभी अचानक दया भी कर लेता है। कोई ईर्ष्या करते-करते प्रेम भी कर लेता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा भी होता है कि कभी चोरी न करने वाले बीच में चोरी करने लगते हैं। इस प्रकार तो प्राय: संसार में देखा ही जाता है। परन्तु महर्षि वेदव्यास कुछ विशेष कह रहे हैं और वह इस प्रकार है कि जीवन भर डाकू का काम करता हुआ अचानक सच्चा साधु बन जाता है। और जीवन भर भक्ति करता हुआ अचानक नास्तिक बन जाता है। इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में और वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं।

महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

'तथा जातीयका: संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते।'

अर्थात् मनुष्य जैसी-जैसी वृत्तियाँ बनाता रहता है। वैसे-वैसे संस्कार बनते जाते हैं और उन संस्कारों से फिर वृत्तियाँ बनती हैं। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कार व संस्कारों से वृत्तियाँ बनने की एक लम्बी शृंखला चल पड़ती है और वह वृत्ति-संस्कार रूपी चक्र दिन-रात चलता रहता है।

वृत्तियों को निरन्तर देख-देख कर योगाभ्यासी वृत्तिनिरोध की स्थिति में पहुंच जाता है, तो उसके लिए महर्षि कहते हैं—

'तदेवं भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति।'

अर्थात् जब योगाभ्यासी बार-बार मन को रोक-रोक कर वृत्ति-रहित बना लेता है। तब उसका मन कार्यविहीन हो कर, प्रयोजन को पूरा कराने वाला बन कर, अपने अधिकार को सम्पन्न कर लेने वाला हो कर रहता है। जिस प्रकार आत्मा शान्त होकर, द्रष्टा बन कर केवल साक्षी भाव से रहती है उसी प्रकार मन अपने निज रूप (सत्वगुण प्रधान वाला होकर) में शान्त होकर वृत्ति-रहित बना रहता है, और जब आत्मा प्रभु-दर्शन कर अविद्या

को नष्ट कर परमानन्द को भोगने हेतु मुक्ति में जाती है, तो वह मन अपने कारण रूप सत्व, रज व तम में विलीन हो जाता है।

संक्षेप में '**वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः**' इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि दुःख देने वाली एवं सुख देने वाली वृत्तियाँ पांच-पांच प्रकार की होती हैं।

❖❖❖❖❖

चित्तवृत्तियों के नाम

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः इस सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया था कि आत्मा को सुख देने वाली व दुःख देने वाली पाँच-पाँच वृत्तियाँ होती हैं। इसी विषय में महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः।

वे कौनसी वृत्तियाँ हैं जो आत्मा को सुख या दुःख देती हैं? इस संदर्भ में महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र के रूप में सुख-दुःख देने वाली वृत्तियों का प्रकार इस प्रकार बताया है—

'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'

अर्थात् १. प्रमाण वृत्ति, २. विपयर्य वृत्ति, ३. विकल्प-वृत्ति, ४. निद्रा वृत्ति और ५. स्मृति वृत्ति, ये पांच प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। पांच प्रकार की वृत्तियों में पहली वृत्ति है—'प्रमाण वृत्ति'। यहाँ पर '**प्रमाण**' को अच्छी प्रकार से समझना चाहिए कि प्रमाण किसे कहते हैं? न्यायदर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने प्रमाण की परिभाषा इस प्रकार की है—

'स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्'

अर्थात् आत्मा जिस माध्यम से सुखदायी या दुःखदायी वस्तु को जानती है उस माध्यम को 'प्रमाण' कहते हैं। उदाहरण के लिए आत्मा आँख के माध्यम से रूप को जानती है। यहाँ पर आँख माध्यम होने से प्रमाण कहलाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि बिना प्रमाण के आत्मा को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। हमें यह जानना चाहिए कि प्रमाण से ही वस्तु का निश्चय हो

पाता है कि यह वस्तु सुखदायी है अथवा दुःखदायी है। जब आत्मा को यह बोध होता है कि यह सुखदायी या दुःखदायी है तब उसके प्रति प्रयत्न प्रारम्भ करती है और वह प्रयत्न प्रमाणपूर्वक ही होता है। अतः मनुष्य जीवन में प्रमाण की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि मनुष्य के जीवन में से प्रमाण को हटा दिया जाये तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रह पायेगा।

यदि वास्तव में प्रमाण इतना उपयोगी है, तो महर्षि पतञ्जलि ने ऐसे प्रमाण को रोकने की बात क्यों कही? इसका समाधान यह है कि सांसारिक कार्यों को करते समय प्रमाण का उपयोग सुखदायी है परन्तु ईश्वरोपासना के काल में प्रमाण का प्रयोग करना दुःखदायी है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति उपासना के काल में आंखें खोलकर किसी रूप को देखने लग जाये, तो उपासना नहीं हो पायेगी। अतः महर्षि पतञ्जलि ने प्रमाण-वृत्ति को रोकने की बात कही है। प्रमाण भी एक प्रकार का नहीं होता है। फिर कितने प्रकार का होता है? इसका समाधान स्वयं महर्षि ने अगले सूत्र के रूप में दिया है।

❖❖❖❖

चित्त की प्रमाण-वृत्ति

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—१. प्रत्यक्ष-प्रमाण, २. अनुमान-प्रमाण, ३. आगम-प्रमाण। यहां पर आगम का अभिप्राय है **'शब्द'**। इस प्रकार तीसरा प्रमाण 'शब्द-प्रमाण' है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण—प्रत्यक्ष-प्रमाण की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।'

अर्थात् जब आत्मा अपने मन को घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वचा व श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से बाहर के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द के साथ जोड़ देती है, तब वस्तु के साधारण व विशेष गुण स्पष्ट होते हैं। उनमें विशेष गुणों के

निश्चय करने वाली मन की वृत्ति को प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं। यहां पर विशेष गुणों को निश्चय करने का अभिप्राय यह है कि संसार में बहुत सारी वस्तुएँ हैं और उनमें एक दूसरे से मिलती जुलती भी हैं। उदाहरण के लिए किसी ठूंठ को देखें और मनुष्य को भी देखें। दोनों में समान गुण भी हैं, यथा—वस्तु की विद्यमानता, लम्बाई-चौड़ाई आदि और विशेष गुण भी हैं, यथा—मनुष्य के हाथ, पांव, वाणी आदि। प्रत्येक वस्तु में अपनी विशेषता रहती है। उसी विशेषता की प्रधानता वाली वृत्ति को ही प्रत्यक्ष-वृत्ति या प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं।

अनेक बार साक्षात् आंखों से देखा हुआ भी सत्य नहीं होता। आज के विज्ञान की दृष्टि से देखा जाये, तो वे कहते हैं कि '**देखा हुआ सत्य हो यह आवश्यक नहीं है।**' फिर क्या उपर्युक्त परिभाषा अनुचित है? नहीं, वास्तव में प्रमाण कभी भी अनुचित-असत्य नहीं होता। प्रमाण का प्रयोग करने वाली आत्मा प्रमाण का अनुचित रूप में प्रयोग करती है, तो अनुचित ही दिखता है। अतः उचित रूप से प्रयोग करना, आत्मा का कर्त्तव्य है। तभी उचित ज्ञान होता है। अन्यथा अनुचित ज्ञान ही होगा। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में '**विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः**' कहा है। यहां पर विशेष अवधारण को समझने के लिए महर्षि गौतम के प्रत्यक्ष के लक्षण-सूत्र को समझने की आवश्यकता है। इससे प्रमाण का प्रयोग करने वाली आत्मा की भूल समझ में आयेगी।

'**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यसायात्मकं प्रत्यक्षम्।**'

(न्याय० १.१.४)

इस सूत्र का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती इस प्रकार करते हैं कि "जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है इसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह (वह ज्ञान) न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि '**तू जल ले आ**' वह लाके उसके पास धर के बोला कि '**यह जल है**' परन्तु वहां '**जल**' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख

सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द-प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष-ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भ-ज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि 'वहां वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त' जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।'' (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

ऋषियों के सिद्धान्तों से यह सिद्ध होता है कि प्रमाण सर्वदा सत्य होता है। प्रमाण का प्रयोग करने वाली आत्मा के उचित रूप में प्रयोग न करने के कारण ही लोक में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलती हैं।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के सम्बन्ध में यह भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष-प्रमाण का क्षेत्र बहुत सीमित है। क्योंकि असंख्य आत्माएँ, अनगिनत योनियाँ एवं असंख्य वस्तुएँ और सैंकड़ों देश, कितने महानगर, नगर, जनपद, उपजनपद, ग्राम इन सब का प्रत्यक्ष होना असम्भव है। अतः जितना भी प्रत्यक्ष हो जाये, उसे मुक्ति का साधन बनाया जाये।

अनुमान-प्रमाण—अनुमान-प्रमाण की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्।'

अर्थात् जिस वस्तु का अनुमान करना है, उस वस्तु जैसी वस्तुओं में अनुवर्तन करने वाली और उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं में अनुवर्तन न करने वाली, जो अनुमान करने योग्य वस्तु के सामान्य धर्म का निश्चय कराने वाली वृत्ति है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।

यहां पर यह समझना चाहिए कि जैसे एक मनुष्य को अजमेर में देखा उसी को दिल्ली में देखा और उसी को पुनः अजमेर में देखा। व्यक्ति का भिन्न स्थान पर पहुँचना बिना गति के नहीं हो सकता। भिन्न स्थान पर देखने से गति का अनुमान हो रहा है। इसी प्रकार किसी अन्य मनुष्य को

भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर देखा जाये, तो उसमें भी गति का अनुमान किया जायेगा। कोई भी मनुष्य हो, ये सब तुल्य जाति वाले हैं और जो भिन्न जाति वाले हैं उनमें यह गति न हो वह वस्तु जैसे पर्वत है। यहाँ पर मनुष्य प्रत्यक्ष है और मनुष्य की गति अप्रत्यक्ष है। अर्थात् मनुष्य को तो देखा पर मनुष्य को चलते हुए नहीं देखा। न दिखने वाली गति का अनुमान किया जा रहा है। संक्षेप से अनुमान का यह अर्थ समझना है कि प्रत्यक्ष के माध्यम से अप्रत्यक्ष को जानना ही अनुमान-प्रमाण है।

उदाहरण के लिए धुएँ को देख कर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यह सभी जानते हैं, क्योंकि धुआँ प्रत्यक्ष है और अग्नि अप्रत्यक्ष है। अनुमान शब्द का अर्थ करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि ''अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात्

'प्रत्यक्षस्य पश्चात् **मीयते ज्ञायते येन** तदनुमानम्'

जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो, जैसे धुएँ को प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।''

अनुमान-प्रमाण के प्रकारों की चर्चा करते हुए महर्षि गौतम ने कहा है—

'**अथ** तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं **च**'

(न्याय० १.१.५)

अर्थात् अनुमान-प्रमाण तीन प्रकार का होता है और वह भी प्रत्यक्ष पूर्वक होता है अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाण के अनुसार होता है। उसे अनुमान नहीं कहते जो प्रत्यक्ष के बिना होता है। अनुमान के तीन प्रकार इस प्रकार हैं— १. पूर्ववत्, २. शेषवत्, ३. सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—पूर्ववत् में कारण के प्रत्यक्ष से कार्य का ज्ञान होता है। जैसे ईंट, पत्थर, सरिये, मिस्त्री, मजदूर आदि कारण को देखकर मकान रूपी कार्य का ज्ञान होता है।

शेषवत्—शेषवत् का अभिप्राय है—कार्य के प्रत्यक्ष से कारण का ज्ञान करना। जैसे मकान रूपी कार्य को देखकर मकान के कारण-ईंट, पत्थर, सरिये आदि का ज्ञान होना।

सामान्यतोदृष्ट—सामान्यतोदृष्ट वह है जिसे पहले कहीं देखा हो उसे बाद में अन्यत्र देखे, तो उसमें गति का अनुमान होता है।

अनुमान-प्रमाण का क्षेत्र प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा से बहुत अधिक है। बहुत सारी जानकारी अनुमान के माध्यम से होती रहती है। समझने के लिए कुछ उदाहरण जिससे अनुमान की व्यापकता का बोध हो जाये—

१. पाचन ठीक हो रहा है, तो जठराग्नि का अनुमान होता है।
२. व्यायाम करने के सामर्थ्य से बल का अनुमान होता है।
३. शब्द का अच्छा सुनना, अच्छा देखना, अच्छा सूंघना आदि से इन्द्रियों के सामर्थ्य का अनुमान होता है।
४. व्यवसाय से विज्ञान का अनुमान होता है।
५. आसक्ति से रजोगुण का अनुमान होता है।
६. अज्ञानता से मोह का अनुमान होता है।
७. द्रोह करने से क्रोध का अनुमान होता है।
८. दीनता से शोक का अनुमान होता है।
९. आमोद-प्रमोद से हर्ष का अनुमान होता है।
१०. सन्तोष से प्रीति का अनुमान होता है।
११. विषाद से भय का अनुमान होता है।
१२. उत्साह से वीर्य का अनुमान होता है।
१३. भ्रम न होने से मन की स्थिरता का अनुमान होता है।
१४. स्मरण से स्मृति का अनुमान होता है।
१५. लगातार अभ्यास से स्वभाव का अनुमान होता है।
१६. लालच न करने से धृति का अनुमान होता है।
१७. आज्ञा मानने से वश्यता का अनुमान होता है।
१८. संकेत पाकर समझने से बुद्धि का अनुमान होता है।
१९. सदा स्थिर रहने से एकाग्रता का अनुमान होता है।
२०. उत्तम कर्मों से न्याय, सत्य आदि यम-नियमों का अनुमान होता है।

आगम अथवा शब्द-प्रमाण—शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः।'

अर्थात् जो आप्त पुरुष के द्वारा साक्षात् देखा गया अथवा अनुमान किया गया हो, उसे, न देखे न अनुमान किये गये व्यक्ति को बताने के लिए जिन शब्दों से बताया जाता है, उन शब्दों को सुनकर सुनने वाले व्यक्ति के मन में जो वृत्ति बनती है उसे शब्द-प्रमाण कहते हैं। अर्थात् शब्दों को सुनकर, न देखी न अनुमान से जानी गयी वस्तु का जो ज्ञान होता है वह शब्दों को सुनकर होने से वह शब्द-प्रमाण कहलाता है।

महर्षि वेदव्यास ने आप्त पुरुष का कथन किया है। यहां आप्त पुरुष को समझने के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती के कथन को समझना चाहिए कि "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार-प्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो अर्थात् जितने पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमाण जानो।" (सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

स्वामी जी का यह कथन सभी विषयों को बताने वाले वेद या उन आप्तों का है जिन्हें आप्त लक्षणों में कहा गया है। विषय विशेष में कोई भी व्यक्ति आप्त हो सकता है। इसी कारण न्यायदर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने कहा है—

'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति।'

अर्थात् ऋषि, आर्य और अनार्य सभी आप्त हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में ही सभी का व्यवहार उत्तम रीति से चल पाता है।

यहां अनार्य को सभी विषयों में आप्त न मानकर विषय-विशेष में मानना चाहिए। जैसे आकाशवाणी (रेडियो), दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं में

बोलने व लिखने वाले उस-उस विषय में आप्त होते हैं, उनके कारण हम बहुत सारे व्यवहार करते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा अनुमान-प्रमाण व्यापक है और अनुमान-प्रमाण की अपेक्षा शब्द-प्रमाण और अधिक व्यापक है अर्थात् शब्द-प्रमाण का क्षेत्र अनुमान से भी अधिक व्यापक है। संक्षेप से तीनों प्रमाण व्यवहार काल में सुख देने वाले होते हैं, उनका उपासना के काल में प्रयोग करने से उपासना, उपासना न होकर व्यवहार-काल जैसी ही हो जायेगी। अतः उपासना-काल में तीनों प्रमाण दुःखदायी होते हैं।

❖❖❖❖❖

चित्त की विपर्यय-वृत्ति

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

मन की पांच प्रकार की वृत्तियों में से प्रमाण-वृत्ति की चर्चा करके महर्षि पतञ्जलि ने दूसरी वृत्ति की चर्चा इस सूत्र में की है। मन की दूसरी वृत्ति का नाम '**विपर्यय वृत्ति**' है। विपर्यय का अभिप्राय विपरीत-ज्ञान है। जिसे सूत्रकार ने अगले शब्द से स्पष्ट किया है '**मिथ्याज्ञानम्**' अर्थात् उलटा-ज्ञान अयथार्थ-ज्ञान गलत-ज्ञान असत्य-ज्ञान। मिथ्या-ज्ञान का स्वरूप क्या है? इसका समाधान स्वयं सूत्रकार ने दिया है '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**'। जो वस्तु जिस स्वरूप में विद्यमान है, उसे उसी रूप में जानने को '**तद्रूपप्रतिष्ठम्**' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे को तैसा न जानने को '**अतद्रूपप्रतिष्ठम्**' कहते हैं, इसी को मिथ्या-ज्ञान कहते हैं और इसी को विपर्यय वृत्ति कहते हैं।

यह मिथ्या-ज्ञान संसार में इतनी जड़ जमा कर शासन करता है कि इस की छत्र-छाया में प्रत्येक मनुष्य ने आश्रय लिया हुआ है। संसार में ऐसा कोई मानव न हुआ, न वर्तमान में है और न ही भविष्य में ऐसा हो पायेगा जो इस मिथ्या-ज्ञान के आश्रय में कभी नहीं आता हो। मनुष्य जिस उद्देश्य को लेकर जन्म लेता है, जिस संकल्प को लेकर माता के गर्भ से बाहर निकलता है, उस उद्देश्य को, उस संकल्प को ताक में रखता हुआ मानो अनायास ही मिथ्या-ज्ञान के चंगुल में फंस जाता है। वैसे तो मानव ऊँची-ऊँची छलांग लगाता है, बड़े-बड़े संकल्प लेता है, बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ

रखता है, ऊँची-ऊँची पढ़ाई करता है, बड़े-बड़े कारनामे करता है, बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाता है। क्या नहीं करता ? सब कुछ कर लेता है। पर क्यों नहीं इस मिथ्या-ज्ञान के आश्रय से छूट पा रहा है ?

मनुष्य यह नहीं जान पा रहा है कि यह मिथ्या-ज्ञान मुक्ति को-उद्देश्य को-लक्ष्य को-प्रयोजन को कोसों दूर रखता है। इस मिथ्या-ज्ञान की व्यापकता को जानने से पता लगता है कि यह मनुष्य को किस तरह घेर कर रखता है। बोलने को सभी बोलते हैं कि धन मुक्ति को नहीं दिला सकता। पर मिथ्या-ज्ञान से ओत-प्रोत होने के कारण उसके पास धन प्राप्त करने हेतु तो समय है, पर मुक्ति हेतु समय नहीं है। इसी को वित्तैषणा कहते हैं और यह मिथ्या-ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है। कोई वस्त्रों में, कोई गाड़ियों में, कोई पुस्तकों में, कोई खाने में, कोई देखने में, कोई बेटे-बेटियों में, कोई माता-पिता में, कोई पति-पत्नी में, कोई मकान में, कोई जमीन में, कोई प्रवचन में, कोई लेखन में, कोई खेलने में, कोई सुनने में, कोई घूमने में, कोई मठ बनाने में, कोई आश्रम बनाने में, कोई शिविर लगाने में, कोई मान-सम्मान में, कोई क्रोध में, कोई लोभ में, कोई किसी में, तो कोई किसी में, कहीं न कहीं फंसा हुआ ही रहता है। ये सब मिथ्या-ज्ञान से ओत-प्रोत ही होते हैं, कोई कितना ही कहे कि मैं केवल कर्त्तव्य भावना से इन्हें कर रहा हूँ। इसको या तो भगवान् ठीक-ठीक जानते हैं या स्वयं जान सकते हैं, अन्यों के लिए इसे पता लगाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि संसार में लोग अपने मिथ्या-ज्ञान को छुपाने में जितने कुशल होते हैं उतने कुशल अन्य विषयों में नहीं होते हैं, इसी कारण उनका मुक्ति का द्वार बन्द-सा दिख रहा है।

यदि मिथ्या-ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है भी, तो वह मिथ्या-ज्ञान सुख का साधन तो बन ही रहा है, ऐसा कोई कहे, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इससे मानव दुःखी हो रहा है। क्या मिथ्या-ज्ञान प्रमाण नहीं है ? इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**स कस्मान्न प्रमाणम्**' अर्थात् वह मिथ्या-ज्ञान प्रमाण क्यों नहीं ? स्वयं उत्तर देते हैं '**यतः प्रमाणेन बाध्यते**' अर्थात् वह इसलिए प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रमाण के द्वारा मिथ्या-ज्ञान हट जाता है। ऐसा क्यों ? '**भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य**' अर्थात् प्रमाण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट करने वाला होता है।

'तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्'

अर्थात् जहां-जहां 'प्रमाण' वस्तु के यथार्थस्वरूप को दिखाता है वहां-वहां से मिथ्या-ज्ञान का हट जाना देखा जाता है। उदाहरण के लिए किसी के घर में भोजन स्थान पर कृत्रिम फल रखें हों, उन्हें यथार्थ फल समझ कर यदि प्रवृत्त होते हैं तो प्रमाण से बोध हो जाने पर हट भी जाते हैं। आजकल तो कृत्रिम-वस्तु यथार्थ-वस्तु के रूप में दिखती है और यथार्थ-वस्तु कृत्रिम-वस्तु के रूपमें दिखने लगती है। करें भी तो क्या करें, मानव भी तो कृत्रिम बनता जा रहा है। यह मिथ्या-ज्ञान का ही प्रताप है।

ऐसे कितने लोग हैं जो वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक मानते हैं अर्थात् सत्य ज्ञान मानते हैं। परन्तु अपने पुत्र-पुत्रियों को वेद नहीं पढ़ाते हैं और न ही गुरुकुलों की अव्यवस्था को दूर करने के लिए सहयोग प्रदान करते हैं। हजारों, लाखों रुपये खर्च करके वही विद्या पढ़ाते हैं, जिसका परिणाम अन्त में दुःख ही मिलता है। महर्षि कपिल कहते हैं **'ज्ञानान्मुक्तिः'** (सांख्यदर्शन) अर्थात् जानकारी (उचित ज्ञान) से मुक्ति मिलती है अर्थात् दुःख से छूटते हैं। हमें यह विचार करना चाहिए कि वेद को पढ़ने से दुःख मिलता है अथवा दुःख दूर होता है। क्या हम वेद न पढ़कर, न पढ़ा कर मिथ्या-ज्ञान से ओत-प्रोत तो नहीं हो रहे हैं? समाधान स्वयं को ही सोचना है।

आज का मानव ऐसी भयंकर भूल क्यों करता जा रहा है। मनुष्य को यह पकड़ में नहीं आ रहा है कि मिथ्या-ज्ञान किस-किस व कितने प्रकार का है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास जी लिखते हैं कि **'सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या'** अर्थात् पांच प्रकार का मिथ्या-ज्ञान होता है। मनुष्य को पता नहीं चल पाता है कि किस मिथ्या-ज्ञान के कारण अपने पुत्र-पुत्रियों को विपुल सुख देने की इच्छा से दुःख सागर में डुबा रहा हूं। कोई माता-पिता अपनी संतान को दुःख नहीं देना चाहते हैं परन्तु मिथ्या-ज्ञान का बोध न होने के कारण दुःख को सुख समझकर अपने हाथों से दुःख में ही आकण्ठ डुबा रहे हैं।

मिथ्या-ज्ञान पांच प्रकार का है इस संदर्भ में महर्षि लिखते हैं—

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति।

एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्त्र इति।

एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते।'

अर्थात् मिथ्या-ज्ञान १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष, ५. अभिनिवेश के रूप में पांच प्रकार का है और इनको अन्य नामों से भी कहते हैं- १. तम, २. मोह, ३. महामोह, ४. तामिस्र, ५. अन्धतामिस्र। इन मिथ्या-ज्ञान के प्रकारों को आगे के सूत्रों में आने वाले प्रसंग में, जहां मन को शुद्ध करने का प्रसंग आयेगा वहीं पर, व्याख्यान करूँगा। ऐसा महर्षि वेदव्यास कह रहे हैं। अतः हम भी उन्हीं सूत्रों में इसे समझने का यत्न करेंगे।

महर्षि पतञ्जलि ने पांचों वृत्तियों को सुखदायी एवं दुःखदायी माना है। यह दूसरी वृत्ति विपर्यय=मिथ्या-ज्ञान दुःखदायी तो है ही, पर सुखदायी कैसे? क्योंकि मिथ्या-ज्ञान से दुःख ही मिलता है, यह ही सिद्धान्त है। इसका समाधान इस तरह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि मिथ्या-ज्ञान से दुःख मिलता है, परन्तु जो व्यक्ति संसार से ऊपर उठकर ईश्वर की ओर अग्रसर होना चाहता है, पर उसके पास पूर्ण विवेक=सत्य ज्ञान नहीं है, ऐसी स्थिति में जब तक पूर्ण विवेक नहीं होता तब तक किसी परिस्थिति विशेष में कभी एक बार यह मिथ्या-ज्ञान व्यक्ति को ईश्वर की ओर बढ़ाने में थोड़ा सहायक बन जाता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मिथ्या-ज्ञान सर्वत्र ऐसा ही करता है और यह सीधे-सीधे सुख देने वाला भी नहीं बनता है। हाँ सत्य-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनकर ही परोक्ष रूप से सुखदायी बनता है। इतना ही कहना सूत्रकार का अभिप्राय है। मेरे इस कथन से पाठकों को आश्चर्य हो सकता है। परन्तु इसको सूक्ष्मता से समझने का यत्न करना चाहिए।

उदाहरण के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती जब बाल्यकाल में थे तब उनकी बहन व चाचा की मृत्यु हुई थी। दयानन्द ने मृत्यु को निकटता से देखा और उन्हें भी डर लगा कि मैं भी मरूँगा। पर मैं नहीं मरना चाहता। न मरने की खोज में घर से निकल पड़े। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि मरने के डर से सच्चे ईश्वर को जानने की इच्छा जगी। आत्मा मरती नहीं, इस सत्य-ज्ञान का बोध उस समय नहीं था। पर 'न मरूँ' इस मिथ्या-ज्ञान के सहारे से आगे बढ़े। यहाँ पर कोई कहे कि ऐसा तो सब को होता

है परन्तु सब नहीं बढ़ते हैं? इसका समाधान है कि होता तो सब को है परन्तु हम इसको सत्य-ज्ञान का सहायक नहीं बनाते हैं। यह ही अन्तर है हमारे में और स्वामी दयानन्द में। यदि आज भी हम इस मिथ्या-ज्ञान को सत्य-ज्ञान का सहायक बनावें, तो निश्चित रूप से आगे बढ़ सकते हैं। इस उदाहरण से यह भी नहीं समझना चाहिए कि सभी प्रकार का मिथ्या-ज्ञान सुख का सहायक बनता है। मैंने पहले भी संकेत किया था कि यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। योग की भाषा में 'न मरूँ' इसे अभिनिवेश कहते हैं। न जाने इस मृत्यु के डर से कितने महापुरुषों ने अपने जीवन को सफल किया है। यह तो इतिहास ही बतला रहा है। देखना हमें यह है कि हम कितना लाभ उठाते हैं। हाँ, हम जागरूक नहीं हुए तो सभी को पता ही है कि इस मिथ्या-ज्ञान से कितना दुःख उठा रहे हैं। पाठक महानुभावों से आग्रह है कि मेरे उपरोक्त कथन का अन्यथा अर्थ न लेवें। मेरे उचित अभिप्राय के अनुसार ही अर्थ ग्रहण करें।

❖❖❖❖

चित्त की विकल्प-वृत्ति

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

मन की पांच प्रकार की वृत्तियों में तीसरी 'विकल्प-वृत्ति' है। विकल्प-वृत्ति की परिभाषा करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि 'शब्दज्ञानानुपाती' शब्द का उच्चारण करने पर, शब्द के अर्थ से समझा जाने वाला 'वस्तुशून्य' वस्तु रहित व्यवहार 'विकल्पः' विकल्प-वृत्ति है। एक वाक्य में कहा जाये, तो शब्द के अर्थ से समझा जाने वाला वस्तु रहित व्यवहार विकल्प-वृत्ति है।

पाठकों को विकल्प-वृत्ति के विषय में अवश्य ही जानकारी कर लेनी चाहिए कि विकल्प-वृत्ति का क्या अभिप्राय है?

विकल्प-वृत्ति का अभिप्राय—संसार में कोई वस्तु नहीं है, जो विकल्प-वृत्ति के बिना समझ में आती हो। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन्हें समझने के लिए वेद के अनुसार महर्षि पतञ्जलि ने विकल्प-वृत्ति का माध्यम अपनाया है।

संसार में किसी भी वस्तु को मात्र संगठित एक रूप में नहीं समझ सकते। अत: उस एक वस्तु को विभक्त=अलग कर के समझाया जाता है। उदाहरण के लिए '**अग्नि**' को लीजिये, अग्नि को अग्नि कैसे समझायेंगे? अग्नि को विभक्त=अलग-अलग करके अर्थात् गुण एवं गुणी या धर्म एवं धर्मी अथवा वस्तु एवं विशेषता के रूप में विभक्त=अलग-अलग करते हैं। अग्नि उसे कहते हैं जिसमें ऊष्णता रूपी गुण या धर्म या विशेषता हो। यहाँ पर एक वस्तु 'अग्नि' को दो वस्तु 'गुण व गुणी' बनाकर समझाया जा रहा है। तात्त्विक रूप से अग्नि ही ऊष्णता है, ऊष्णता ही अग्नि है। अग्नि अलग व ऊष्णता अलग हो, ऐसा नहीं है। दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु समझाने के लिए गुण या धर्म या विशेषता की कल्पना की गयी है। इस कल्पना को विकल्प-वृत्ति कहते हैं। यदि यह कल्पना न की जाये, तो संसार का कोई भी जड़-पदार्थ चाहे वह स्थूल या सूक्ष्म कोई भी हो, उसे समझा नहीं सकते हैं और न व्यवहार कर पाते हैं। बिना विकल्प-वृत्ति के न तो स्वयं जीवात्मा को हम समझ सकते हैं और न ही परम-पिता परमेश्वर को समझ सकते हैं। कल्पना रूपी विकल्प-वृत्ति से व्यवहार चल रहा है।

आज हमें पृथिवी की गन्ध, जल की शीतलता, अग्नि की ऊष्णता, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द, मन की एकाग्रता, आत्मा की इच्छा, ईश्वर का आनन्द आदि की जो भी जानकारी हो रही है, यह सब विकल्प-वृत्ति के कारण से ही हो रही है। '**अग्नि की ऊष्णता**' ऐसा शब्द का उच्चारण करने पर ऊष्णता नामक अलग कोई वस्तु न होने पर भी, हम मन में अग्नि से अलग ऊष्णता की कल्पना करके अग्नि को समझते हैं। हाँ, यह ही अग्नि की ऊष्णता है। ऐसे ही सभी पदार्थों के विषय में समझ लेना चाहिए। इस का नाम विकल्प-वृत्ति है। इस विकल्प-वृत्ति से संसार में सभी व्यवहार हो रहे हैं। विकल्प-वृत्ति को हटा दें, तो हम संसार में सारे व्यवहार नहीं कर सकते हैं।

विकल्प-वृत्ति के सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स न प्रमाणोपारोही न विपर्ययोपारोही च'

अर्थात् वह विकल्प-वृत्ति न तो प्रमाण-वृत्ति के अन्तर्गत आती है और न ही विपर्यय=मिथ्याज्ञान-वृत्ति के अन्तर्गत आती है। प्रमाण-वृत्ति के अन्दर

इसलिए नहीं आती क्योंकि प्रमाण-वृत्ति जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जनाती है, परन्तु विकल्प-वृत्ति वैसी नहीं है। विकल्प-वृत्ति विपर्यय-वृत्ति के अन्दर इसलिए नहीं आती है कि विपर्यय-वृत्ति विद्यमान उचित वस्तु को (कृत्रिम फल को) मिथ्या (प्राकृतिक फल) समझाती है। इसी कारण विकल्प-वृत्ति को प्रमाण व विपर्यय-वृत्ति से अलग तीसरी वृत्ति माना गया है।

ऋषि लिखते हैं—

'वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान-माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते।'

अर्थात् 'अग्नि की ऊष्णता' पृथक् वस्तु न होने पर भी शब्दज्ञान के महत्त्व से युक्त व्यवहार देखा जाता है। शब्द का बहुत बड़ा महत्त्व है। बिना शब्द के व्यवहार नहीं हो पाता है। शब्द तो है पर उस शब्द के अनुरूप पृथक् वस्तु नहीं है। अतः शब्द-ज्ञान से मन में एक काल्पनिक वस्तु से व्यवहार हो रहा है। इसे ही विकल्प-वृत्ति कहा जा रहा है। इसमें महर्षि उदाहरण दे रहे हैं—

'तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति'

अर्थात् चेतनता पुरुष का स्वरूप है। यहां पर 'पुरुष की चेतनता' ऐसी वृत्ति मन में बनती है। महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

'यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते'

अर्थात् जब चेतनता ही पुरुष है, तब यहां किस चेतनता से किस आत्मा को बताया जा रहा है। यदि चेतनता की पुरुष से भिन्नता बतायी जा रही है तो चेतनता तो पुरुष से भिन्न नहीं है, चेतनता ही पुरुष है। ये चेतनता और पुरुष अलग-अलग न हो कर एक ही वस्तु हैं।

'भवति च व्यपदेशे वृत्तिः। यथा चैत्रस्य गौरिति'

अर्थात् दो वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध का व्यवहार लोक में हुआ करता है। उदाहरण के लिए 'यह चैत्र नामक व्यक्ति की गाय है'। जैसे 'पुरुष की चेतनता' यह एक कथन है। परन्तु यहाँ पर दोनों उदाहरण अलग-अलग हैं, क्योंकि चैत्र नामक व्यक्ति सर्वथा अलग है और गाय भी सर्वथा अलग है, परन्तु जो पुरुष है वही चेतनता है—यहाँ अलग-अलग सर्वथा नहीं हैं। इसी कारण इनके अलग-अलग कथन को कल्पना कहा गया है, यह विकल्प-वृत्ति है।

महर्षि वेदव्यास ने और भी अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे—

'तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः, स्थास्यति, स्थित इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते, न पुरुषान्वयी धर्मः।'

अर्थात् जैसे 'आम-फल' सड़ गया, तो कच्चेपन से परिपक्व और परिपक्व से सड़नेपन की स्थिति, आम के परिणाम के कारण होती है। इस प्रकार 'आम-फल' परिणामी या क्रियावान् है, वैसा पुरुष नहीं है। इस स्थिति को '**प्रतिषिद्धवस्तुधर्मो निष्क्रियः पुरुषः**' से कहा जा रहा है, पुरुष निष्क्रिय है अर्थात् आम-फल के समान क्रियावान् नहीं है। निष्क्रिय पुरुष ऐसा कहने से निष्क्रिय नामक भी कोई अलग धर्म पुरुष में होगा ऐसी वृत्ति मन में बनती है, इसे भी विकल्प-वृत्ति कहते हैं। क्योंकि यहाँ पर निष्क्रिय नाम का कोई अलग गुण-धर्म-विशेषता न होने पर भी शब्द-ज्ञान के अनुसार वृत्ति बन रही है। महर्षि ने दूसरा लौकिक उदाहरण दिया है—'**बाण ठहरता है, ठहरेगा, ठहर गया**'। यहां पर यह समझना चाहिए कि संस्कृत में गच्छति, पचति आदि धातु-रूप क्रिया को बताते हैं—गच्छति-जाता है, पचति-पकाता है, ऐसे ही तिष्ठति-ठहरता है। ऐसा कहने से मन में वृत्ति बनती है कि बाण में ठहरने की भी कोई क्रिया हो रही है। परन्तु यहाँ कोई क्रिया नहीं हो रही है। केवल तिष्ठति=ठहरना=क्रिया की निवृत्ति (हटना) को बताया जा रहा है। फिर भी मन में क्रिया-निवृत्ति को क्रिया मानने की वृत्ति बनती है। इसे भी विकल्प-वृत्ति कहते हैं।

महर्षि ने आत्मा के विषय में एक और भी उदाहरण दिया है कि आत्मा अनुत्पत्ति-धर्म वाला है। यहाँ पर भी आत्मा में कोई अनुत्पत्ति नामक धर्म रहता है ऐसी वृत्ति बनती है। परन्तु यहाँ पर भी 'घड़े, कपड़े, मकान के समान आत्मा उत्पन्न नहीं होती है' इतना ही बताया जा रहा है। न कि कोई अनुत्पन्न नामक धर्म होता हो और वह आत्मा में रहता हो। यह जो अनुत्पन्न नामक किसी धर्म की वृत्ति बनती है, इसे भी विकल्प-वृत्ति कहते हैं। न जाने कितने ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें विकल्प-वृत्ति के सहारे से लोक में बिना कठिनाई के सुख से सब व्यवहार चल रहे हैं।

यदि व्यवहार सुख से चल रहे हों, तो समस्या भी नहीं आनी चाहिए,

परन्तु समस्या इस विकल्प-वृत्ति से भी आती है। लौकिक व्यवहार में भी अनेकों स्थानों में आती है। ऐसा उपासना में भी होता है। ईश्वर में मन नहीं लग रहा है, क्यों नहीं लग रहा है, क्यों इधर-उधर मन दौड़ रहा है, रुकता क्यों नहीं, मन के न रुकने पर भी साधक बहुत ही दुःखी होता है। कोई यहाँ यह न समझे कि मन को तो रोकना ही है, रोके बिना ईश्वर-साक्षात्कार कैसे होगा? यह बात तो ठीक है कि मन का रुकना आवश्यक है। परन्तु 'रुका रहना' कोई क्रिया नहीं है, पर साधक 'रुका रहने' को क्रिया मान कर, उसके न होने से दुःखी हो रहा है। यह योग में दुःखदायी वृत्ति है। इससे योग में गति नहीं होती है। अतः साधक को मन में कोई क्रिया-वृत्ति उत्पन्न न हो ऐसा उपाय अपनाना चाहिए अथवा जिन कारणों से मन इधर-उधर जाने की क्रिया कर रहा है, उन कारणों को समझना चाहिए और उनका उचित समाधान करना चाहिए। मन क्यों नहीं रुक रहा है, ऐसा विचार कर दुःखी नहीं होना चाहिए।

इस विकल्प-वृत्ति को अच्छी प्रकार पढ़ें व गंभीरता से विचारें और एक बार में समझ में न आवे, तो अनेक बार पढ़ें। धैर्य एवं एकाग्रता से बार-बार पढ़ने पर अवश्य समझ में आयेगी। इस विकल्प-वृत्ति को कठिन मान कर न छोड़ें। क्योंकि अनेक बार मनुष्य कठिन प्रतीत होने वाले को पढ़ता है, तो पहले से ही मानसिकता बना लेता है कि यह कठिन है। ऐसी स्थिति में पाठक में धैर्य नहीं रहता और वैसी एकाग्रता नहीं बन पाती है जैसी एकाग्रता से वह समझ में आता है। अतः बार-बार पढ़ें, बार-बार समझें। अवश्य समझ में आयेगा। ऋषि-महर्षि कहते हैं कि '**आवृत्ति-रसकृतभ्यासात्**' अर्थात् बार-बार पढ़ो, बार-बार समझो, बार-बार अभ्यास करो, तो कठिन भी सरल हो सकता है।

विकल्प-वृत्ति का सार यह है कि जहाँ-जहाँ विकल्प-वृत्ति उचित उपाय बनकर प्रवृत्त हो रही हो, तो उसका प्रयोग सांसारिक-व्यवहार में करके व्यवहार की सिद्धि कर लेनी चाहिए और उपासना के काल में दुःखदायी मानकर उसे रोक देना चाहिए। उपासना काल में विकल्प-वृत्ति का प्रयोग न करना ही सुखदायी है, ऐसा समझना चाहिए।

❖❖❖❖

चित्त की निद्रा-वृत्ति

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

पहली वृत्ति—प्रमाण, जिसमें वस्तुओं का यथार्थ-ज्ञान होता है। दूसरी वृत्ति—विपर्यय, जिसमें वस्तुओं का अयथार्थ-ज्ञान होता है। तीसरी वृत्ति—विकल्प, जिसमें यथार्थ वस्तु को कल्पना से पृथक्-पृथक् करके लोक-व्यवहार करते हैं। इन तीनों वृत्तियों से अलग चौथी वृत्ति 'निद्रा-वृत्ति' है। जिस प्रकार उपरोक्त कही तीनों वृत्तियाँ ज्ञानात्मक हैं, उसी प्रकार यह निद्रावृत्ति भी मन में होने वाली ज्ञानात्मक-वृत्ति है। कोई यह न समझे कि नींद में तो कुछ पता नहीं चलता, फिर यहाँ कैसे निद्रा को वृत्ति कहा जा रहा है? सामान्य रूप से लोक में निद्रा को ज्ञान-शून्य मानते हैं। परन्तु निद्रा की ज्ञान-शून्यता व्याख्या करने योग्य है। व्याख्या करने पर ही यथार्थता का बोध होगा कि ज्ञान-शून्यता किस अवस्था से सम्बन्धित है।

महर्षि पतञ्जलि ने प्रसंग के अनुसार '**वृत्ति**' शब्द का अनुवर्तन होने पर भी सूत्र में पुनः वृत्ति शब्द को जोड़ा है। इससे यह भी ज्ञान होता है कि निद्रा ज्ञानात्मक वृत्ति है। क्योंकि पांचों वृत्तियों वाले सूत्रों में केवल चौथी वृत्ति-निद्रा में ही '**वृत्ति**' शब्द को जोड़ा गया है। इससे स्पष्ट है सूत्रकार निद्रा को वृत्ति ही मानते हैं, अन्यथा नहीं जोड़ते। सूत्र में '**अभाव**' शब्द आया है, इसका अभिप्राय है जागरित-अवस्था एवं स्वप्न-अवस्था का न होना, इन दोनों अवस्थाओं का न होना ही अभाव शब्द से कहा जा रहा है। सूत्र में '**प्रत्यय**' शब्द आया है, इसका अभिप्राय है ज्ञान या अनुभूति। सूत्र में '**आलम्बना**' शब्द आया है, इसका अभिप्राय है- आश्रय करने वाली। '**वृत्ति**'-मन की वृत्ति, '**निद्रा**'-नींद। '**अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा**' इस सूत्र का एक वाक्य में यह अर्थ है—जागरित-अवस्था एवं स्वप्न-अवस्था के अभाव में मन में होने वाली सुखानुभूति, दुःखानुभूति व मोहानुभूति का आश्रय करने वाली वृत्ति का नाम 'निद्रा-वृत्ति' है।

लोक में निद्रा को ज्ञान-शून्य मानते हैं। यह स्थूल कथन है। क्योंकि जागरित-काल में जैसा ज्ञान होता है, वैसा निद्रा-काल में नहीं होता है। इसी प्रकार स्वप्न-काल में जिस प्रकार का ज्ञान होता है, वैसा भी निद्रा-काल में

नहीं होता है। जागरित-काल का ज्ञान और स्वप्न-काल का ज्ञान निद्रा में नहीं होता। इसी को सूत्र में '**अभाव**' शब्द से कहा गया है। निद्रा में सुख की अनुभूति, दु:ख की अनुभूति एवं मोह=मूढ़ता की अनुभूति होती है। इसी अनुभूति को सूत्र में '**प्रत्यय**' शब्द से कहा गया है। इन तीनों अनुभूतियों का आश्रय करने वाली मन की तमोगुण प्रधान वृत्ति को '**निद्रा**' शब्द से कहा गया है।

पहली बात तो यह है कि नींद में ज्ञान होता है, यह समझ में नहीं आता और ऊपर से यह भी कहा जा रहा है कि नींद में सुख का ज्ञान, दु:ख का ज्ञान व मोह-मूढ़ता का ज्ञान होता है। यह बात बुद्धि में कैसे बैठायी जाये? इस के समाधान को महर्षि वेदव्यास ने सशक्त प्रमाणों से समझाने का यत्न किया है। ऋषि लिखते हैं—

'सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेष:'

अर्थात् जब व्यक्ति नींद लेकर जाग उठता है तब नींद में की गयी अनुभूति का स्मरण करता है। इससे ज्ञात होता है कि नींद में प्रत्यय=ज्ञान-विशेष होता है। हम जो भी स्मरण करते हैं, वह पहले अनुभव किये हुए का ही करते हैं। यदि पहले किसी भी प्रकार की अनुभूति न हो, तो स्मरण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: ऋषि यहां पर कारण (हेतु) कहते हैं '**प्रत्यवमर्शात्**' निद्रा में हुए पूर्व अनुभव का जगने पर स्मरण होने से '**निद्रा**' ज्ञानात्मक-वृत्ति है। ऋषि ने प्रश्न उठा कर समाधान किया '**कथम्? सुखमहमस्वाप्सम्**' अर्थात् सो कर उठने पर कोई व्यक्ति अनुभव करता है, मैं गत रात्रि में सुख से सोया। यदि व्यक्ति को सोते समय सुख की अनुभूति न हो, तो उठने पर यह अनुभव नहीं कर सकता। ऋषि ने दूसरा उदाहरण दिया है '**दु:खमहमस्वाप्सम्**' अर्थात् सो कर उठने पर कभी व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मैं गत रात्रि दु:ख से सोया, यह भी बिना पूर्वानुभव के नहीं हो सकता। ऋषि ने तीसरा उदाहरण दिया है कि '**गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्**' सो कर उठने पर कभी व्यक्ति अनुभव करता है कि मैं गत रात मूढ़ हो कर सोया। यह अनुभव भी पूर्व ज्ञात के बिना नहीं हो सकता।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः'

अर्थात् जाग कर यह जो व्यक्ति को स्मरण हो रहा है, वह स्मरण नहीं होना चाहिए, यदि सोते समय किसी भी प्रकार का ज्ञान न हुआ हो, परन्तु स्मृतियाँ तो होती हैं, अतः वे पूर्व-ज्ञान के आधार पर ही होती हैं। '**तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा**' इसलिए यह जो निद्रा है वह ज्ञानात्मक ही है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास के अनुसार 'निद्रा' मन की एक ज्ञानात्मक-वृत्ति है।

यहां पर यह भी समझ लेना चाहिए कि '**प्रयत्न**' आत्मा का स्वभाव है और वह खाली-निठल्ला नहीं रहने वाला है। अतः निद्रा में भी वह आत्मा कुछ न कुछ यत्न करता हुआ सुख, दुःख या मूढ़ता का अनुभव निरन्तर करता रहता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से निद्रा मनुष्य जीवन का एक बड़ा आधार स्तम्भ है। बिना निद्रा के मनुष्य, मनुष्य नहीं रह पाता है। आज की जीवन शैली में प्रायः अनेक लोगों को नींद की समस्या है, उन्हें नींद नहीं आती है। आयुर्विज्ञान के विपरीत जीवन शैली से चलने वालों को यह समस्या रहेगी। निद्रा के न आने पर व्यक्ति पागल तक हो जाता है, भांति-भांति की बीमारियाँ हो जाती हैं। अनिद्रा का प्रताप यहाँ तक है कि वह मनुष्य को मृत्यु के मुख में पहुंचा देती है। आयुर्वेद के अनुसार जीवन शैली को बनाने वाले उचित रूप में निद्रा ले कर अपने शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि को स्वस्थ-नीरोगी बना कर धर्मपूर्वक अर्थार्जन कर उसका समुचित प्रयोग करते हुए मोक्ष के भागी बनते हैं। इस रूप में निद्रा-वृत्ति मनुष्य के लिए सुखदायी बनती है।

यदि मनुष्य आयुर्वेद के अनुसार न चल कर स्वतंत्र रूप से चलता है, वर्तमान में प्रत्यक्ष रूप से होने वाली हानियों पर ध्यान नहीं रखता और न ही शब्द-प्रमाण आयुर्वेद को मानता है तो वह इसी निद्रा-वृत्ति को दुःखदायी बना लेता है। इस सन्दर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति'।

अर्थात् जैसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति वृत्तियों को उपासना के काल में रोकते हैं वैसे ही निद्रा-वृत्ति को भी उपासना के काल में रोक देना

चाहिए।

बहुत से लोग ऋषियों के मन्तव्यों को न पढ़, न जान कर रात्रि में न सो कर अथवा रात्रि के एक बजे, दो बजे उठ कर शरीर को जितनी निद्रा की आवश्यकता है उतनी निद्रा न ले कर उपासना के लिए बैठते हैं, वे ऐसा करके निद्रा को दुःखदायी बनाते हैं। क्योंकि इससे न तो उपासना ठीक हो पाती है न ही शरीर स्वस्थ रह पाता है। उन्हें दोनों प्रकार की हानियाँ होती हैं। बहुत से साधक इस बात को नहीं समझ पाते हैं। बहुत से साधक ऐसा करके यह समझ बैठते हैं कि हमारी उपासना अच्छी हो रही है। वे यह नहीं जान पाते हैं कि वे उपासना में बैठ कर नींद ले रहे होते हैं या तन्द्रा से ओत-प्रोत हो कर ऊंघ रहे होते हैं। यदि किसी साधक को यह कहा जाता है कि 'आप उपासना के काल में ऊंघ रहे थे या सो रहे थे' तो कई साधक यह समाधान करते हैं 'आप को पता नहीं है यह योग की एक अवस्था है, जिसमें इस तरह का होता रहता है'। यह उन साधकों की बहुत बड़ी भ्रांति है। कुछ ऐसे भी साधक हैं जो उपासना के काल में सो जाते हैं और बाद में यह कहते हैं कि 'आज मेरी उपासना बहुत अच्छी हुई है'। कैसी उपासना हुई है, ऐसा पूछने पर कहते हैं कि 'इतनी अच्छी हुई है कि कुछ पता ही नहीं चला, क्योंकि घण्टे भर में एक भी वृत्ति नहीं उठी'। यह भी बहुत बड़ी भ्रांति है।

इन ऊपर कही बातों को समझ कर निद्रा-वृत्ति को व्यवहार-काल में सुखदायी बनाना चाहिए। और उपासना-काल में निद्रा को सर्वथा रोक देना चाहिए। अन्यथा सुख देने वाली निद्रा-वृत्ति दुःखदायी बनेगी।

❖❖❖❖

चित्त की स्मृति-वृत्ति

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

महर्षि पतञ्जलि ने मन को आत्मा व परमात्मा में लगाने में आने वाली बाधाओं को रोकने की चर्चा करते हुए पांच प्रकार की मन की वृत्तियाँ कही हैं। इन वृत्तियों को रोकने पर ही योग की सिद्धि बताई है। एक-एक वृत्ति

की परिभाषा करते हुए प्रमाण, विपर्यय, विकल्प व निद्रा को स्पष्ट किया है। अब अन्तिम पांचवीं वृत्ति की चर्चा हो रही है। स्मृति को पांचवीं वृत्ति बताया है। स्मृति का अर्थ बताते हुए ऋषि ने कहा है कि '**अनुभूतविषया-संप्रमोषः स्मृतिः**' अर्थात् '**अनुभूत**'—पहले अनुभव किये हुए '**विषय**'—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, आत्मा व परमात्मा से सम्बन्धित विषयों का '**असंप्रमोषः**'—न भूलना '**स्मृतिः**'—स्मृति नामक वृत्ति कहलाती है।

सूत्र का एक वाक्य में अर्थ यह हुआ कि पहले अनुभव किये हुए जड़ वा चेतन से सम्बन्धित विषयों का न भूलना स्मृति नामक वृत्ति कहलाती है। अथाह प्रतीत होने वाले इस विशाल संसार में रहते हुए मनुष्य न केवल सैकड़ों, सहस्त्रों, लाखों अपितु अनगिनत विषयों को देख, सुन, पढ़ व विचार कर अपने मन में संस्कार बनाता है अर्थात् उन विषयों से सम्बन्धित छाप-मन में पड़ती है। छाप को संस्कार शब्द से कहा जा रहा है। मनुष्य जब कभी उन संस्कारों को स्वत: स्वयं ही मन में उठा कर अथवा किसी निमित्त को पा कर पुनः स्मरण करता है, इस पुन:स्मरण को ही '**स्मृति**' शब्द से सूत्रकार ने परिभाषित किया है।

कोई भी व्यक्ति लाखों लोगों की भीड़ में घूम रहा हो अथवा दुकानों में रखी हुई दर्जनों वस्तुओं में दृष्टि रखते हुए चल रहा हो, वह जिस-जिस व्यक्ति को या वस्तु को ध्यान से देखता है, जिस को रुचि से, आकर्षण से लाभकारी मानकर देखता है, तो उस व्यक्ति या वस्तु की छाप=संस्कार मन पर पड़ता है। उदाहरण के लिए हम भीड़ में जा रहे हैं। लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं। परन्तु एक व्यक्ति को देखा, तो वह सामान्य नहीं लगा। वह सामान्य रूप से लोग जैसे कपड़े पहनते हैं वैसे न पहन कर, बोरी-बारदानी से सिले हुए कपड़े पहने हुए था। उसे रुचि से, आकर्षण से देखा, तो उसका मन में संस्कार बना। फिर कभी उस प्रसंग को स्मरण करके 'देखो! कैसे लोग होते हैं कैसे-कैसे कपड़े पहनते हैं, संसार की विचित्रता देखो! विचित्र से लोग हैं।' इस प्रकार के स्मरण को स्मृतिवृत्ति कहते हैं।

स्मृति के सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'**किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति**'

अर्थात् हम जो याद=स्मरण करते हैं, क्या वह स्मरण केवल 'ज्ञान'

का होता है अथवा केवल 'विषय' का होता है? महर्षि कहना चाहते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्मरण करता है, तो मन से करता है तब मन उस वस्तु के ज्ञान-ज्ञान (मात्र ज्ञान) का स्मरण करता है अथवा ज्ञान के बिना केवल वस्तु-वस्तु (मात्र वस्तु) का स्मरण करता है? वे लिखते हैं—

'ग्राह्योपरक्तः **प्रत्ययो** ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते। **स** संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां **स्मृतिं जनयति।**'

अर्थात् मनुष्य जब कभी किसी वस्तु को जानना चाहता है तब वस्तु के ज्ञान एवं वस्तु दोनों की अनुभूति करता है।

ग्राह्य-वस्तु है, ग्रहण-ज्ञान है, इन दोनों की अनुभूति करता है, तो इन दोनों के संस्कार मन में बनते हैं। जब दोनों संस्कार बनते हैं, तो दोनों=वस्तु व ज्ञान की ही स्मृति आती है। इस कारण जो स्मृति हो रही है, वह न तो केवल वस्तु की होती है, न ही केवल ज्ञान की होती है, दोनों की होती है। क्योंकि स्मृति का कारण संस्कार है। जैसा संस्कार बनेगा वैसी ही स्मृति होगी।

महर्षि वेदव्यास स्मृति के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं—

'सा च द्वयी-भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या **च, स्वप्ने** भावितस्मर्तव्या जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति।'

अर्थात् स्मृति दो प्रकार की होती है। एक प्रकार का नाम 'भावितस्मर्तव्या' है, जो कि स्वप्न-काल में होती है। दूसरे प्रकार का नाम 'अभावितस्मर्तव्या' है, जो कि जागरित=व्यवहार काल में होती है। यहाँ पर भावितस्मर्तव्य का अभिप्राय काल्पनिक=अयथार्थ है। मनुष्य नींद के लिए सोता है, तो निद्रा पूर्णतया न आ कर आधी नींद होती है। ऐसी स्थिति में स्वप्न आते हैं। स्वप्न में जो स्मृतियाँ उभरती हैं, वे अयथार्थ होती हैं। उदाहरण के लिए स्वयं को आकाश में उड़ता हुआ देखता है, परन्तु कभी पहले ऐसा उड़ा नहीं, फिर भी स्मृति हो रही है। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि यद्यपि पूर्व अनुभव किये हुए विषयों की ही स्मृति आती है और यहाँ स्वप्न में भी पूर्व अनुभव किये की ही स्मृति हो रही है, परन्तु उलट-पुलट हो कर हो रही है। जैसे जागरित काल में मन पर नियन्त्रण होता है

वैसे स्वप्न में नहीं होता है। इसी कारण पक्षी के उड़ने के संस्कार को स्वयं के साथ जोड़कर उड़ता हुआ देखता है। यही अयथार्थ स्मृति है। जैसे हाथी के चित्र को खण्ड-खण्ड कर फैंक दिया जाये और कोई छोटा बालक उसे जोड़कर पुनः हाथी बनाये, तो वह पूँछ को सूंड के स्थान पर और सूंड को पूँछ के स्थान पर जोड़ लेता है। यहाँ कारण-अज्ञान है। स्वप्न काल में हम में अनियन्त्रण कारण बनता है।

ऐसा भी होता है कि इस जन्म में ऐसी कोई घटना न हुई हो और स्वप्न में उस प्रकार की घटना का स्मरण हो, तो इसके पीछे बहुत सारे कारण होते हैं। जैसे कि पढ़कर, सुनकर या कल्पना कर वैसे-वैसे संस्कार बना लिये, उनकी स्मृति हो सकती है अथवा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के कारण किसी जन्म के संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर भी ऐसी स्मृति होती है।

जागरित-काल में अभावितस्मर्तव्य-स्मृतियाँ होती हैं। यहाँ पर अभावितस्मर्तव्य का अभिप्राय है यथार्थ स्मृतियाँ। जागरित-काल में मनुष्य अपने मन को अपेक्षाकृत नियन्त्रण में रखता है। इस कारण स्मृतियाँ यथार्थ आती हैं।

स्वप्न-काल की व जागरित-काल की स्मृतियाँ अपवाद रूप में भी होती हैं अर्थात् स्वप्न-काल में यथार्थ-स्मृति भी हो सकती है और जागरित-काल में अयथार्थ-स्मृति भी हो सकती है।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा-
स्मृतीनामनुभवात् प्रभवन्ति।'

अर्थात् जितनी भी स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं वे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा वा स्मृति के अनुभव से ही होती हैं।

'सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः'

अर्थात् ये पांचों प्रकार की वृत्तियाँ सुख, दुःख मोह रूप होती हैं। **'सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः'** अर्थात् ये जो सुख, दुःख व मोह हैं, ये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश नामक क्लेशों की व्याख्या में बताने योग्य हैं। अतः इनके सम्बन्ध में प्रसंग आने पर वहीं पर बताया जायेगा।

'एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्याः, आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति'

अर्थात् इन सभी वृत्तियों को रोकना ही चाहिए। इनके रुकने से संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात समाधि होती है जिनमें आत्मा, परमात्मा आदि का साक्षात्कार होता है।

जिस प्रकार प्रमाण, विपर्यय, विकल्प व निद्रा वृत्तियाँ सुखदायी एवं दुःखदायी होती हैं, उसी प्रकार स्मृति-वृत्ति भी होती है। व्यवहार काल व उपासना काल में यथावसर यथायोग्य नियन्त्रित स्मृति-वृत्ति अत्यन्त लाभकारी है। ऐसी स्मृति के बिना कोई भी मनुष्य कैसे व्यवहार व उपासना कर पायेगा? यह सभी को ज्ञात ही है। इसीलिए व्यवहार काल व उपासना काल में ऐसी स्मृति-वृत्ति सुखदायी है। परन्तु व्यवहार काल व उपासना काल में अयथावसर अयथायोग्य अनियन्त्रित स्मृति-वृत्ति दुःखदायी है। ऐसी स्मृति-वृत्ति व्यवहार व उपासना को होने नहीं देगी। बड़ी कठिनाई से समय निकाल कर व्यक्ति उपासना के लिए बैठता है, एकान्त में होता है। आँखें बन्द करता है, तो न जाने कहाँ-कहाँ से ऐसी स्मृति पर स्मृति आती ही रहती है। ऐसा लगता है कि धड़ा-धड़ स्मृतियाँ निकल रही हों। प्रायः साधक स्मृतियों से व्याकुल रहते हैं। क्योंकि ये स्मृतियाँ साधकों के मनों को परमेश्वर में नहीं लगने देती हैं।

मनुष्य दिन भर जो कुछ भी करता है यदि उसे राग व द्वेष से ओत-प्रोत होकर करता है, तो बार-बार उन्हें स्मरण कर-कर के सुखी या दुःखी होता रहता है। मन पर नियन्त्रण न होने के कारण व्यवहार-काल में भी स्मृतियों को नहीं रोक पाता है, तो उपासना के काल में और अधिक अनियन्त्रण होता है। क्योंकि उपासना के काल में अकेला होना, एकान्त होना, अन्यों से संपर्क न होना, आँखों का बन्द होना, बैठे रहना आदि कारणों से अधिक स्मृतियों को उठाता रहता है। इस कारण मुक्ति की ओर बढ़ नहीं पाता है। मुक्ति की ओर न बढ़ना ही दुःखदायी है। अतः यह ऐसी स्मृति-वृत्ति उपासना-काल में दुःखदायी बनती है। अन्य वृत्तियों के समान ऐसी स्मृति-वृत्ति को भी उपासना के काल में रोक देना ही श्रेयस्कर है। अन्यथा दुःख ही दुःख होगा।

❖❖❖❖

चित्तवृत्तियों को रोकने के उपाय

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

मनुष्य की क्षमताओं पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जैसे परमपिता परमात्मा में असीम क्षमताएँ विद्यमान हैं, वैसे ही मानो आत्मा में भी असीम क्षमताएँ हैं। यद्यपि आत्मा अल्प सामर्थ्य वाला है, परन्तु वह ऐसे-ऐसे कार्य करता है कि मानो वह स्वयं भगवान् जैसा बन गया हो। क्योंकि आज मानव ने भ्रांति से असम्भव प्रतीत होने वालों को सम्भव बना लिया है और आगे भी प्रयत्नशील है। विज्ञान के मद में इतना मदमस्त हो रहा है कि संसार को ही बदलने की आशा लगा कर बैठा है। वह चाहे धरती को चपटी बना ले, चाहे आकाश में संसार बसावे, चाहे समुद्र की तलहटी में मैदान बना कर फुटबॉल खेले, चाहे और कारनामे करे। किन्तु यदि मानव ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार रूपी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को दूर करते हुए अपने जड़ मन को वश में नहीं किया, तो उसके असीम प्रतीत होने वाले कार्य, उसे असीम दुःख सागर में ही डुबायेंगे।

आज का मानव अपने जीवन में ज्यों-ज्यों योग्यताओं की भरमार कर रहा है, त्यों-त्यों स्वयं को इन्द्रियों का दास बनाता जा रहा है। जैसे-जैसे बौद्धिक क्षमताओं को बढ़ा रहा है वैसे-वैसे मन की चिन्ताओं, तनावों व दबावों से घिरता जा रहा है। मानव की असहनशीलता, अधैर्य, असंतोष, भय, परतन्त्रता बता रही है कि मानव ने स्थूल जड़ वस्तुओं पर तो एक सीमा तक अधिकार कर लिया है, किन्तु स्वयं पर व अपने मन पर अधिकार करने में असफल होता जा रहा है।

मन की पांच प्रकार की वृत्तियों को सर्वथा रोकना कोई ओलम्पिक में जाने जैसा नहीं है, कोई हेरी पोटर लिखने जैसी लेखिका के समान नहीं है, कोई सीमित समय में राजनीतिक हीरो बनने जैसा नहीं है, कोई शिकागो में जा बोल कर विश्व प्रसिद्ध वक्ता बनने जैसा नहीं है, कोई नोबल पुरस्कार पाने जैसा नहीं है, कोई विश्व के एकमात्र धन कुबेर बनने जैसा नहीं है या कोई रातों-रात स्टार बनने जैसा नहीं है। यह तो कठोपनिषद्कार यमाचार्य

के शब्दों में—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'

के समान करोड़ों-करोड़ों में कोई विरला ही जन्म-जन्मान्तरों के अथक पुरुषार्थ से अपने जड़ मन को 'जड़' मान कर पांचों वृत्तियों को सर्वथा रोक कर आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है। इस संसार में सबसे बड़ा व सर्वोत्कृष्ट कार्य है अपने मन को सब वृत्तियों से हटा कर आत्मा एवं परमात्मा में लगाना।

इस सन्दर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति**' अर्थात् चट्टानों की तरह दिखने वाली अनगिनत वृत्तियों को रोकने का कोई उपाय है? मनुष्य के सामने कोई बाधा या समस्या या कठिनाई आ जाये और उसका उपाय न हो, यह कैसे हो सकता है? अवश्य उपाय है, वह भी सशक्त उपाय है। ऐसा उपाय है, जिसे जिसने भी अपनाया उसने अपने जीवन को सफल बनाया। वह कौन सा उपाय है? महर्षि पतञ्जलि बताते हैं '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' अर्थात् अभ्यास व वैराग्य रूपी उपायों से उन पांचों प्रकार की वृत्तियों को सर्वथा रोका जा सकता है।

जिस किसी ने यह ठान लिया है कि मुझे आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार करना है, उसने अभ्यास व वैराग्य को साधन बनाया। उसने अपने मन को देखने-जानने का पूर्ण पुरुषार्थ किया। जैसे एक वैज्ञानिक किसी वस्तु के एक-एक अवयव को अच्छी तरह परख लेता है, वैसे ही योगसाधक मन को परख लेता है, तो पाता है कि मेरा मन जैसा मैं चलाऊँ वैसा ही चल सकता है। किस-किस प्रकार मन चल सकता है, इस सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च।'

अर्थात् मन ऐसी नदी है जो निरन्तर बह रही है और उसे मनुष्य अपनी बुद्धि का उचित प्रयोग करते हुए कल्याण की ओर बहा सकता है, यदि बुद्धि का प्रयोग समुचित न करे तो पाप की ओर भी बहा सकता है।

महर्षि वेदव्यास ने मन को नदी की उपमा दी है। हमारा मन नदी की भांति निरन्तर बह रहा है। यह तो मनुष्य के हाथों में है कि वह मन को किस ओर बहा कर ले चले। मनुष्य की परीक्षा भी इसी बहाव पर निर्भर

करती है अर्थात् उसके मन के बहाव को देखकर ही कोई ज्ञानी यह पता लगाता है कि यह मानव किस धरातल पर जी रहा है। महर्षि वेदव्यास ने मन रूपी नदी के दो बहाव बताये हैं। वे कौन से हैं? ऋषि के ही शब्दों में—

'या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेक-विषयनिम्ना सा कल्याणवहा।'

अर्थात् जो मन रूपी नदी मुक्ति को प्राप्त करने के लिए बह रही है, जो प्राणि-मात्र के प्रति निर्वैरी बनती हुई बह रही है, जिसका ध्येय ही यथार्थ सत्य पर बहना है, जिसके बहाव का वेग अत्यधिक होते हुए भी किसी भी चोरी रूपी झाड़-झंकाड़ को साथ लेकर नहीं बहती है, जिसका बहाव इतना शुद्ध-निर्मल-पवित्र है कि किसी के प्रति कोई कुदृष्टि सर्वथा नहीं रखती है, जो विवेक से ओत-प्रोत होकर किसी का परिग्रह न कर अकेली ही बह रही है।

विवेक से ओत-प्रोत होने के कारण मन रूपी नदी के इस बहाव में कभी भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, भ्रांति, अनुपलब्धि, दुःख, क्षोभ आदि विषय सवार नहीं होते हैं। मन का यह बहाव न रुकने वाला, न डिगने वाला, अनवरत बहता हुआ परमानन्द रूपी कल्याण को पाने के लिए निकल पड़ा है और परमानन्द में ही जा मिलेगा।

मन रूपी नदी के दूसरे बहाव के सम्बन्ध में ऋषि लिखते हैं—

'संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा।'

अर्थात् यह मन रूपी नदी संसार रूपी भवसागर को प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के रंग-बिरंगे रूपों में बह रही है, सैकड़ों देशों के अनगिनत रसों को चखते हुए बह रही है, तरह-तरह के सेण्ट-इत्रों में से गुजर रही है, नाना प्रकार के लुभावने स्पर्शों में बह रही है, संसार भर के एक से बढ़ कर एक संगीतों में खोती हुई बह रही है।

अज्ञानता से ओत-प्रोत होने के कारण जिस-किसी भी रीति से हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि को साथ लेकर बह रही है। जिसमें न धर्म की, न न्याय की, न कर्त्तव्य की, न डर की, न दुःख की, न परमेश्वर

की चिन्ता है। वह निडर हो कर, स्वच्छन्द हो कर, अन्यों को आतंकित करते हुए बहती ही चली जा रही है। मन रूपी नदी का यह बहाव न रुकता हुआ, न डिगता हुआ, निरन्तर बहता हुआ पाप रूपी महासमुद्र में जा मिल रहा है।

जिस मनुष्य का लक्ष्य आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार करना ही हो, वह मन के दो बहावों में से केवल-केवल '**कल्याणवहा**' को ही चुनता है। महर्षि वेदव्यास के शब्दों में—

'तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते।'

अर्थात् कल्याण करने वाले बहाव में चलते हुए वैराग्य रूपी विशाल दीवार से विषय भोगों में प्रवृत्त करने वाले जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कारों एवं पाप वृत्तियों के स्रोत को रोक दिया जाता है। जैसे ही कुसंस्कार उठने लगते हैं या जैसे ही पाप प्रवृत्ति उठने लगती है, तो वैराग्य उन्हें उठने नहीं देता है। जिससे कुसंस्कार एवं पाप प्रवृत्ति कमजोर होती जाती है। व्यास जी आगे लिखते हैं—

'विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते।'

अर्थात् विवेक को प्राप्त करने के अभ्यास से विवेक का स्रोत खुल जाता है।

महर्षि वेदव्यास सूत्र का भाष्य समापन करते हुए लिखते हैं कि '**इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' अर्थात् अनगिनत पांचों प्रकार की वृत्तियों को रोकने का सशक्त उपाय अभ्यास और वैराग्य ही है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य मनुष्य को मनुष्य बनाते हुए लक्ष्य तक पहुँचाने वाले महत्वपूर्ण साधन हैं।

ऋषि, महर्षियों ने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सभी उपाय हमारे सम्मुख खोलकर रख दिये हैं। उन उपायों को अपनाने में हम किस तत्परता से आगे आ रहे हैं, यह हमारे ऊपर निर्भर करता है।

अभ्यास और वैराग्य का क्या अभिप्राय है ? इस सम्बन्ध में सूत्रकार एवं भाष्यकार स्वयं आगे सूत्रों एवं भाष्यों में स्पष्ट करेंगे।

❖❖❖❖

अभ्यास का स्वरूप

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

संसार भर के सभी मनुष्य एक जैसे हैं अर्थात् सारी आत्माएँ एक जैसी हैं। आत्मा के गुणों में एक महत्वपूर्ण गुण है **'प्रयत्न'**। सभी मनुष्यों में प्रयत्न गुण एक जैसा है। परन्तु विद्वान्, महापुरुष, मुनि, ऋषि, महर्षि जन जिस प्रयत्न के साथ चल कर अपने प्रयोजन को पूर्ण कर चुके हैं, आज की जीवन शैली में हमारा प्रयत्न वैसा नहीं हो रहा है। हमारे में और महर्षियों में अन्तर यह है कि महर्षियों ने अपनी जीवन शैली को वेद के अनुसार बिताया है। हम अपनी जीवन शैली को वेद के विरुद्ध चला रहे हैं।

वेद कहता है—

'ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर।'

(यजु० ४०.१५)

ईश्वर साक्षात् आत्मा को उपदेश कर रहे हैं कि हे आत्मन्! तू क्रतु है- कर्मशील है-प्रयत्नशील है- तुम्हारा स्वभाव ही प्रयत्न करना है। अतः अपने प्रयत्न को जानो और पहचानो। तुझे अपने क्लिब=सामर्थ्य को पहचानना चाहिए कि तुझ में बहुत सामर्थ्य है। तुझे पता है तूने क्या-क्या किया है? तूने कितनी बार विवेक को प्राप्त कर, वैराग्यवान् बनकर, अभ्यास कर-करके समाधि लगाई। तू कितनी बार मुझ (परमात्मा) को पाकर आनन्दित हुआ है अर्थात् कितनी बार मुक्त हुआ है। तेरा भूत-काल उज्ज्वल था, भविष्य भी उज्ज्वल रहेगा, पर तू अपने वर्तमान को पहचान। यदि तू अपने वर्तमान को उज्ज्वल बना रहा है, तो तू अपने सामर्थ्य को पहचानते हुए प्रयत्न करने वाला माना जायेगा। यदि तू अपने सामर्थ्य को न पहचानते हुए जीवन बितायेगा, तो दुःख सागर में डूब जायेगा।''

वेद के इस संदेश को महर्षियों ने पहचाना और अपने वर्तमान को उज्ज्वल बना कर मुक्ति में चले गये। आज हमें भी इसे पहचानना है और मुक्ति में जाना है। यदि हम ऐसा न करें, तो हम वेद विरुद्ध चलने वाले

बनेंगे। अतः आईये पहचानते हैं अपने प्रयत्न को और पहचान कर बार-बार उसका अभ्यास कर हम भी महर्षियों के समान मुक्ति में पहुँच जायें।

महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन की पांचों वृत्तियों को रोकने की बात कही है। वैराग्य को प्राप्त कर किस प्रकार हम अभ्यास करें? इस संदर्भ में ऋषि ने अभ्यास को समझाने के लिए अभ्यास की परिभाषा सूत्र के रूप में रखी है—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'** यहाँ पर महर्षि ने 'तत्र' शब्द से पूर्व सूत्र (**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**) की ओर संकेत किया है अर्थात् तत्र=उन दोनों (अभ्यास और वैराग्य) में से एक अभ्यास की परिभाषा की जा रही है। अभ्यास किसे कहते हैं, तो **'स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'** अर्थात् स्थिति को बनाये रखने में जो यत्न या प्रयत्न या पुरुषार्थ या उद्यम किया जाता है उसे 'अभ्यास' कहते हैं। किस की स्थिति को बनाये रखने के लिए पुरुषार्थ किया जाता है? मन की स्थिति को बनाये रखने के लिए पुरुषार्थ किया जाता है। अर्थात् मन को एक ही स्थिति में बनाये रखने के लिए पुरुषार्थ किया जाता है।

मन कभी तो मूढ़-स्थिति में बना रहता है। कभी चंचल-स्थिति में बना रहता है। कभी-कभी विक्षिप्त-स्थिति में बना रहता है। कोई भी मनुष्य अपने मन को मूढ़-स्थिति में बनाये रखना नहीं चाहता है, परन्तु फिर भी मन को मूढ़-स्थिति में पहुँचाता है। इसे हानिकारक समझते हुए भी मूढ़ बन जाता है। ऐसे ही कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता है कि मेरा मन चंचल-स्थिति में बना रहे। परन्तु मन को चंचल बनाता ही जाता है। जैसे कोई भी मनुष्य अपने मन को मूढ़ या चंचल बनाना नहीं चाहता है, वैसे ही कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि बड़े पुरुषार्थ से मन को पकड़ कर रोक कर एकाग्र कर रखे तो कोई विक्षेप आ जाये, जिससे मन विक्षिप्त हो जाये। परन्तु तरह-तरह के विक्षेपों को उठा-उठा कर मन को विक्षिप्त कर बैठता है। इस प्रकार मनुष्य मूढ़ या चंचल या विक्षिप्त बनकर ही जीवन-यापन कर रहा है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि यदि मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करनी है, तो मन को मूढ़ता से, चंचलता से, विक्षिप्तता से हटाकर एकाग्र करना है और उस एकाग्रता को सतत बनाए रखना है। इसी बात को महर्षि ने सूत्र में **'स्थितौ'** शब्द से स्पष्ट किया है कि अपने मन को एक ही (एकाग्र) स्थिति में बनाये रखना है।

सूत्रकार के '**स्थितौ**' शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता **स्थितिः**।'

अर्थात् मन को वृत्तियों से हटा कर सतत एकाग्र बनाये रखने को 'स्थिति' कहा जाता है। अर्थात् मन को एकाग्र स्थिति में सतत बनाये रखना ही '**स्थिति**' है। मनुष्य की सारी जीवन लीला इसी स्थिति को बनाये रखने के लिए है। समस्त ऋषि-महर्षियों ने मन को इसी एक स्थिति में बनाये रखा और उपनिषदादि ग्रंथों में एक ही सम स्थिति में मन को बनाये रखने से 'आत्मा को पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते हैं' ऐसा कहा है। योगीराज श्री कृष्ण ने भी इसी स्थिति को '**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २.४८) कहा है। वास्तव में वही व्यक्ति सूरमा है, जो सतत मन को एक ही (एकाग्र) स्थिति में बनाये रखता है। काम के वेग को रोकना कोई खेल नहीं है। हाँ, मन के तमोगुण को दबा कर मूढ़ता=मोह से रहित हो कर वा रजोगुण को दबाकर चंचलता एवं विक्षिप्तता से हटाकर सतत एकाग्रता में रखने वाला ही, काम के वेग को थाम सकता है। क्योंकि एकाग्रता में मनुष्य यथार्थता में जीता है। अयथार्थता में काम का वेग रहता है। आवश्यकता मन को बार-बार एकाग्र करने की है। किसी खूंखार शेर को मार गिराने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है, तो अपने जड़ मन को बार-बार मूढ़ता, चंचलता व विक्षिप्तता से हटाने की। 'मन को सतत एकाग्र किये हुए रखना' सतत एकाग्र-सतत एकाग्र, यही तो अभ्यास है।

कौन नहीं जानता है कि क्रोध नहीं करना चाहिए, परन्तु कौन क्रोध नहीं करता! प्रायः क्रोध करते ही हैं। पर 'क्रोध नहीं करना, नहीं करना' इसका बार-बार अभ्यास करने वाला ही क्रोध नहीं करता है। हम में और क्रोध न करने वाले में यह ही अन्तर है कि हम क्रोध करने का अभ्यास करते हुए क्रोध को रोकना चाहते हैं और क्रोध न करने वाला क्रोध न करते हुए क्रोध को रोकता है। इसी प्रकार लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि शत्रुओं के बारे में समझ लेना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए अपने मन को सतत एकाग्र बनाये रखना पड़ता है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः'

अर्थात् मन को सतत एकाग्र बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रयत्न-उद्यम-पुरुषार्थ करना चाहिए। मनुष्य के प्रयत्न में वीर्य-शक्ति-बल-सामर्थ्य होना चाहिए। न केवल शक्ति होनी चाहिए, उस शक्ति में उत्साह-उमंग-उल्लास भी होना चाहिए। बलहीन व्यक्ति, उत्साह रहित मनुष्य मन को सतत एकाग्र करने में असमर्थ रहता है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने अभ्यास की विशेषताएं गिनाई हैं **वीर्यम्, उत्साहः**। अतः इन के बिना अभ्यास अपूर्ण ही रह जाता।

कोई मनुष्य केवल इतना ही रट्टा लगाये कि मुझे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार में नहीं फँसना। इतने मात्र से वह मनुष्य इन महाशत्रुओं को रोक नहीं पायेगा। इसी कारण महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः'

अर्थात् मन को एकाग्र स्थिति में बनाये रखने की इच्छा से मनुष्य को यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। इन साधनों को बार-बार जीवन में अपनाते ही रहने को या सतत अपनाते ही रहने को अभ्यास कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति यम, नियमादि को जीवन में तो उतारता नहीं है और केवल मन को एकाग्र करने का अभ्यास करे, तो नहीं कर पायेगा। क्योंकि मन की एकाग्रता में यम, नियम, आसन आदि प्रत्येक अंग व उपांग अनिवार्य रूप से कारण बनते हैं। ऐसा नहीं है कि अपने लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए दूसरों को कष्ट हो रहा हो, वह कष्ट हमारे रहन-सहन के तौर तरीके के कारण से हो रहा हो और हम उस पर ध्यान न देवें कि हमारे कारण से हिंसा हो रही है। ऐसी स्थिति में कोई कितना ही मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करे, परन्तु मन एकाग्र नहीं हो पायेगा। इस बात को बहुत ही सूक्ष्मता से पकड़ना है।

जिस प्रकार से हिंसा को लेकर बात कही जा रही है। उसी प्रकार हमारे झूठे व्यवहार से, तरह-तरह की चोरियों से, नाना प्रकार के असंयमों से और परिग्रहों से भी मन एकाग्र नहीं हो पाता है। अनेक व्यक्ति लौकिक रीति से तो परिग्रह नहीं करते परन्तु आध्यात्मिकता के नाम से पुस्तकों, आश्रमों,

मठों का परिग्रह कर लेते हैं, जो कि उनके लिए आवश्यक होते हैं।

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' सूत्र का संक्षेप से सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार यह अर्थ है कि अभ्यास एवं वैराग्य इन दोनों में से अभ्यास उसे कहते हैं कि अपने मन को एकाग्र स्थिति में बनाये रखने के लिए यम, नियम, आसन आदि को निरन्तर जीवन में उतारते ही रहना, शक्ति से उतारना और उत्साह से उतारना, सतत उतारना। इसी का नाम अभ्यास है।

❖❖❖❖

अभ्यास की दृढ़ता

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४॥

संसार में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें मनुष्य प्रवेश नहीं करता हो। जैसे खेल के क्षेत्र में कोई व्यक्ति सफलता को प्राप्त करता है और वह सफलता भी तीव्रता के साथ प्राप्त कर लेता है। ऐसी सफलता को प्राप्त करने वाले को देखकर हजारों नहीं लाखों अपितु करोड़ों लोग उस क्षेत्र से प्रभावित होते हैं। उनमें भी इच्छा उत्पन्न होती है कि हम भी इस खेल के क्षेत्र में अपना भविष्य बनावें। किसी क्षेत्र में प्रवेश की इच्छा रखना बहुत सरल है। उस क्षेत्र में प्रवेश करना भी सरल है किन्तु उसी में अभ्यास करना महत्त्व रखता है। अनेक व्यक्ति हैं, जो अभ्यास करते हैं। परन्तु सफल कितने होते हैं ? बहुत ही कम। क्या कारण है अभ्यास करने पर भी वे सफल नहीं होते ? कौन सा खिलाड़ी जीतना नहीं चाहता ? खिलाड़ी मैदान में उतरता ही जीतने के लिए है। परन्तु सभी नहीं जीतते हैं, क्यों? और जो विजयी होते हैं, वे कैसे होते हैं ?

जैसे खेल के क्षेत्र में है वैसे ही सभी क्षेत्रों में है। जैसे लोक के सभी क्षेत्रों में है, वैसे ही ईश्वर को प्राप्त कराने वाले योग के क्षेत्र में भी समझना चाहिए। सफलता को दिलाने वाले अभ्यास को यथार्थ रूप में किस प्रकार से करना चाहिए, उस विधि को महर्षि पतञ्जलि ने प्रस्तुत सूत्र में वर्णित किया है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास ने तो मानो आत्मा की आँखें ही खोल दी हैं।

संसार का कोई भी क्षेत्र योग के क्षेत्र के समक्ष फीका पड़ जाता है। कारण यह है कि किसी भी क्षेत्र को लीजिये- मनुष्य अभ्यास कर-करके एक जीवन में सफल हो ही जाता है। परन्तु योग के क्षेत्र में ऐसा नहीं है कि मनुष्य एक ही जन्म में मुक्त हो जाये। इसके लिए तो अनेकों जन्म चाहिएँ। अनेक जन्म ले-लेकर बार-बार यम, नियम आदि का अभ्यास करना है। यह कार्य अत्यन्त कठिन है। इस कठिन कार्य को संपन्न करते समय योगाभ्यासी यदि अधीर हो उठता है, हताश-निराश हो उठता है, डगमगाता है, तो सफल नहीं हो पायेगा। उसकी सफलता दृढ़ करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने एवं महर्षि वेदव्यास ने अत्युत्तम विधि को प्रस्तुत किया है।

किस उत्तम विधि से अभ्यास करना चाहिए, इस संदर्भ में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'

अर्थात् हे मनुष्य! तुम जिस अभ्यास को करने जा रहे हो वह अभ्यास दीर्घकाल तक करो, लम्बे काल तक करो। कितने लम्बे काल तक करना है? जितना तुम्हारा जीवन काल है अर्थात् जब तक जीवित रहोगे तब तक। इतना ही नहीं मर कर पुनः जन्म लेना, फिर अभ्यास करना। फिर मृत्यु तक करना। फिर जन्म, फिर मृत्यु। इस प्रकार, बस करते ही जाना है। रुकना ही नहीं। यह ही दीर्घकाल का अभिप्राय है। इसी को महर्षि वेदव्यास ने 'दीर्घकालसेवित' शब्द से कहा है।

सूत्रकार ने अभ्यास को जहाँ दीर्घकाल तक सेवन करने की बात कही है, वहाँ निरन्तर सेवन करने के लिए भी कहा है। इस को महर्षि वेदव्यास ने 'निरन्तरासेवितः' शब्द से स्पष्ट किया है। अर्थात् निरन्तर बिना अवकाश के लगातार करते ही जाना है। प्रतिदिन करते ही रहना है। प्रायः संसार में प्रत्येक कार्य में कभी न कभी अवकाश रखा जाता है। शनिवार, रविवार, त्यौहार, गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, कोई-कोई अमावस्या व पूर्णिमा को और अतिरिक्त अवकाश के रूप में भी बहुत कुछ होता है। कोई कभी भोजन में, कभी निद्रा में, कभी किस में अवकाश रखते हैं। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं दिखता है जहाँ अवकाश न रखा जाता हो। परन्तु परमेश्वर को पाने हेतु उपासना का अभ्यास निरन्तर चलते ही रहना चाहिए। इसमें कभी

अवकाश नहीं रखना चाहिए। इसी कारण महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने लगातार अभ्यास करने का विधान किया है।

यदि अवकाश की सूक्ष्मता में जा कर देखें, तो स्पष्ट होता है कि हम अवकाश किसका रखते हैं और क्यों रखते हैं ? हम जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करते हैं, अपने सुख के लिए कार्य करते हैं। तरह-तरह के कार्यों में अवकाश रखते हैं, तो भी खाली नहीं रहते। एक कार्य में अवकाश रखकर दूसरे कार्य में व्यस्त होते हैं। यदि कोई कुछ भी न कर निद्रा में व्यस्त होता हो, तो वह निद्रा भी एक कार्य है, जिससे उसे सुख मिलता है। हाँ, कोई यह अवकाश ले कि '**आज पूरे दिन-चौबीस घण्टों में सुख नहीं लूँगा**', इस प्रकार सुख न लेने का अवकाश ले कर दिखावे। ऐसा सम्भव नहीं है। अवकाश लेना आत्मा के लिए हानिकारक है। इतना अवश्य कर सकते हैं, परिवर्तन के लिए बदल-बदल कर कार्य करें। यह बदलाव ही अवकाश है। अन्यथा मनुष्य के लिए कभी भी अवकाश न होना चाहिए। उपासना का अभ्यास सुख के लिए है और वह सुख भी ईश्वरीय सुख है एवं अपरिमित सुख है। लगातार मिलने वाला सुख है। दुःख रहित सुख है जिसमें लेशमात्र भी दुःख मिला हुआ नहीं है। ऐसे सुख के लिए उपासना हो और उस उपासना का अभ्यास रोक लेवें, ऐसा कैसे हो सकता है ? इसी कारण दोनों महर्षियों ने निरन्तर-लगातार बिना अवकाश के अभ्यास करने के लिए विधान किया है।

सूत्रकार ने अभ्यास को दीर्घकाल व निरन्तरता के साथ-साथ **सत्कार पूर्वक** सेवन करने की बात कही है। हम जिस किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते हैं, तो अभ्यास के द्वारा ही बढ़ेंगे। परन्तु अभ्यास बिना सत्कार के करेंगे, तो अभ्यास फलदायी नहीं बन पायेगा। यहाँ पर 'सत्कार' का अभिप्राय बताते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च
संपादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति।'

अर्थात् हम जिसका अभ्यास करते हैं, उस अभ्यास में तप हो, ब्रह्मचर्य संयम हो, विद्या हो और श्रद्धा हो। तपरूपी, ब्रह्मचर्यरूपी, विद्यारूपी, श्रद्धारूपी सत्कार से किया गया अभ्यास फलदायी बनता है। तपस्यापूर्वक

ब्रह्मचर्यपूर्वक, विद्यापूर्वक एवं श्रद्धापूर्वक की गई उपासना का अभ्यास पांचों वृत्तियों को सर्वथा रोकने वाला बन पायेगा।

तपपूर्वक अभ्यासः- प्रायः मनुष्य हताश, निराश हो कर लक्ष्य से भटक जाता है। परन्तु यदि मनुष्य तपस्या से अभ्यास करता जाये, चाहे सर्दी हो या गर्मी, चाहे भूख हो या प्यास, चाहे मान हो या अपमान, चाहे स्तुति हो या निन्दा, तो समस्त द्वन्द्वों को सहर्ष स्वीकार करता हुआ मन को खिन्न न बनाते हुए वृत्तियों को रोकने में समर्थ हो जाता है। तपपूर्वक अभ्यास करने वाला व्यक्ति छोटे-मोटे दुःखों को भी सहर्ष स्वीकार इसलिए करता है कि बड़े-बड़े दुःखों से छूटने का मार्ग प्रशस्त हो रहा होता है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों का इसीलिए त्याग करता है कि ईश्वरीय आनन्द का मार्ग प्रशस्त हो रहा होता है। यह कार्य भारी तप के बिना नहीं हो सकता। अतः सूत्रकार ने तपपूर्वक अभ्यास करने की बात कही है।

ब्रह्मचर्यपूर्वक **अभ्यासः**- आज मनुष्य की दृष्टि-नज़रिया बदल गया है। चकाचौंध में फंस कर मनुष्य अपने को विकसित मान रहा है और जैसे-जैसे चकाचौंध बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे स्वयं को तदनुरूप बनाता जा रहा है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। एक ओर हम अपने को मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र व श्रीकृष्ण की संतान मानते हैं और दूसरी ओर हम भौतिकवाद में फंसकर ब्रह्मचर्य का हनन करते जा रहे हैं। स्वयं को विकासशील एवं ज्ञानी मानने वालों को वेद का सूक्ष्म विज्ञान तब तक समझ में नहीं आयेगा जब तक स्वयं को संयमित नहीं करेंगे। ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले वेद की निन्दा कर रहे हैं। क्योंकि वेद कहता है कि

'ब्रह्मचर्येण **तपसा देवा** मृत्युमपाघ्नत'

(अथर्व० का० ११ सू० ५ मं० १९)

अर्थात् योगी जन ब्रह्मचर्य का पालन करके मृत्यु को जीतकर ईश्वरीय आनन्द को पाते हैं। अतः वेद का अनुसरण कर समस्त ऋषिगण, महापुरुष ब्रह्मचर्य का पालन किया करते थे। इसी कारण सूत्रकार ने ब्रह्मचर्य पूर्वक अभ्यास करने के लिए '**सत्कार**' शब्द का कथन किया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक अभ्यास किये बिना ईश्वर को प्राप्त करना असंभव है।

विद्यापूर्वक **अभ्यासः**- संसार में मनुष्य बहुत अभ्यास करते हैं। कोई

ऐसा क्षेत्र नहीं दिखता, जिस क्षेत्र में अभ्यास नहीं होता हो। परन्तु अभ्यास करने वाले सभी सफल नहीं होते। इसके पीछे मुख्य कारण अविद्या रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार एवं भाष्यकार ने विद्यापूर्वक अभ्यास करने की बात कही है। जब मनुष्य यथार्थ ज्ञान के अनुसार अभ्यास करता है, तो मनुष्य की निर्णय करने वाली बुद्धि उचित निर्णय देगी, मनुष्य का मन ज्ञान के अनुरूप ही विचार व विमर्श करेगा, मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ संयमित हो कर ही नवीन जानकारी प्राप्त करेंगी, कर्मेन्द्रियाँ उन्हीं कर्मों को करेंगी जिनको करने से ईश्वरानन्द मिलेगा और शरीर को ज्ञान के अनुरूप ही रखेगा, जिससे शरीर रोगयुक्त न बने। मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार व महत्तत्त्वरूपी बुद्धि को योग के अनुरूप बनाकर विद्या रूपी अभ्यास के माध्यम से योग को सिद्ध करेगा, अन्यथा '**अविद्या**' योग को कभी सिद्ध होने नहीं देती है।

श्रद्धापूर्वक **अभ्यासः**- मनुष्य किसी भी क्षेत्र में अभ्यास करता है, तो श्रद्धापूर्वक ही करता है। परन्तु योग का क्षेत्र ऐसा है कि जिसमें परमेश्वर को उपलब्ध करना है और परमेश्वर को किसी और के द्वारा उपलब्ध करते हुए साक्षात्=प्रत्यक्ष भी नहीं देखा जाता है। ऐसी कठिन परिस्थिति में अभ्यास करना और वह भी कुछ समय या कुछ वर्ष या जीवन पर्यन्त भी तो नहीं? यह तो एक, दो जन्म भी नहीं, अनेकों जन्मों तक अभ्यास करना है। तो वह अभ्यास निरन्तर करते हुए श्रद्धा भी रहे और श्रद्धा में न्यूनता भी न आये। क्या यह सम्भव है? हाँ, संभव है। क्योंकि संभव भी अनेक बार असंभव के रूप में प्रतीत होता है। उसी को जनता '**असंभव को संभव बनाया**' ऐसा कहती है। परन्तु असंभव असंभव ही रहता है, वह कभी संभव नहीं बनता। हाँ, संभव को मूर्त रूप देने वाले यदि मूर्त रूप न दें, तो संभव भी असंभव के रूप में प्रतीत होता है। कोई विरला ही उसे संभव बना पाता है क्योंकि वह अपनी अविद्या को नष्ट कर लेता है। हताश-निराश न होते हुए परमेश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न कर श्रद्धापूर्वक किया गया योग का अभ्यास निश्चित रूप से फलदायी बनता है। श्रद्धा केवल ईश्वर में ही नहीं, जो-जो ईश्वर को प्राप्त कराने के साधन हैं, चाहे वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, आसन आदि योग के आठों अंग हों या

वेद, उपवेद, ब्राह्मण, शिक्षा आदि अंग या उपांग, किसी पर भी अश्रद्धा उत्पन्न न हो। ईश्वर को प्राप्त कराने के जो-जो साधन बनते हों, उनको श्रद्धापूर्वक अपनाते हुए ही निरन्तर अभ्यास करते रहना होगा। ऐसी स्थिति में ही ईश्वर की उपलब्धि हो पायेगी।

प्राय: मनुष्य का जीवन क्रियात्मक न हो कर शब्दात्मक (पुस्तकीय) होता है। अत: व्यवहार में असफल होता है। इस कारण सूत्रकार एवं भाष्यकार क्रियात्मक रूप देने हेतु दीर्घकाल तक, निरन्तर और सत्कार अर्थात् तपपूर्वक, विद्यापूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक अभ्यास करवा कर मनुष्य को उपलब्धि की ओर बढ़ा रहे हैं। हमने अपने मन में कितने ही गलत संस्कार उत्पन्न किये हों, उन सबको इस सूत्र के माध्यम से नियन्त्रित कर वृत्ति रहित बना कर समाधि की ओर बढ़ सकते हैं। फिर हम गलत संस्कारों से नहीं दबेंगे, हम गलत संस्कारों को दबायेंगे। इसी बात को महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय **इत्यर्थः**'

अर्थात् व्युत्थान=लौकिक संस्कारों से वह अभ्यास शीघ्र न दबने वाला होता है। अभिप्राय यह है कि वह अभ्यास इतना दृढ़ होता है कि वह कभी नहीं दबता है। तभी वह अभ्यास वृत्तियों को रोकने में पूर्ण समर्थ होता है।

❖❖❖❖

अपर-वैराग्य

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

संसार में जिस प्रकार प्यासे को पानी मिलने से, भूखे को भोजन मिलने से, नंगे को कपड़े मिलने से, अनाश्रित को मकान मिलने से, निर्धन को धन मिलने से, बेरोजगार को नौकरी मिलने से, व्यापारी को अच्छा व्यापार मिलने से, वक्ता को वक्तव्य मिलने से, लेखक को लिखने हेतु उचित विषय मिलने से, खिलाड़ी को जीत मिलने से खुशी (आनन्द) मिलती है। उसी प्रकार योग साधना करने वाले साधक को वैराग्य मिल

जाये तो क्या कहना, इससे बढ़कर और अहोभाग्य क्या हो सकता है। साधक को अहर्निश इसी वैराग्य को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार आस लगा कर प्रतीक्षा हो रही होती है जिस प्रकार पुत्र की कामना ले कर नि:संतान स्त्री प्रतीक्षा कर रही होती है।

संसार में कामना रहित कोई भी मनुष्य मनुष्य नहीं कहलाता। हाँ कामनाएँ अथाह हैं। परन्तु ऐसी कामना मनुष्य को करनी होती है, जिसे पूरा कर कामना रहित हो जाये, फिर बार-बार कामना करने की आवश्यकता न पड़े। वैराग्य की कामना ही सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामना है। आइये वैराग्य को समझने का प्रयास करते हैं।

आजकल के पढ़े-लिखे लोग प्राय: वैराग्य को समझ नहीं पा रहे हैं। कुछ तो वैराग्य के नाम से डरते हैं कि कहीं मुझे वैराग्य न हो जाये, या मेरे पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, घर के किसी सदस्य को वैराग्य न हो जाये। वैराग्य का डर मनुष्य को आतंकित कर रहा है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह समझते हैं कि वैराग्य का अर्थ घर-बार छोड़-कर लाल-पीले कपड़े पहन कर साधु बन जाना है और अपने कर्त्तव्यों से पलायन करना है। इस प्रकार नाना प्रकार की कल्पनाओं को करके वैराग्य के प्रति उपेक्षित रहने वालों की भरमार है। ऐसी धारणा बना कर वे लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि हम ईश्वर से कितने दूर होते जा रहे हैं, क्योंकि वे यह नहीं समझते कि संसार में वैराग्य ही एक ऐसा साधन है, जो ईश्वर का दर्शन कराने का माध्यम है।

यह वैराग्य ऐसा-वैसा साधन नहीं है, जो चाहे उसे मिल जाता हो, यह वैराग्य जिसे चाहे उसे मिलने वाला साधन नहीं है। यह पैसे से, सम्पत्ति से, घर-बार छोड़ने से अथवा और किसी बड़े-बड़े लोगों के कहने से मिलने वाला नहीं है। वैराग्य किसे मिलता है और कौन इस वैराग्य को संभाल सकता है, इसे भी समझ लेना चाहिए। वैराग्य का प्राप्त होना और उसे संभाल सकना संसार में सबसे कठिन कार्य है। वैराग्य उस व्यक्ति को प्राप्त होता है, जिसने संसार को संसार के रूप में जाना है, समझा है। संसार क्यों बना, किसके लिए बना, संसार क्या है, किससे बना, संसार मनुष्य को क्या दे सकता है और क्या नहीं दे सकता इत्यादि बहुत ही सूक्ष्मता से जानकारी

रखने वाले को वैराग्य प्राप्त होता है।

वैराग्य को प्राप्त करने वाला वैराग्य को तभी प्राप्त कर पाता है जब उसे अपने बारे में बोध होता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, क्यों आया, कहाँ जाऊँगा, क्यों जाऊँगा, मेरे को क्या चाहिए, क्या नहीं चाहिए, क्यों चाहिए, क्यों नहीं चाहिए इत्यादि की वह बहुत ही सूक्ष्मता से जानकारी रखता है। वह इतना ही नहीं जानता, बल्कि वह संसार व स्वयं की जानकारी के अतिरिक्त संसार अपने आप बना या किसी ने बनाया, मेरा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार आदि को किसने बनाया, क्यों बनाया, बनाने वाले की खोज कर-करके निश्चय करता है कि हाँ, बनाने वाला मनुष्य कभी नहीं हो सकता। मनुष्य के अतिरिक्त कोई असीम शक्ति है, जो मेरे शरीर को और संसार को बनाने वाली है, उसे ही ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मता एवं गंभीरता से जानकारी रखता है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य को प्राप्त करने वाले को संसार, जीव एवं ईश्वर का सूक्ष्म-ज्ञान होता है अर्थात् विवेक होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि विवेकी व्यक्ति को ही वैराग्य होता है। अविवेकी को वैराग्य नहीं होता। विवेक ही वैराग्य का कारण बनता है। मोटे तौर पर कहा जाये, तो बहुत बड़े ज्ञानी को पूर्ण वैराग्य होता है।

वैराग्य से डरने वालों को या वैराग्य के प्रति उपेक्षा करने वालों को अथवा वैराग्य जिनको होता है उनके प्रति गलत भाव रखने वालों को एवं वैराग्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने वालों को रोकने वालों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिस विवेक के कारण वैराग्य होता है, वह विवेक क्या है। क्योंकि विवेक के विषय में जिनको जानकारी अच्छी रहती है वे कभी वैराग्य के प्रति अनादर नहीं करते, बल्कि वैराग्यवान् के प्रति अति श्रद्धा रखेंगे।

विवेक—विवेक का अर्थ है यथार्थ-ज्ञान, जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में जानना। वस्तु के जैसे गुण, कर्म, स्वभाव होते हैं उन्हें वैसा ही जनाने वाला विवेक होता है। विवेक वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रमाण (मानक) पूर्वक जनाने वाला होता है। इतना ही नहीं, वह विवेक वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जनाने के साथ-साथ अन्य वस्तुओं से पृथक्त्व का भी अनुभव कराता है।

न्यायदर्शन के भाष्यकार **महर्षि** वात्स्यायन के अनुसार विवेक का अर्थ है **'तस्मिन् तदिति ज्ञानम्'** अर्थात् जैसे को तैसा बताने वाले ज्ञान को 'विवेक' कहते हैं। विवेक वह कार्य करता है जिसे कहा जाता है **'हंस का कार्य'** अर्थात् जिस प्रकार हंस दूध का दूध, पानी का पानी अलग करता है, ठीक उसी प्रकार विवेक सत्य को अलग असत्य को अलग करने वाला होता है। संसार में कौन सी वस्तु सुखदायी है और कौन सी वस्तु दुःखदायी है, जड़ किसे कहते हैं और चेतन किसे कहते हैं, जड़ के क्या गुण, कर्म, स्वभाव हैं और चेतन के क्या गुण, कर्म, स्वभाव हैं, चेतन जड़ नहीं बन सकता और जड़ चेतन नहीं बन सकता इत्यादि अनेकों सूक्ष्म व गंभीर विषयों का यथार्थ ज्ञान कराने वाला विवेक होता है। हार्डवेयर विशेषज्ञ कम्प्यूटर को खोल कर जैसे देख लेता है, ठीक उसी प्रकार विवेक सांसारिक सुख को खोल कर उसमें छुपे दुःख को देख लेता है। अर्थात् पूर्ण सुख रूप में दिखने वाले सांसारिक सुख को 'दुःखयुक्त है' ऐसा यथार्थ-ज्ञान कराने वाला विवेक होता है।

विवेक मनुष्य को भ्रान्ति में कभी नहीं रखता, बल्कि भ्रांति रहित कर पूर्ण सुख जहाँ मिलता हो, उस ओर सदा प्रेरित करता रहता है। जिस कार्य को करने से अधिक से अधिक लाभ मिले और कम से कम हानि हो, ऐसा प्रेरित करने वाला संसार में केवल विवेक ही है। विवेक मनुष्य को कभी छोटे-मोटे दुःखों, कष्टों, समस्याओं, बाधाओं में डालता भी है, तो तपस्या कराने के लिए डालता है। जिससे कि वह बड़े से बड़े दुःख, कष्ट, समस्याओं, बाधाओं से मनुष्य को अलग करा सके। क्योंकि विवेक कहता है कि इसी में बुद्धिमानी है। विवेक का सबसे बड़ा कार्य यह है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार से कभी भी दुःख न मिले और ऐसा उद्यम कराता है कि एक समय आने पर मनुष्य फिर कभी दुःख सागर में नहीं गिरता। ऐसा अति उत्तम विवेक ऐसे-वैसे नहीं मिल पाता है। इसके लिए बहुत से शास्त्रों को पढ़ना पड़ता है और पढ़ कर मनन व निदिध्यासन करना पड़ता है। बिना शास्त्रों को पढ़े, बिना विचार किये इस प्रकार का विवेक हो नहीं पाता है।

जब मनुष्य को अच्छी प्रकार पता लग जाये कि उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, लोक-परलोक, जड़-

चेतन, आत्मा-परमात्मा, दुःख-सुख क्या है ? तब उचित को अपनाने और अनुचित को त्याग करने की इच्छा उत्पन्न होती है। अपनाने वा त्यागने की इच्छा को कभी दबाना नहीं चाहिए, क्योंकि मनुष्य का उद्देश्य भी यही है कि उचित को अपना कर पूर्ण सुखी रहना और अनुचित को त्याग कर दुःख से बचे रहना। यह मनुष्य की चाह है। इसी चाह को पूर्ण कराने में विवेक कारण बनता है और यह चाह वैराग्य से ही पूर्ण हो सकती है। अतः प्रत्येक मनुष्य को वैराग्य प्राप्त करना चाहिए।

अब वैराग्य को समझने का प्रयत्न करते हैं कि वैराग्य किसे कहते हैं ? जैसा कि पूर्व कह चुके हैं कि विवेक ही वैराग्य का कारण बनता है। अतः जो कारण में होता है वह कार्य में भी होता है। कारणपूर्वक ही कार्य होता है। विवेक उचित-अनुचित का बोध करा कर उचित को पकड़े रखने और अनुचित को त्याग किये रखने हेतु मनुष्य को सतत प्रेरित करता रहता है। उसी प्रेरणा से मनुष्य में पकड़े रखने या त्यागने की इच्छा प्रकट होती है। जब इच्छा अति प्रबल हो जाती है तब वैराग्य प्रादुर्भाव हो जाता है।

वैराग्य—जिस मनुष्य को वैराग्य होता है, तो समझ लेना चाहिए कि उसमें अदम्य विवेक होता है। अतः वैराग्यवान् व्यक्ति जो भी काम (कार्य) करता है, वह दो प्रकार से करता है। एक प्रकार यह कि उचित को पकड़े रखता है, उसे कभी छोड़ता नहीं है और दूसरा प्रकार यह कि अनुचित को त्याग किये रखता है फिर उसे कभी अपनाता नहीं है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। उचित को पकड़े रखने को एवं अनुचित को त्याग किये रखने को ही वैराग्य कहते हैं। संसार में जो-जो अनुचित (दुःखदायी) दिखता जाता है, उसे छोड़ते जाना और जो-जो उचित (सुखदायी) दिखता जाता है, उसे पकड़ते जाना, वैराग्यवान् का प्रमुख कार्य होता है।

जिस मनुष्य में वैराग्य होता है, वह कभी भी किसी को भी दुःख नहीं देता है। हाँ, अज्ञानी माता-पिता आदि संबन्धी अपनी ममता (मोह-मूर्खता) रूपी अविद्या के कारण दुःखी होते हैं। उनके दुःख का कारण वैराग्य कभी नहीं बनता, क्योंकि विवेक के कारण वैराग्य होता है और विवेक कभी भी किसी को भी अनुचित करने नहीं देता। अतः सभी जनों को सूक्ष्मता एवं गंभीरता से विवेक एवं वैराग्य को जान लेना चाहिए।

वैराग्यवान् व्यक्ति को संपूर्ण संसार एवं सांसारिक प्रत्येक वस्तु दुःखदायी दिखने लगती है क्योंकि सभी सांसारिक वस्तुओं में परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख एवं गुणवृत्तिविरोध-दुःख स्पष्ट दिखने लगते हैं। सांसारिक समस्त चेतनों के साथ जो-जो संबन्ध जोड़ रखा था वह भी अनित्य दिखने लगता है। इसी कारण वैराग्यवान् व्यक्ति में सांसारिक वस्तुओं में अरुचि उत्पन्न होती है और ईश्वर में रुचि उत्पन्न होती है। वह माता-पिता आदि के अनित्य संबन्धों को सरलता से त्याग करते हुए ईश्वर के साथ माता-पिता का संबन्ध सरलता से जोड़ लेता है।

वैराग्यवान् व्यक्ति संसार को एवं सांसारिक संबन्धों को कैसे त्याग करता है और ईश्वर के साथ संबन्ध कैसे जोड़ता है। इस तथ्य को समझाने के लिए महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने संक्षेप से सूत्र व भाष्य के माध्यम से स्पष्ट किया है। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् अपनी श्रोत्रेन्द्रिय से अब तक जो-जो शब्द सुना है उसमें, और स्पर्शेन्द्रिय से जो-जो स्पर्श किया है उसमें, और नेत्रेन्द्रिय से जो-जो रूप देखा है उसमें, और रसनेन्द्रिय से जो-जो रस चखा उसमें, एवं घ्राणेन्द्रिय से जो-जो गन्ध सूंघी उसमें, वैराग्यवान् मनुष्य तृष्णा=कामना=इच्छा=अभिरुचि सर्वथा नहीं रखता। इतना ही नहीं जिन-जिन शब्दों को कभी इस जीवन में नहीं सुना, जिन-जिन स्पर्शों को स्पर्श नहीं किया, जिन-जिन रूपों को नहीं देखा, जिन-जिन रसों को नहीं चखा और जिन-जिन गन्धों को नहीं सूंघा, उनमें भी तृष्णा=अभिरुचि सर्वथा नहीं रखता और अपने मन को जानी हुई वस्तुओं एवं न जाने हुए विषयों से हटाये हुए रखता है। मदारी जैसे बन्दर को बांधे रखता है, वैसे ही मन को बांधे रखना वैराग्य कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिनको स्वयं भोग कर देख चुका है उनको आगे भोगने की इच्छा एवं जिनको अब तक नहीं भोगा केवल सुना, पढ़ा है, स्वयं साक्षात् नहीं किया उनको भी भोगने की इच्छा सर्वथा समाप्त हो जाती है। पुनः मन उनमें कभी प्रवृत्त नहीं होता है। इसी का नाम वैराग्य है।

सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य'

अर्थात् मनुष्य ने अब तक जो भोगा है उसके प्रति पुत्रैषणा=पुत्र व शिष्य की इच्छा, वित्तैषणा=धन की इच्छा और लोकैषणा=मान-सम्मान की इच्छा ये तीनों जिसमें नहीं हैं। ऋषि लिखते हैं—

'स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य'

अर्थात् स्वर्ग की इच्छा=अगला जन्म अच्छा मिले इसकी इच्छा, वैदेह्य=शरीर व इन्द्रियों को जीतकर संसार को दिखाने की इच्छा, प्रकृतिलयत्व=प्राकृतिक तत्त्वों को जान कर संसार को बताने की इच्छा न रखना, जिनको अनुभव नहीं किया, केवल अभी तक सुना है या पढ़ा है, उनमें भी इच्छा न रखना वैराग्य कहलाता है। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'दिव्यादिव्यविषयसंयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

अर्थात् मनुष्य के सामने पहले भोगे हुए अदिव्य=साधारण सुख और सुने हुए व पढ़े हुए, न भोगे हुए दिव्य=विशेष सुख उपस्थित हो जायें, तो भी वैराग्यवान् व्यक्ति अपने वैराग्य के कारण विवेक रूपी विशेष बल से उन दिव्य और अदिव्य सुखों के प्रति भोगने की लालसा=तृष्णा न रखते हुए, उनके प्रति न राग, न द्वेष उत्पन्न करते हुए मन पर विशेष अधिकार की भावना रखता है। इस न भोगने की भावना का नाम ही वैराग्य है। इस प्रकार की भावना रखने वाले वैराग्यवान् के मन में मात्र (केवल) ईश्वर को प्राप्त करने की भावना ही रह जाती है। परमेश्वर के अतिरिक्त और कोई भावना ही नहीं रहती।

वैराग्य का अभिप्राय संक्षेप से यह हुआ कि अदम्य विवेक के बल पर अनुचित को अनुचित मान कर समझ कर उसे त्याग किये ही रखना और उचित को उचित मान कर समझ कर उसे ग्रहण-पकड़े हुए ही रखना वैराग्य कहलाता है।

❖❖❖❖

पर-वैराग्य

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १६॥

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इस सूत्र के माध्यम से पिछले प्रसंग में विवेक एवं वैराग्य को समझाने का यत्न किया गया। **'विवेक'** योगसाधक के लक्ष्य को स्पष्ट कर देता है। योगसाधक को विवेक भटकने नहीं देता है। योगसाधक अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर ही रहे, यह कार्य विवेक का है। इसी विवेक के परिणामस्वरूप वैराग्य प्राप्त होता है। पिछले सूत्र के माध्यम से वैराग्य को समझ ही लिया, फिर यह दूसरा वैराग्य कहाँ से आया? इसका समाधान यह है कि वैराग्य दो प्रकार का है पिछले सूत्र में अपर-वैराग्य की चर्चा की गई है। **'अपर'** का अभिप्राय निम्न या निचला अथवा छोटा है। इस सूत्र में पर-वैराग्य की चर्चा की जा रही है। **'पर'** का अभिप्राय उच्च या उत्तम अथवा बड़ा है।

हिमालय को मैदान बनाने का या समुद्र को पी जाने के समान असम्भव से लगने वाले वैराग्य को किसी ने प्राप्त किया हो और उसे अपर, निम्न या छोटा वैराग्य कहा जाये, यह कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जिन लोगों को संसार में ही रहना हो, संसार से ऊपर उठकर मुक्ति की चर्चा ही न करनी हो, ऐसे लोगों को तो अपर-वैराग्य भी बहुत ऊँचा वैराग्य दिखता है। परन्तु जो लोग संसार से ऊपर उठ चुके हैं, जिनका लक्ष्य संसार के भोग नहीं है, उनको अपर-वैराग्य अपेक्षाकृत छोटा ही दिखता है। यदि अपर-वैराग्य छोटा है और पर-वैराग्य बड़ा है, तो दोनों में क्या अन्तर है?

अपर-वैराग्य एवं पर-वैराग्य में अन्तर

अपर-वैराग्य—जिन योगसाधकों को दृष्ट=अनुभव किये हुए विषयों में और आनुश्रविक=जिन्हें अनुभव तो नहीं किया केवल सुना, शास्त्रों में पढ़ा, उनमें रुचि नहीं होती अर्थात् भोगने की इच्छा नहीं होती है, उनकी ऐसी स्थिति को अपर-वैराग्य कहते हैं। वैराग्य होते ही मन एकाग्र हो जाता है। पहले विषय भोगों में रहने वाले दुःख का साक्षात्कार होता है। उससे योगसाधक में विषयों के प्रति अनासक्ति उत्पन्न होती है। जिससे योगसाधक

विषयों से विरक्त होता जाता है। ज्यों-ज्यों विषयों से विरक्त होता जाता है, त्यों-त्यों एकाग्रता की उच्च स्थिति प्राप्त होती है। एकाग्रता की उच्च स्थिति में योगसाधक किसी भी सांसारिक वस्तु में आसक्त नहीं होता, साथ में जब उनको दुःखदायी मानकर छोड़ देता है, इसे अपर-वैराग्य कहते हैं। इस परिस्थिति में वह संसार को ग्राह्य=अपनाने योग्य नहीं मानता है। जब संसार अपनाने योग्य ही नहीं है, तब विवेक योगसाधक को आत्मा की ओर अग्रसर करता है। यहाँ से पर-वैराग्य प्रारम्भ होता है।

पर-वैराग्य—जब आत्मा की ओर अग्रसर कराने वाले विवेक का स्तर भी उत्कृष्टतम हो जाता है। तब उत्कृष्टतम विवेक से योगसाधक आत्मतत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जानने लगता है। जैसे-जैसे आत्मा के स्वरूप का बोध होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा के गुण साक्षात् होते जाते हैं। योगसाधक को आत्मा की निर्मलता, निर्लिप्तता का अनुभव होते ही वह समस्त जड़ वस्तुओं से अलग होना चाहता है। क्योंकि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश रूपी समस्त क्लेश जड़-मन में ही रहते हैं और आत्मा शुद्ध, मुक्त स्वभाव वाली है। अतः आत्मा मन से ही सर्वथा अलग होना चाहती है और अपने निजरूप में विद्यमान रहना चाहती है। यह वैराग्य का उत्कृष्टतम स्तर है कि आत्मा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार, बुद्धि आदि समस्त जड़ पदार्थों से हट कर केवल अकेला हो जाना चाहती है। यह ही पर-वैराग्य है।

यहाँ पर संक्षेप में अपर-वैराग्य एवं पर-वैराग्य को इस रूप में समझना चाहिए कि अपर-वैराग्य संसार में दुःख का साक्षात्कार कराकर आत्मा को संसार (कार्यजगत्) से विरक्त करता है। और पर-वैराग्य आत्मा को मूलप्रकृति (कारण जगत्) से विरक्त कर देता है। दोनों वैराग्यों में ये ही मुख्य भेद है। पर-वैराग्य के सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'

अर्थात् **तत्परम्**=वह पर-वैराग्य है **पुरुषख्यातेः**=आत्मा के साक्षात्कार होने पर **गुणवैतृष्ण्यम्**=सत्व, रज व तम गुणमात्र से (निर्मित समस्त प्रकट एवं अनिर्मित अप्रकट संसार से) तृष्णा=लालसा या भोगने की इच्छा व भोगों के साथ (संग) रहने की भी इच्छा समाप्त होती है। अर्थात् भोगों से

अलग=अकेला रहने की इच्छा होती है।

महर्षि पतञ्जलि के सूत्र को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्'

अर्थात् साक्षात् अनुभव किये हुए तथा शास्त्रों द्वारा सुने हुए विषयों में दोष= दु:ख देखने वाला योगसाधक, उन विषयों से विरक्त (अलग) होकर आत्मदर्शन करता है। आत्मदर्शन से आत्मा के गुणों का साक्षात् होने लगता है और आत्मा के गुणों का अच्छी तरह साक्षात् करने का बार-बार अभ्यास करने से '**तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिः**' अर्थात् अविद्या के कारण जो आत्मा स्वयं को कामी, क्रोधी, लोभी, मोही व अहंकारी समझती थी उसकी शुद्धि होकर अपने को नित्य, शुद्ध, मुक्त अनुभव करती है और प्रविवेक= प्रकृष्ट=उत्तम विवेक ज्ञानवाली बनकर '**गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरुक्त इति**' अर्थात् **गुणेभ्यः**=सत्व, रज व तम रूपी गुणों से जो कि व्यक्त और अव्यक्त के रूप में विद्यमान हैं अर्थात् व्यक्त से प्रकट=स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ जैसे पञ्चभूतों से निर्मित भोग्य सामग्री, और अव्यक्त से अप्रकट=सूक्ष्म रूप में विद्यमान पदार्थ अर्थात् साधारण जनता को न दिखने वाले पदार्थ जैसे तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, महत्तत्त्व रूपी बुद्धि एवं स्वयं सत्व, रज व तम रूपी गुण। इन सभी पदार्थों से योगसाधक विरक्त=हट जाता है अर्थात् अकेला हो जाता है, उनके संग में नहीं रहता है।

महर्षि वेदव्यास के इस कथन से अच्छी प्रकार स्पष्ट होता है कि अपर-वैराग्य से पर-वैराग्य कैसे भिन्न है। क्योंकि वे लिख रहे हैं कि प्रकट और अप्रकट पदार्थों से विरक्त होता है। यहाँ अप्रकट=सूक्ष्म पदार्थों से युक्त रहता हुआ योगसाधक अपने प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर सकता। इसलिए योगसाधक शरीर सहित इन्द्रियों, मन, अहंकार एवं बुद्धि से भी अलग होना चाहता है। इनसे अलग होने का ज्ञान ही प्रविवेक है। इसी स्थिति में पर-वैराग्य होता है। और अपर-वैराग्य में शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार व बुद्धि के संग में रहते हुए भोग्य सामग्री में अनिच्छा=अरुचि रखता है। इस स्थिति में मन, बुद्धि आदि से अलग होने का विवेक नहीं होता है। जो मनुष्य जिस

शरीर में रहता हो, जिन इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता हो तथा कर्मों को करता हो, जिस मन से संकल्प-विकल्प करता हो, जिस अहंकार से स्वयं आत्मा की अनुभूति करता हो और जिस बुद्धि से निर्णय लेता हो, उन्हीं से अलग होना चाहता हो, यह छोटी-मोटी स्थिति नहीं है। असंभव से लगने वाले को संभव बनाकर ही योगसाधक पर-वैराग्य को प्राप्त करता है। यह आत्मा की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। इस पर-वैराग्य से भिन्न और कोई उच्च स्थिति नहीं है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**तद् द्वयं वैराग्यम्**' अर्थात् वह, यह जो वैराग्य है, ये दो ही प्रकार का होता है। आगे लिखते हैं '**तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्**' अर्थात् उन दो प्रकार के वैराग्यों में जो पहला वैराग्य है वह पूर्व सूत्र (**दृष्टानुश्रविक.....**) में कहा गया अपर-वैराग्य है। और यह जो इस सूत्र में बताया जा रहा वैराग्य है, वह पर-वैराग्य है।

पाठकगण यहाँ पर इतना अवश्य समझ लेवें—

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'

इसमें '**अपर-वैराग्य**' शब्द से संकेत न तो सूत्रकार ने किया और न ही भाष्यकार वेदव्यास ने किया है। फिर भी इसे अपर-वैराग्य इसलिए कहा जा रहा है कि सूत्रकार ने '**तत्परम्**' कहकर पर-वैराग्य की चर्चा की है और भाष्यकार ने '**तद् द्वयं वैराग्यम्**' कह कर भाष्य किया है। इस प्रकार सूत्रकार एवं भाष्यकार के सूत्र व भाष्य की एकरूपता को देख कर परम्परा से समस्त योगसाधक एवं समस्त टीकाकारों ने '**दृष्टानुश्रविक.....**' सूत्र में कहे गये वैराग्य को '**अपर-वैराग्य**' शब्द से प्रस्तुत किया है।

महर्षि वेदव्यास ने पर-वैराग्य को '**ज्ञानप्रसादमात्रम्**' माना है। अर्थात् पर-वैराग्य में ज्ञान की पूर्ण शुद्धता होती है। '**पुरुष**' शब्द से आत्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण होता है। अपर-वैराग्य में आत्मा का ही पूरा-पूरा ज्ञान होता है और परमात्मा का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता है। परमात्मा का पूरा ज्ञान, पर-वैराग्य में हो जाता है।

जिस योगसाधक को पर-वैराग्य प्राप्त होता है। उसको किस प्रकार की अनुभूति होती है ? इस सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'यस्योदये योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते'

अर्थात् जिस पर-वैराग्य के मिल जाने पर सर्वोत्कृष्ट ज्ञान से परिपूर्ण

योगी इस प्रकार मानता है कि—

'प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः,
छिन्नः शिलष्टपर्वा भवसंक्रमः।'

अर्थात् **प्राप्तं** प्रापणीयम्= प्राप्त करने योग्य सब कुछ प्राप्त हो गया है। यह ऐसी उपलब्धि है कि संसार में इससे बढ़ कर और कोई उपलब्धि होती ही नहीं है। यह उपलब्धि विश्व प्रसिद्ध वक्ता, नेता, खिलाड़ी, डॉक्टर=वैद्य, इंजीनियर, वकील, अभिनेता, नोबल पुरस्कार विजेता आदि किसी को नहीं होती है। यह उपलब्धि केवल उन्हीं को होती है जो पर-वैराग्य को प्राप्त करते हैं। क्योंकि विश्व प्रसिद्ध जो कोई भी व्यक्ति हो, वह यह कथन कभी नहीं करता कि इस संसार में जो पाना था, सो पा लिया और कुछ पाने को बाकी नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है कि विश्व प्रसिद्ध व्यक्तियों में महत्त्वाकांक्षाएँ और अधिक बढ़ जाती हैं। जिससे वे विश्व प्रसिद्ध बनने से, पहले की अपेक्षा अधिक दुःखी देखे जाते हैं। क्योंकि उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती हैं। परन्तु योगी की समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। इसी कारण योगी यह कहता है कि जो पाना था सो पा लिया और पाने योग्य बाकी कुछ नहीं है।

क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः=नष्ट करने योग्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश नष्ट हो गये हैं। यह महान् उपलब्धि है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी इस उपलब्धि से वञ्चित रहते हैं। इस उपलब्धि को प्राप्त किये हुए योगियों में और वैज्ञानिकों में जो व्यवहार देखा जाता है वह यह है कि वैज्ञानिक चाहे कितना ही परोपकारी हो, फिर भी राग-द्वेष से युक्त प्रत्यक्ष देखा जाता है, परन्तु योगी-द्वेष से सर्वथा पृथक् रहता है। वैज्ञानिकों का योगियों से एक महान् अन्तर है, जिससे स्पष्ट होता है कि वे राग-द्वेष से क्यों युक्त हुआ करते हैं। जो व्यक्ति जिस वस्तु से सदा युक्त रहता है उस वस्तु का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है- जैसे कि वैज्ञानिक सदा जड़ वस्तुओं से युक्त रहते हैं। इस कारण जड़ वस्तुओं का प्रभाव उन पर है। राग-द्वेष जड़ वस्तुओं के कारण होते हैं। योगी परमात्मा के साथ सदा युक्त रहते हैं। इसलिए उन पर परमात्मा का प्रभाव पड़ता है। राग-द्वेष परमात्मा के कारण नहीं होते हैं। कथन करने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के सान्निध्य से

ही क्लेश समाप्त होते हैं। संसार में क्लेशों को दूर करने का परमात्मा के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है।

छिन्नः शिलष्टपर्वा भवसंक्रमः अर्थात् एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को प्राप्त करने रूप जन्म व मरण को भवसंक्रम कहते हैं। और यह जन्म व मरण मानो जंजीर के समान है जैसे एक कड़ी दूसरी कड़ी के साथ जुड़ी हुई होती है। ये कड़ियाँ इस प्रकार गुंथी हुई हैं कि निकलना बड़ा कठिन है। इस गुंथी हुई स्थिति को भाष्यकार ने **शिलष्ट** शब्द से स्पष्ट किया है और कड़ियों को **पर्व** शब्द से स्पष्ट किया है। एक वाक्य में कहा जाये-बार-बार जन्म-मरण की कड़ियों से जकड़ी हुई संसार-बन्धन रूपी जंजीर **छिन्नः**= नष्ट हो गई है। यह कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं है। कितना आत्मविश्वास है कि योगी यह कहे-मेरा अगला जन्म होगा ही नहीं। मैंने मृत्यु को जीत लिया है। मैं मृत्युञ्जय बन गया हूँ। यह साहस योगी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। पर-वैराग्य को प्राप्त न किये गये समस्त जन समुदाय बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं। इसी कारण महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

'यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति'

अर्थात् जो व्यक्ति पर-वैराग्य को प्राप्त कर के जन्म-मरण रूपी चक्र को छिन्न-भिन्न नहीं करता है। वह तो जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होता है और मृत्यु से फिर जन्म लेता रहता है। पर-वैराग्य के द्वारा ही इस महान् दुःखकारी जन्म-मरण के चक्र से हटा जा सकता है, और कोई उपाय नहीं है।

पूर्व सूत्र (**दृष्टानुश्रविक.....**) में विवेक और वैराग्य की चर्चा कर आये कि बिना विवेक के वैराग्य नहीं होता है। अर्थात् वैराग्य जिसे चाहे उसे हो जाता हो, ऐसा नहीं है। विवेक की परिभाषा करते हुए कहा गया था कि यथार्थ ज्ञान को विवेक कहते हैं। अभिप्राय यह हुआ है कि विवेक का अर्थ ज्ञान है। महर्षि वेदव्यास इसी ज्ञान को ही वैराग्य लिखते हैं। वे कहते हैं कि **'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्'** अर्थात् जानकारी की अन्तिम सीमा ही वैराग्य है। **'पराकाष्ठा'** शब्द अंतिम सीमा अर्थ में प्रयोग होता है। जानकारी की सीमा अर्थात् इसके आगे और कोई जानकारी बचती नहीं है, जानकारी पूरी हो गयी है, ऐसा माना जाता है। इसी को पूर्ण-ज्ञान के रूप में भी

व्यवहार में लाया जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर **'पूर्ण-विद्या'** शब्द प्रयुक्त किया है। सारांश यह है कि पूर्ण-विद्या या पूर्ण-ज्ञान को वैराग्य कहते हैं।

ज्ञान तो ज्ञान ही होता है, इसमें पूर्ण और अपूर्ण क्या होता है ? इसका समाधान यह है कि यदि कोई व्यक्ति किसी दुकान पर रखे हुए द्राक्ष (अंगूर) को देखे, तो ज्ञान होता है कि ये द्राक्ष-फल हैं। परन्तु यह न जाने कि ये द्राक्ष कच्चे हैं, खट्टे हैं, अधपके हैं अथवा किसी कृत्रिम औषधि से पका कर खाने योग्य बनाये गये, पर मीठे नहीं है। यह सब जानकारी न होने को अपूर्ण-ज्ञान कहते हैं। वे व्यक्ति पूर्ण-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो द्राक्ष-फल लेने या न लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं।

ज्ञान सर्वदा प्रवृत्ति या निवृत्ति का कारण बनता है। सुखदायी वस्तु के प्रति प्रवृत्ति होती है और दु:खदायी वस्तु के प्रति निवृत्ति होती है। सारांश यह है कि पूर्ण-ज्ञान से सुख की प्राप्ति होती और दु:ख की निवृत्ति होती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति दु:खी है, तो उसके पास पूर्ण-ज्ञान नहीं है और कोई व्यक्ति सुखी है, तो उसके पास पूर्ण-ज्ञान है। परन्तु पूर्ण-ज्ञान है या नहीं इसके पीछे यह जानकारी भी होनी आवश्यक है कि उसके जीवन में भ्रम न हो, संशय न हो बल्कि निर्णयात्मक जानकारी हो, ताकि वह बार-बार ज्ञान न बदले। इसी स्थिति में पूर्ण-ज्ञान है, ऐसा माना जायेगा। उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी—जैसे हम सब को जानकारी है कि अग्नि में हाथ डालने से हाथ जलेगा। अर्थात् हमें इस विषय में पूर्ण-ज्ञान है। इस कारण हम कभी अग्नि में हाथ नहीं डालते हैं। इसके परिणामस्वरूप हम हाथ-जलने रूपी दु:ख से बच जाते हैं। इस सम्बन्ध में हमें न तो भ्रम रहता है, न ही संशय रहता है और न ही निर्णय बदलते हैं। इसी का नाम पूर्ण-ज्ञान है। यह पूर्ण-ज्ञान ही वैराग्य है। साधारण रूप से जनसमुदाय में जीवन के सभी पहलुओं में पूर्ण-ज्ञान नहीं होता है। इसी कारण जीवन को सफल नहीं बना पाते हैं।

पिछले सूत्र में ज्ञान रूपी विवेक को वैराग्य का कारण बताया गया था। इस संदर्भ में ऐसा समझना चाहिए कि किसी वस्तु का साधारण ज्ञान, पूर्ण-ज्ञान प्राप्त कराने वाला होता है। यदि वस्तु के विषय में साधारण ज्ञान

भी न हो, तो उस वस्तु का पूर्ण-ज्ञान भी कभी नहीं होता। इसी कारण विवेक को वैराग्य का कारण बताया गया है।

प्रायः करके हमारे पास अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित जानकारी तो है, परन्तु वह जानकारी अपूर्ण है। हम सबका प्रयास यही होना चाहिए कि जो जानकारी है, उसे पूर्ण करना है, जिससे हम वैराग्यवान् बनकर जीवन को सफल बना सकें। पूर्ण-ज्ञान से ही सफलता मिलेगी, ऐसा महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'एतस्यैव **हि** नान्तरीयकं कैवल्यमिति।'

अर्थात् इसी पूर्ण-ज्ञान रूपी वैराग्य के होने पर ही कैवल्य=मोक्ष=मुक्ति का होना अवश्यंभावी है। यहाँ पर अवश्यंभावी का अभिप्राय है कि जिसके बिना जो न हो अर्थात् वैराग्य के बिना मोक्ष नहीं होता। वैराग्य ही मोक्ष का सीधा कारण है। इसीलिए महर्षि कपिल ने कहा है '**ज्ञानान्मुक्तिः**' अर्थात् ज्ञान से मुक्ति-मोक्ष मिलता है।

❖❖❖❖❖

संप्रज्ञात-समाधि

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥

महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने सूत्र और भाष्य में योग (**अथ योगानुशासनम्, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**) की परिभाषा तथा योग के दो (संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात) भेदों की चर्चा की। साथ में यह भी कहा है कि मन की व्यापार रूपी वृत्तियों को रोकने के उपाय अभ्यास एवं वैराग्य हैं।

कोई भी योगसाधक ऋषियों की परम्परा से चलते हुए मन की वृत्तियों को रोकने का निरन्तर अभ्यास कर-करके अपने ज्ञान को विस्तार देते हुए वैराग्य को प्राप्त कर ले, तो क्या उसे योग की सिद्धि हो जायेगी ? इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिन ऋषियों ने स्वयं अभ्यास व वैराग्य के द्वारा योग को साक्षात् किया हो, ऐसे आप्त पुरुषों के पदचिह्नों पर चलते हुए योग को सिद्ध न किया जा सके अर्थात् अवश्य सिद्ध किया जायेगा। सिद्ध किया जाने वाला योग दो प्रकार का है, जैसा कि '**अथ योगानुशासनम्**' में बताया

गया। एक संप्रज्ञात-योग है और दूसरा असंप्रज्ञात-योग है। महर्षि वेदव्यास ने योग की परिभाषा संक्षेप में 'समाधि' की है। इसलिए योग को संप्रज्ञात-समाधि और असंप्रज्ञात-समाधि शब्दों से भी कहा जाता है।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'**अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति।**'

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन के व्यापार को रोक लिया जाने पर योगसाधक की जो संप्रज्ञात-समाधि होती है वह किस प्रकार की होती है? इसका समाधान स्वयं सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः'

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता स्वरूपों से चार प्रकार के भेद वाली संप्रज्ञात-समाधि होती है। वितर्क स्वरूप वाली, विचार स्वरूप वाली, आनन्द स्वरूप वाली तथा अस्मिता स्वरूप वाली समाधियाँ हैं। यहाँ पर वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता, ये पारिभाषिक शब्द हैं। स्वयं महर्षि वेदव्यास इन शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'वितर्कश्चित्तस्याऽऽलम्बने **स्थूल आभोगः।**'

अर्थात् मन के आलम्बन में स्थूल पदार्थों का प्रत्यक्ष होना वितर्क नामक समाधि है। यहाँ पर '**आलम्बन**' शब्द का अर्थ आश्रय=सहारा है। '**आभोगः**' शब्द का अर्थ पदार्थ=वस्तु है। आभोग का अर्थ पदार्थ इसलिए किया जा रहा है कि महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में भोग शब्द का अर्थ 'पदार्थ' किया है। इसी कारण यहाँ 'पदार्थ' यह अर्थ किया जा रहा है।

योगसाधक संप्रज्ञात-समाधि लगाने के लिए समस्त विचारों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति रूप वृत्तियों) को रोक कर मन के माध्यम= सहारे से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का ध्यान करता है। वह ध्यान जब समाधि के रूप में परिवर्त्तित होता है तब पञ्चभूतों का साक्षात्कार होता है।

यहाँ पर पाठकगण यह समझ लेवें कि जिस अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष करना है, उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि योग-साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने ही शरीर में एक स्थान पर रोकता है, उसे धारणा कहते

हैं। जहाँ धारणा होती है, वहाँ ध्यान करना होता है और जहाँ ध्यान होता है वहीं समाधि लगती है। सार यह हुआ कि धारणा, ध्यान व समाधि योग-साधक के शरीर से बाहर नहीं होंगे। तो पृथिवी, जल आदि का साक्षात्कार क्या शरीर में होगा ? इसका समाधान यह है कि पञ्चभूतों से निर्मित हमारा शरीर है। शरीर कार्य है, जो प्रत्यक्ष है और शरीर का कारण पञ्चमहाभूत हैं, जो अप्रत्यक्ष हैं, इन्हीं अप्रत्यक्ष पञ्चभूतों का प्रत्यक्ष अपने ही शरीर में होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है। महर्षि वेदव्यास ने पञ्चमहाभूतों के साक्षात्कार को **'स्थूल आभोगः'** शब्द से कहा है और इन स्थूल-भूतों के साक्षात्कार को वितर्क-समाधि शब्द से परिभाषित किया है। यह संप्रज्ञात-समाधि का पहला भेद है।

संप्रज्ञात-समाधि का दूसरा भेद—'सूक्ष्मो विचारः' अर्थात् योग-साधक मन के सहारे से सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार करता है। इसे विचार नामक समाधि कहते हैं। गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा को सूक्ष्म-भूत कहते हैं। इन्हीं सूक्ष्म-भूतों के साक्षात्कार को महर्षि वेदव्यास ने विचार-समाधि शब्द से कहा है। योगसाधक इन सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार अपने ही शरीर में करता है।

संप्रज्ञात-समाधि का तीसरा भेद—'आनन्दो ह्लादः' अर्थात् योग-साधक मन के सहारे से पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पाञ्च कर्मेन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्वरूपी बुद्धि एवं सत्त्व, रज व तम गुणों का साक्षात्कार करता है। इसे आनन्द नामक समाधि कहते हैं। यहाँ पर मन के माध्यम से दसों इन्द्रियों, अहंकार, महत्तत्त्व और सत्व, रज व तम का साक्षात्कार होना, तो समझ में आता है। परन्तु मन का साक्षात्कार किसके माध्यम से होता है ? इसका समाधान यह है कि जब मन के माध्यम से आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है, तो आत्मा मन का भी साक्षात्कार करना चाहता है, तब मन स्वयं अपना स्वरूप दिखा देता है। यहाँ पर मन स्वयं साध्य=सिद्ध करने योग्य है और साधन भी बन रहा है, अर्थात् स्वयं को स्वयं के द्वारा दिखाता है। मन दूसरे पदार्थों को दिखाने में साधन के रूप में कार्य करता है और स्वयं के संबन्ध में साधन भी और साध्य भी बनता है, ऐसा समझना चाहिए।

संप्रज्ञात-समाधि का चौथा भेद—'एकात्मिका संविदस्मिता'

अर्थात् योगसाधक अपने निज स्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार चाहता है, तो मन के सहारे से अपने निज स्वरूप=आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। इसे अस्मिता नामक समाधि कहते हैं। इस अस्मिता नामक समाधि में जीवात्मा अपने निज स्वरूप=नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव को साक्षात् अनुभव करती है। इतना ही नहीं अपनी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि २४ शक्तियों का साक्षात्कार करती है। महर्षि वेदव्यास ने इस भेद को अस्मिता-समाधि शब्द से कहा है।

योगसाधक जिस तत्परता से निरन्तर यम-नियमों का अभ्यास करता हुआ विवेक और वैराग्य को प्राप्त कर लेता है। उस परिस्थिति में संप्रज्ञात-समाधि को आत्मसात् करने के लक्ष्य को किस प्रकार पूर्ण करता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः।'

अर्थात् योगसाधक एकाग्रता से युक्त होकर संप्रज्ञात-समाधि लगा लेता है, तो उस समाधि में पञ्चमहाभूतों का साक्षात्कार करता हुआ सूक्ष्मभूत, इन्द्रियों, मन, अहंकार, बुद्धि, सत्व, रज, तम व आत्मा का साक्षात्कार करने की इच्छा से युक्त रहता है। अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि के चारों भेदों वाली समाधियों में से पहली समाधि का साक्षात्कार करता हुआ योगसाधक बाकी तीनों समाधियों का साक्षात्कार करने की इच्छा रखता है। मानो कि योगी स्थूल=पञ्चमहाभूतों वाली वितर्क-समाधि सहित शेष तीनों समाधियों से युक्त रहता है, ऐसा समझना चाहिए।

'द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः।' अर्थात् योगी सूक्ष्म-भूतों=तन्मात्राओं का साक्षात्कार करता हुआ शेष आनन्द व अस्मिता नामक समाधि से युक्त रहता है। इसमें वितर्क इसलिए नहीं रहता है, क्योंकि वह हस्तगत हो चुका है। अब उद्देश्य है सूक्ष्म-भूत, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, सत्त्व, रज, तम व आत्मा। इसलिए दूसरी समाधि को वितर्क रहित विचार सहित, आनन्द व अस्मिता समाधि से युक्त रहने की बात कही गयी है।

'तृतीयो विचारविकलः सानन्दः।' अर्थात् योगी विचार-समाधि से रहित आनन्द-समाधि सहित अस्मिता-समाधि से युक्त रहता है। सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार हो चुका है, इस कारण इस समाधि में उसे छोड़कर आनन्द-

समाधि की चर्चा की है। इस समाधि में दसों इन्द्रियों, मन, अहंकार, बुद्धिरूपी महत्तत्त्व एवं सत्व, रज व तम का साक्षात्कार करता हुआ आत्म-साक्षात्कार करने की इच्छा रखता है। इसी कारण इसे सानन्द-समाधि कहा गया है।

'चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति' अर्थात् योगी इस चौथी समाधि में केवल आत्मा का साक्षात्कार करता है। क्योंकि पहले की तीनों समाधियों को हस्तगत कर लिया था। इस कारण यहाँ **'तद्विकलः'** कह कर आनन्द से रहित माना। साथ में उन को वितर्क और विचार से भी रहित समझ लेना चाहिए।

'सर्व एते सालम्बनाः समाधयः'

महर्षि वेदव्यास ने संप्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत आने वाली चारों (वितर्क, विचार, आनन्द व अस्मिता) समाधियों को **सालम्बनाः**=सहारों वाली समाधियाँ माना है अर्थात् योगी स्वयं अपने-आप बिना मन के सहयोग से इन समाधियों को नहीं लगा सकता। आत्मा सीधे ही इनका साक्षात्कार नहीं करती बल्कि मन के माध्यम से करती है। ऐसा समझना चाहिए।

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः' इस सूत्र का सार यह हुआ कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व आकाश का साक्षात्कार करने वाली वितर्क-समाधि, पञ्च तन्मात्राओं का साक्षात्कार कराने वाली विचार-समाधि, दसों इन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्व, सत्त्व, रज व तम का साक्षात्कार कराने वाली आनन्द-समाधि एवं आत्मा का साक्षात्कार कराने वाली अस्मिता-समाधि को संप्रज्ञात-समाधि कहते हैं। इस प्रकार संप्रज्ञात-समाधि के चार भेद होते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

❖❖❖❖

असंप्रज्ञात-समाधि

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

महर्षि वेदव्यास ने 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र के भाष्य में मन की पांच (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध) अवस्थाओं में से एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओं को ही योग स्वीकार किया है। एकाग्र अवस्था में

संप्रज्ञात-समाधि लगती है, जो चार भेद (वितर्क, विचार, आनन्द व अस्मिता) वाली है। चार भेद वाली संप्रज्ञात-समाधि की चर्चा पिछले सूत्र में की गयी है। महर्षि वेदव्यास आगे असंप्रज्ञात-समाधि के बारे में प्रश्न उठाते हुए लिखते हैं—

'अथासंप्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किं स्वभावो वेति।'

अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि किस स्वरूप वाली है और उसको प्राप्त करने का कौन सा उपाय है? इसका समाधान महर्षि पतञ्जलि ने '**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः**' कह कर दिया है। सूत्र में विराम शब्द का अभिप्राय है- 'रुक जाना', किसका रुकना? वृत्तियों (=प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति) का रुकना। साथ में एकाग्रता की अवस्था में होने वाली संप्रज्ञात-समाधि का भी रुकना लिया गया है। प्रत्यय शब्द का अभिप्राय है- पर-वैराग्य। अभ्यासपूर्व का अर्थ है प्रयत्नपूर्वक। संस्कार शेष का अर्थ है मन में संस्कारों की विद्यमानता और अन्य शब्द का अर्थ है भिन्न। किससे भिन्न? संप्रज्ञात-समाधि से भिन्न अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि। सूत्र का एक वाक्य में अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि पर-वैराग्य का बार-बार अभ्यास करके संप्रज्ञात-समाधि सहित प्रमाण, विपर्यय आदि सभी वृत्तियों के रुक जाने पर मन निरुद्ध अवस्था में पहुँचता है। इस अवस्था में मन केवल संस्कारों वाला रह जाता है। इस स्थिति में संप्रज्ञात-समाधि से भिन्न असंप्रज्ञात-समाधि लगती है।

यहाँ पर महर्षि वेदव्यास सूत्र को समझाते हुए लिखते हैं—

'सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः।'

अर्थात् सभी वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय आदि एवं संप्रज्ञात-समाधि) के रुक जाने पर केवल संस्कारों वाले निरुद्ध मन की असंप्रज्ञात-समाधि होती है।

यहाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति रूप पाञ्चों वृत्तियों का रुक जाना तो समझ में आता है परन्तु संप्रज्ञात-समाधि को भी रोकने की बात क्यों की जा रही है? इसका समाधान यह है कि मन की पाञ्च अवस्थाओं (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध) में से एकाग्र-अवस्था में संप्रज्ञात समाधि लगती है। मन एक समय एक अवस्था में रहता है। जिस समय

एकाग्र-अवस्था में मन रहेगा, तो क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त को रोक कर रहेगा। इसी प्रकार मन निरुद्ध-अवस्था में रहेगा, तो एकाग्र-अवस्था को रोक कर ही रहेगा। इसके बिना निरुद्ध-अवस्था नहीं आ पायेगी। इसीलिए सूत्रार्थ एवं भाष्य में संप्रज्ञात-समाधि को रोकने की बात कही जा रही है।

संस्कारशेषः सूत्र एवं भाष्य में संस्कारशेष की चर्चा आ रही है। संस्कार का अभिप्राय इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी ने अपने निवास स्थान के पते को रबर स्टांप बनवाकर रखा हो। उसे किसी लिफाफे पर अंकित करता है, तो उस छाप को संस्कार कहते हैं। रबर स्टांप पर जो अक्षर हैं, वैसा ही लिफाफे पर अंकित हुआ। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जिन-जिन विषयों को मन के माध्यम से जानता है, वे जाने हुए विषय मन पर अंकित होते हैं। मन पर अंकित उस छाप को ही संस्कार कहते हैं। मन की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त अवस्थाओं में जिन-जिन विषयों में मन की प्रवृत्ति हुई है उन-उन विषयों के मन पर संस्कार हैं। इसी के साथ एकाग्र-अवस्था में जो संप्रज्ञात-समाधि लगी थी, उसके भी मन में संस्कार हैं। ये सभी संस्कार मन में रहते हैं, फिर भी असंप्रज्ञात-समाधि लग सकती है, इसमें कोई बाधा नहीं आयेगी क्योंकि वृत्तियों को रोकने से निरुद्ध-अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। निरुद्ध अवस्था में असंप्रज्ञात-समाधि लग ही जाती है।

यहाँ पर कोई प्रश्न उठा सकता है कि जैसे वृत्तियों से संस्कार बनते हैं वैसे ही संस्कारों से प्रेरित हो कर वृत्तियाँ भी तो उत्पन्न हो सकती हैं, क्योंकि जैसे वृत्तियों से संस्कार बनते हैं वैसे संस्कारों से वृत्तियाँ भी बनती हैं, ऐसा ऋषियों का मन्तव्य है। इसका समाधान यह है कि जिसने वैराग्य को प्राप्त नहीं किया, उसी में यह नियम लागू होता है क्योंकि अवैराग्य की स्थिति में संस्कारों से वृत्तियाँ बनती हैं परन्तु यह इस असंप्रज्ञात-समाधि के प्रसंग में बिलकुल नहीं घटता, यहाँ पर अवैराग्य का प्रसंग ही नहीं है, क्योंकि अवैराग्य को रोक कर वैराग्य को प्राप्त किया गया है और वह वैराग्य भी पर-वैराग्य है। इसीलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तस्य परं वैराग्यमुपायः'

अर्थात् मन की निरुद्धावस्था में जो असंप्रज्ञात-समाधि लगती है, उसका उपाय पर-वैराग्य है। इस प्रकार से पर-वैराग्य के बल पर योग-साधक समस्त

वृत्तियों को रोक कर असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त कर लेता है। भले ही मन में पूर्व जाने हुए विषयों से संबन्धित संस्कार हों। वे संस्कार असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने में बाधक नहीं बनते हैं। इसलिए सूत्रकार एवं भाष्यकार ने संस्कार-शेष कह कर असंप्रज्ञात-समाधि की चर्चा की है।

यहाँ पर कोई यह भी न समझे कि ये संस्कार बचे रहते हैं, तो इनकी क्या गति होगी? इसका समाधान है कि निरुद्धावस्था वाले मन में भी निरुद्धावस्था के संस्कार बनते हैं। उनको निरोध-संस्कार कहते हैं। ये निरोध-संस्कार क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त व एकाग्र वाले समस्त संस्कारों को दबाते हैं। निरोध-संस्कार पूर्वकृत संस्कारों को सदा दबा के ही रखते हैं और निरोध-संस्कार मन का कार्य (मोक्ष को प्राप्त कराने पर) पूर्ण होने पर मन के साथ मन के कारण सत्त्व, रज व तम में विलीन हो जाते हैं और निरोध-संस्कारों से अतिरिक्त पूर्वकृत संस्कार ज्ञानरूपी अग्नि से जले हुए (भुने हुए) बीज के समान होकर भी मन के साथ ही सत्त्व, रज व तम में विलीन हो जाते हैं। जब तक संस्कार ज्ञानरूप अग्नि से जले हुए बीज के समान नहीं होते हैं तब तक तनु (मृदु-कमजोर) रूप में मन में बने रहते हैं। इसलिए '**संस्कार-शेषः**' शब्द से असंप्रज्ञात-समाधि को कहा गया है।

मन की निरुद्धावस्था में मन का कार्य एक प्रकार से पूरा हो जाता है। क्योंकि निरुद्ध का अर्थ है प्रवृत्त न होना अर्थात् वृत्ति उत्पन्न न करना=ज्ञानात्मक कार्य रहित हो कर अपने निज रूप में रहना। मन के दो कार्य हैं- एक भोग करवाना, दूसरा मोक्ष दिलाना। मोक्ष दिलाने के लिए निरुद्ध हो जाना ही दूसरा कार्य है। इस स्थिति में मन का कार्य बन्द हो जाता है। आत्मा का संबन्ध सीधा परमात्मा के साथ जुड़ जाता है। इस बात को समझाने के लिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते'

अर्थात् आलम्बन=सहारे से उस असंप्रज्ञात-समाधि को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए मन को निरुद्ध=रोककर, मन को कार्य मुक्त कर पर-वैराग्य के माध्यम से वस्तु के बिना ही असंप्रज्ञात-समाधि को लगाया जाता है। भाष्यकार आगे लिखते हैं कि '**स चार्थशून्यः**' अर्थात् वह असंप्रज्ञात-

समाधि वस्तु से रहित है। अभिप्राय यह है कि असंप्रज्ञात-समाधि किसी जड़ वस्तु के सहारे से नहीं लगती है। बल्कि जड़ वस्तु रूपी मन को रोक कर=कार्य मुक्त कर के ही लगती है, ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ पर यह भी अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि पूर्व सूत्र में संप्रज्ञात-समाधि की चर्चा में वितर्क, विचार, आनन्द व अस्मिता भेद से चार समाधियों को सालम्बन समाधियाँ माना और इस सूत्र के असंप्रज्ञात-समाधि को निरालम्बन समाधि माना है। सालम्बन का अर्थ जड़ वस्तु के सहारे से होने वाली समाधियाँ और निरालम्बन का अर्थ है जड़ वस्तु के सहारे बिना जीवात्मा स्वयं समाधि को प्राप्त होता है। यहाँ कोई यह भी न समझे कि मन का कोई सहयोग नहीं है, क्योंकि पर-वैराग्य को प्राप्त होने तक मन का पूर्ण सहयोग है। पर-वैराग्य के बाद मन का कार्य पूरा हो जाता है, तब उस मन का सीधा कोई सहयोग नहीं होता है। इस बात को महर्षि वेदव्यास ने आगे इस प्रकार वर्णन किया है—

'तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः।'

अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि का कारण बनने वाले उस पर-वैराग्य का बार-बार अभ्यास करके मन निरालम्बन=कार्य विमुक्त बन जाता है अर्थात् जिस प्रयोजन को सिद्ध करवाना चाहता है, उस प्रयोजन को सिद्ध करा कर मन प्रयोजन-मुक्त हो जाता है। इस कारण असंप्रज्ञात-समाधि के काल में मन रहता हुआ भी मानो नहीं है। एक प्रकार से मन का अभाव सा रहता है। ईश्वर का संबन्ध यहाँ मन से न हो कर सीधा आत्मा से ही होता है। इस स्थिति में इस समाधि को निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। ऐसी असंप्रज्ञात-समाधि, जिसमें अविद्या रूपी बीज नहीं है उसे निर्बीज-समाधि कहते हैं।

जीवात्मा बार-बार जन्म इसलिए लेता है, क्योंकि जन्म का कारण-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश बने रहते हैं। इन्हें पञ्च-क्लेश भी कहते हैं। इस पञ्च क्लेश रूपी अविद्या के होने पर जन्म मिलता है। एक प्रकार से जन्म का बीज अविद्या है। असंप्रज्ञात-समाधि अविद्या को नष्ट करने वाली होती है। इस प्रकार जन्म को देने वाली अविद्या बीज है, बीज को नष्ट करने वाली असंप्रज्ञात-समाधि है।

'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'

सूत्र का संक्षेप से अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि पर-वैराग्य का बार-बार अभ्यास कर संस्कार-शेष वाले व निरुद्धावस्था वाले मन की संप्रज्ञात-समाधि से भिन्न असंप्रज्ञात-समाधि होती है।

❖❖❖❖❖

भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय आत्मा को सुखी करने के लिए हैं। यद्यपि प्रलय से सीधा-सीधा आत्मा को सुख नहीं मिलता, फिर भी वह परोक्ष रूप में सुख का कारण बनती है। संसार की स्थिति में जो सुख का दोहन हुआ था, उस सुख को पुनः एकत्रित करने हेतु प्रलय का होना अति आवश्यक है। जैसे किसान फसल लेकर धरती को जोत देता है व कुछ समय के लिए बिना बोये रखता है। संसार का बार-बार बनना और बिगड़ना आत्माओं के बार-बार जन्म लेने के लिए है। आत्माएँ बार-बार जन्म इसलिए लेती हैं कि उन्हें मुक्त होना है। मुक्त होने के लिए अनेकों बार जन्म लेना अनिवार्य है। अनन्त जैसे लगने वाले मुक्ति-सुख को एक-दो जन्मों के पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रश्नपूर्वक लिखते हैं—**'मुक्ति एक जन्म में होती है वा अनेक जन्मों में? अनेक जन्मों में'**।

पिछले सूत्र में हमने असंप्रज्ञात-समाधि का स्वरूप एवं उसे प्राप्त करने के उपाय के संबन्ध में चर्चा की थी। यहाँ पर असंप्रज्ञात-समाधि के भेदों की चर्चा की जा रही है। संप्रज्ञात-समाधि के चार भेद थे। असंप्रज्ञात-समाधि के संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स खल्वयं द्विविधः-उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च।'

अर्थात् यह जो असंप्रज्ञात-समाधि है, उसके दो भेद हैं। एक उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि, दूसरी भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि। पहले भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि की चर्चा करेंगे। 'भवप्रत्ययो

विदेहप्रकृतिलयानाम्' इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि विदेह नामक योगी की और प्रकृतिलय नामक योगी की भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि होती है।

भवप्रत्यय

भव का अर्थ है होना। संसार में जो कुछ भी हो रहा होता है, उसे भव कहते हैं; और जो कुछ हो रहा है, उसकी जानकारी को प्रत्यय शब्द से कहते हैं। संसार में घटित होने वाली स्थिति की जानकारी का नाम भवप्रत्यय है। संसार में क्या हो रहा है ? संसार में जन्म हो रहा है एवं मृत्यु हो रही है अर्थात् एक धारा जन्म की चल रही है, तो दूसरी धारा मृत्यु की चल रही है। ये दोनों धाराएँ एक-दूसरे के विपरीत क्रम से निरन्तर चल रही हैं। संसार में दृष्टि डाल कर देखें (=सिक्के के एक पहलू पर) कि वृक्ष, वनस्पति, औषधि, वीरुध, कीट-पतंग, सरीसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य और मनुष्य के द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले विभिन्न संसाधनों की उत्पत्ति अर्थात् जन्म होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। दूसरी ओर इन्हीं सब का विनाश अर्थात् मृत्यु होती हुई दिखाई दे रही है। यह दूसरा पहलू है। इन दो प्रकार की धाराओं के प्रति दो प्रकार के योगियों की दृष्टि पड़ती है। एक प्रकार के योगी जन्म के प्रति दृष्टि डालते हैं, तो दूसरे प्रकार के योगी मृत्यु के प्रति दृष्टि डालते हैं। जो जन्म के प्रति दृष्टि डालते हैं, वे विदेह नामक योगी कहलाते हैं और जो मृत्यु के प्रति दृष्टि डालते हैं, वे प्रकृतिलय योगी कहलाते हैं।

उत्पत्ति रूपी जन्म के प्रति और विनाश रूपी मृत्यु के प्रति दृष्टि डालने मात्र से हर कोई योगी नहीं बनता। वे ही बन पाते हैं, जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरों से अथक पुरुषार्थ करते हुए, तीव्र इच्छा को उत्पन्न करते हुए, घोर तपस्या करते हुए, उत्तम विधि को अपनाते हुए और अपने अनुकूल साधनों का प्रयोग करते हुए जीवन बिताये हैं। इन का छोटा-मोटा अभ्यास नहीं रहा है। ये तो दीर्घकाल से, निरन्तर, सत्कारपूर्वक अभ्यास करते हुए जैसे एक-एक बून्द से तालाब भर दिया जाये, उसी के समान एक-एक जन्म में थोड़ा-थोड़ा संचय करते-करते आ रहे हैं। मुक्ति के योग्य अपने संचय के साथ-साथ विवेक को निखारते हुए वैराग्य को भी थोड़ा-थोड़ा संचय किया है।

वैराग्य रूपी घड़ा भर गया, तो उन्हें अपर-वैराग्य भी हो गया। जिससे संप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त हो कर धन्य हुए। संप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने के लिए अथक पुरुषार्थ करते रहे। इसी बीच में विधाता के नियमानुसार पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार यह जो शरीर मिला, जिसमें रहते हुए उच्च वैराग्य को प्राप्त करने के लिए वे प्रयत्न कर रहे थे, वह यह शरीर विधान के अनुरूप मुक्ति के प्रयोजन को पूरा किये बिना काल से ग्रसित (=मृत्यु को प्राप्त) हो गया।

योगी को अब पुनः शरीर मिला, इस शरीर में आते ही जैसे होश संभालने लगा, वैसे ही '**भवप्रत्यय**' का विशेष ज्ञान हुआ। इस ज्ञान के होते ही प्रथम प्रकार के योगी, विदेह नामक योगी बने गये। कैसे बन गये? इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र दे रहा है कि पूर्व-जन्म में किये हुए पुरुषार्थ के कारण संप्रज्ञात-समाधि प्राप्त हुई थी वे संस्कार इस नये जन्म में भी आ गये। जिनके कारण वे योगी होश संभालते ही संवेदनशील होकर पुरुषार्थ करने लगे। उनमें से एक योगी उत्पत्ति=जन्म के प्रति आकर्षित हो गये व उससे भयभीत होने लगे। जन्म से भय इसलिए है कि जन्म ही दुःख का कारण है। क्योंकि जन्म लेते ही नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इस कारण उत्पन्न हुई वस्तु के प्रति उसे वैराग्य होने लगता है। इतना ही नहीं उस योगी को अपने शरीर के प्रति भी वैराग्य होता है। उस योगी को स्वयं का शरीर भी दुःखदायी दिखने लगता है। उसे अपनी इन्द्रियों, मन, अहंकार, बुद्धि से वैराग्य हो जाता है। उसे सत्त्व, रज व तम रूपी गुणों के प्रति तृष्णा नहीं रहती, '**गुणवैतृष्ण्यम्**' की स्थिति बन जाती है। ऐसी स्थिति में योगी शरीर में रहते हुए भी स्वयं आत्मा को शरीर से अलग प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इसे '**विदेह**' शब्द से कहा गया है। अर्थात् विदेह का अभिप्राय 'शरीर में रहते हुए भी अपने को शरीर से अलग प्रत्यक्ष करना' है। इस स्थिति में योगी को पर-वैराग्य प्राप्त हो जाता है। जिससे असंप्रज्ञात-समाधि लग जाती है अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

ईश्वर-साक्षात्कार का बार-बार अभ्यास कर-करके योगी अपने पाप-पुण्य के वासना रूप संस्कारों को दग्ध बीज (भुने हुए बीज के समान) बनाता है। यह कार्य ईश्वर से प्राप्त ज्ञान से योगी कर पाता है। योगी को जो

कार्य करना था, सो पूरा हो गया है। अब योगी का कोई कार्य शेष बचा हुआ नहीं है। इस स्थिति में योगी का यह विद्यमान-शरीर अन्तिम-शरीर होता है। इस शरीर के छूटते ही वह मुक्ति में जायेगा। ऐसे योगी को **'जीवन मुक्त'** कहा जाता है। वह योगी जीते जी मुक्ति जैसा अनुभव करता है। यह विदेह नामक योगी प्रतीक्षारत है कि कब यह शरीर छूटे, जिससे मुक्ति में जाया जाये। इस संबन्ध में कोई यह न समझे कि योगी का कार्य तो पूर्ण हो गया, फिर क्यों मुक्ति में नहीं जाता, ईश्वर को उस योगी को मुक्ति में ले जाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि योगी का कार्य तो पूर्ण हुआ है। परन्तु जिन कर्मों के कारण शरीर मिला है, उसके फल को पूर्ण किये बिना परमेश्वर योगी के शरीर को समाप्त नहीं कर सकता। इसीलिए योगी प्रतीक्षा करता हुआ पूर्व-जन्म के फलों को पूर्ण करने में लगा रहता है। इस संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन
चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः
स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति'

अर्थात् अविद्या से रहित दिव्य गुणों (=ईश्वर के ज्ञान, बल, सामर्थ्य) से संपन्न विदेह नामक योगियों को भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि होती है। वे अपने पूर्व-जन्म के धर्माधर्म रूप संस्कारों के फलस्वरूप भोग को कराने वाले मन के द्वारा जीवन-यापन करते हुए वर्तमान के असंप्रज्ञात-समाधि के फल रूप कैवल्य का आनन्द लेते हुए मुक्त होने की प्रतीक्षा में रहते हैं।

यहाँ पर **'संस्कारमात्रोपयोगेन'** का अभिप्राय है कि संस्कार दो प्रकार के होते हैं, एक अविद्या आदि क्लेशों के कारण बनने वाले वासना रूप संस्कार हैं। दूसरे पुण्य-पाप कर्म करने के कारण बनने वाले धर्म व अधर्म रूप संस्कार हैं। विदेह नामक योगी में जीवन-मुक्त होने से वासना रूप संस्कार नहीं होते हैं, क्योंकि अविद्या समाप्त हो गई होती है। इस कारण दूसरे प्रकार के जो सुख और दुःख रूप कर्मफल देने वाले धर्म और अधर्म-संस्कार हैं, उन्हीं को यहाँ पर लेना चाहिए। स्वयं महर्षि वेदव्यास ने 'स्वसंस्कारविपाकम्' शब्द से भी यही संकेत किया है। जो धर्म व अधर्म

रूप संस्कार बचे हुए थे, जिनके कारण विदेह-योगी का जन्म हुआ। अब असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त कर उसने वासना रूप संस्कारों को तो दग्धबीज करके एक बड़े प्रयोजन को पूर्ण किया है, परन्तु वह अभी बचे हुए पूर्वकृत कर्म के फलों को भोग रहा है। उन कर्मों के समाप्त होते ही विदेह योगी मुक्त हो जायेगा। यह विदेह नामक भवप्रत्यय योगी का वर्णन पूर्ण हुआ। आगे प्रकृतिलय योगी का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

प्रकृतिलय योगी

जिस प्रकार विदेह नामक योगी जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से बनते हैं, उन्हीं के समान प्रकृतिलय योगी भी जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से बनते हैं। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि विदेहयोगी जन्म से प्रभावित हो कर बनते हैं और प्रकृतिलययोगी मृत्यु से प्रभावित हो कर बनते हैं।

जन्म लेकर ये जैसे ही होश संभालते हैं, वैसे ही उनके पूर्व-जन्म में प्राप्त संप्रज्ञात-समाधि के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप इन्हें मृत्यु से भय उत्पन्न होने लगता है। वृक्ष, वनस्पति, औषधि, वीरुध, कीट-पतंग, पक्षी, पशु, मनुष्य और संसाधनों का विनाश होते हुए देख-देख कर इन्हें और अधिक भय उत्पन्न होता है। जिससे ऐसे योगी परमेश्वर की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें यह संसार सर्वथा बाधक दिखने लगता है। 'मन में संसार की उपस्थिति से परमेश्वर नहीं मिलेगा' इन्हें यह अनुभूति होने लगती है। इस अवस्था में योगी बौद्धिक स्तर पर समस्त संसार व संसार के पदार्थों को कारण रूप में परिवर्तित करता है, अर्थात् प्रलय में बदल देता है। कोई इसे यथार्थ रूप में न समझे, यह केवल योगी के बुद्धि के स्तर पर बुद्धि में होने वाला प्रलय है। इसे दर्शन की भाषा में 'प्रलयावस्था-सम्पादन' कहते हैं।

योगी न केवल संसार के पदार्थों को प्रलयवत् बनाता है बल्कि अपने शरीर, तन्मात्राओं, इन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्व रूपी बुद्धि को भी प्रलयवत् बना देता है। इस परिस्थिति में योगी के समक्ष कोई कार्य पदार्थ नहीं बचता है। वह कारण-प्रकृति (सत्त्व-रज-तम) में भी बंधन-दुःख देखता है। तब केवल ईश्वर ही योगी के समक्ष ग्राह्य रूप में विद्यमान होता है। इसी स्थिति

में योगी को पर-वैराग्य हो जाता है। जब संसार ही नहीं, तो संसार में तृष्णा भी नहीं रहेगी, तब 'गुणवैतृष्ण्यम्' की स्थिति रहती है। पर-वैराग्य में रह कर योगी असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर, क्योंकि योगी संसार को उसके मूल उपादान कारण 'प्रकृति' (=सत्व-रज-तम) में विलीन करके पर-वैराग्य को प्राप्त होता है, इसी कारण इस योगी को प्रकृतिलय-योगी कहते हैं।

असंप्रज्ञात-समाधि का बार-बार अभ्यास करके ईश्वरीय ज्ञान से योगी अपने वासना रूपी संस्कारों को दग्धबीज बना देता है। अब योगी के द्वारा करने योग्य कोई कार्य नहीं बचता। इसलिए जो करना था, सो पूरा हो गया। इस स्थिति का वर्णन महर्षि वेदव्यास करते हैं—

'तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने
कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न
पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति।'

अर्थात् प्रकृतिलययोगी समाधि के काल में कैवल्य=मुक्ति जैसा अनुभव करते हुए जीवन-यापन करते हैं। जब तक सांसारिक कार्यों (=खाना-पीना, सोना-उठना, अन्यों से व्यवहार करना आदि कार्यों) को नहीं करते तब तक समाधि में रह कर कैवल्य का आनन्द लेते रहते हैं। योगी मुक्ति जैसी अनुभूति को रोक कर व्यवहार-काल में इसलिए आते हैं कि इस योगी का मन साधिकार होता है। मन के अधिकार दो हैं—एक भोग कराना, दूसरा मुक्ति दिलाना। मुक्ति को तो मन ने दिलाया परन्तु अभी भोग को पूरा नहीं करवाया। इसलिए जब तक पूर्व-जन्म के कर्मफल के कारण वर्तमान शरीर रहेगा तब तक मन खाना-पीना आदि सांसारिक व्यवहारों वाला भोग कराता रहेगा। जब पूर्व-जन्म के फल पूरे हो जायेंगे, तो शरीर सहित योगी के सभी साधन प्रकृति में विलीन हो जायेंगे। इसलिए महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि मन अपने अधिकार के कारण भोग रूपी सांसारिक व्यवहार करने के लिए जब तक लौट कर नहीं आता, तब तक योगी मुक्ति जैसा अनुभव करते रहते हैं।

❖❖❖❖

उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ २०॥

पिछले प्रसंग में असंप्रज्ञात-समाधि की परिभाषा एवं उसे प्राप्त करने की विधि बतला कर असंप्रज्ञात-समाधि के दो (भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय) भेदों की चर्चा करते हुए भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि विदेहयोगी और प्रकृतिलययोगी को प्राप्त होती है, ऐसा कहा गया है। यहाँ पर क्रम प्राप्त उपाय-प्रत्यय नामक योगी असंप्रज्ञात-समाधि को किस प्रकार से प्राप्त करते हैं, यह बताया जा रहा है।

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में 'इतरेषाम्' शब्द से उपाय-प्रत्यय योगियों की ओर संकेत किया है। महर्षि वेदव्यास ने 'इतरेषाम्' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'उपायप्रत्ययो योगिनां **भवति**' अर्थात् भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने वाले विदेहयोगी और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों को उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि प्राप्त होती है। उपाय-प्रत्यय का अभिप्राय ऐसे समझें—उपाय का अर्थ 'कारण या साधन' है, और प्रत्यय का अर्थ 'ज्ञान' है। यहाँ पर ज्ञान से तत्त्वज्ञान लेना चाहिए। उपाय=कारण या साधनों से प्रत्यय=तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से परवैराग्य होता है फिर परवैराग्य से असंप्रज्ञात-समाधि होती है। यहाँ पर सूत्रकार ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन पांचों उपायों से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की बात कही है। जिससे परवैराग्य हो जाये और असंप्रज्ञात-समाधि लग सके।

श्रद्धा— असंप्रज्ञात-समाधि तक पहुँचने का पहला उपाय है श्रद्धा। श्रद्धा मन की एक सूक्ष्म, पवित्र व उच्चतम दिव्य भावना है। जिस योगाभ्यासी में श्रद्धा होती है, वह आनन्द को पाने का अधिकारी होता है और वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। संसार में श्रद्धा के प्रति बहुत भ्रम फैला हुआ है। लोग कहते हैं—जिसमें श्रद्धा रखते हैं, वहाँ तर्क और प्रमाण नहीं करना चाहिए। जहाँ श्रद्धा होगी, वहाँ तर्क व प्रमाण नहीं रह सकेंगे। यह भी कहते हैं कि तार्किक व्यक्ति श्रद्धालु नहीं हो सकता। ये लोगों की मनगढ़न्त मान्यताएँ हैं। यह सब श्रद्धा के वास्तविक अर्थ को न जानने के कारण है।

श्रद्धा के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए हमें महापुरुषों, ऋषि-महर्षियों का आश्रय लेना चाहिए और साक्षात् वेद को भी समझना चाहिए कि श्रद्धा के संबन्ध में वेद क्या कहता है और वेद के अनुसार ऋषि-महर्षि क्या कहते हैं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु० १९.७७)

अर्थात् प्रजा के पालक परमपिता परमेश्वर ने सत्य और झूठ को देखकर दोनों को अलग-अलग किया है। उसने झूठ में अश्रद्धा को उत्पन्न किया है और सत्य में श्रद्धा को उत्पन्न किया है।

श्रदिति सत्यमेवाहुर्धारणं धोच्यते बुधैः।
यया हि धार्यते सत्यं वृत्त्या श्रद्धेति सा मता॥

अर्थात् श्रद्धा में दो शब्द हैं। एक '**श्रत्**' दूसरा '**धा**'। **श्रत्** का अर्थ है 'सत्य' और **धा** का अर्थ है 'धारण करना'। जिस व्यवहार से सत्य को धारण किया जाता है, उसे श्रद्धा कहा जाता है। ऐसा ऋषि-महर्षि मानते हैं और कहते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी श्रद्धा का अर्थ लिखते हुए कहा है—

'ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

अर्थात् ईश्वर, सत्य, धर्म आदि शुभ गुणों में अत्यन्त विश्वास रखने को श्रद्धा कहते हैं। संसार में भी जिसे लोग सत्य समझते हैं, उसी में आस्था-विश्वास रखने को श्रद्धा मानते हैं। मानव का यह स्वभाव ही है कि वह अपनी समझ से सत्य में=यथार्थ में ही विश्वास रखता है, अयथार्थ में नहीं।

सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**श्रद्धा चेतसः संप्रसादः**' अर्थात् मन के विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। यहाँ पर **संप्रसादः** शब्द का अर्थ '**विश्वास**' है। यथार्थ वस्तु में विश्वास होता है। योगाभ्यासी परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को वेद व वेदानुकूल शास्त्रों में जैसा वर्णन किया है वैसा ही जान कर परमेश्वर में श्रद्धा रखता है। जैसी श्रद्धा परमेश्वर पर रखता है, वैसी ही श्रद्धा स्वयं को जान कर और जड़ पदार्थों को जानकर उन पर भी रखता है।

योगाभ्यासी की यह श्रद्धा ही योग के मार्ग को प्रशस्त करती है और बाधाओं को दूर करती है। इसीलिए महर्षि आगे लिखते हैं कि **'सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'** अर्थात् जिस प्रकार जन्म देने वाली, कल्याण करने वाली माता अपनी सन्तान की रक्षा करती है उसी प्रकार श्रद्धा योगी की रक्षा करती है। इससे बढ़कर और कोई उपमा नहीं हो सकती है।

बच्चे का मन निर्मल-शुद्ध-पवित्र होता है, वह बच्चा माता के समक्ष एक प्रकार से नग्न होता है अर्थात् अन्दर बाहर एक समान होता है। छली-कपटी नहीं होता। उसका योग-क्षेम माता हर प्रकार से करती है। ठीक उसी प्रकार योगी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जैसे-जैसे जानता जाता है, वैसे-वैसे उस वस्तु के प्रति श्रद्धान्वित होता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तु के प्रति उचित ही व्यवहार करता है, अनुचित व्यवहार नहीं करता है। जब छली-कपटी हो कर कोई व्यवहार ही नहीं करता हो, तब श्रद्धा योगी का कल्याण ही करती है। वह श्रद्धा किस प्रकार कल्याण करती है? श्रद्धा से मन प्रसन्न होता है, प्रसन्न-मन एकाग्र होता है, एकाग्र-मन ईश्वर को प्राप्त कराने वाला होता है। यह ही योगी का कल्याण है।

वीर्य—असंप्रज्ञात-समाधि तक पहुँचाने का दूसरा उपाय है वीर्य। यहाँ पर वीर्य का अर्थ रज-वीर्य नहीं है। वीर्य का अभिप्राय है उत्साह-स्फूर्ति-बल-सामर्थ्य। जीवात्मा में एक प्रयत्न गुण है, जिसे हम पुरुषार्थ के रूप में देखते हैं। आत्मा में इतना सामर्थ्य है कि वह चाहे कुछ भी (हो सकने योग्य) कर सकती है। परन्तु नहीं करती है। कारण यह है कि उसे यथार्थ का बोध नहीं है। जिस योगी ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लिया है, उसे उसमें अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। वही श्रद्धा योगी में छिपे प्रयत्न गुण को उद्‌बुद्ध करती है। जैसे कामाग्नि से अन्धे हुए नव-युवा में पुरुषार्थ होता है, वैसे ही आत्मा का प्रयत्न गुण मानो पूर्ण युवा हो कर योगी को असंप्रज्ञात-समाधि की ओर अग्रसर करता है। योगी में समाधि को प्राप्त करने की स्फूर्ति-बल-सामर्थ्य-पुरुषार्थ अत्यधिक बढ़ जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते'

अर्थात् दूध का दूध और पानी का पानी (अर्थात् यथार्थता) में विश्वास रखने वाले उस श्रद्धालु योगी में वीर्य=उत्साह=स्फूर्ति= बल=सामर्थ्य विपुल मात्रा में उत्पन्न हो जाता है। जिससे योगी मुक्ति को प्राप्त करने में जो-जो बाधक हैं और जो-जो साधक हैं उनको दूर करने और अपनाने में हाथी के समान पुरुषार्थ करने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप वह सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तो मन प्रसन्न होता है। इससे वह और अधिक पुरुषार्थ करता है तथा उसे और अधिक प्रसन्नता मिलती है। यह बार-बार प्रयत्न करके और-अधिक और-अधिक उत्साह को प्राप्त करता रहता है। इससे असंप्रज्ञात-समाधि का मार्ग सरल और निर्बाध हो जाता है।

स्मृति— असंप्रज्ञात-समाधि तक पहुँचने का तीसरा उपाय है स्मृति। स्मृति के संबन्ध में सभी अच्छी प्रकार जानते हैं कि स्मरण=याद रहने को स्मृति कहते हैं और यह भी जानते एवं मानते हैं कि बहुत सा स्मरण नहीं रहता है, भूल जाते हैं। ऐसी-ऐसी भूल होती है कि स्मरण रहते हुए भी अवसर (समय) आने पर स्मरण नहीं आता। यह समस्या प्राय: सबके सामने आती है। ऐसा भी होता है कि जिनको स्मरण नहीं रखना चाहिए, वे ही अधिक स्मरण में आते हैं, जिससे मन खिन्न हो जाता है। और जिनको स्मरण रखना चाहिए, स्मरण करने का लाख प्रयत्न करने पर भी वे स्मरण नहीं आते। यह ही एक बहुत बड़ी बाधा है योगाभ्यासी के सामने। परन्तु जिस योगी ने पूर्ण श्रद्धा को उत्पन्न किया हो, उसे वीर्य रूपी उत्साह अत्यधिक उत्पन्न हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप वह जिस किसी कर्म को संपन्न करना चाहता है, उससे संबन्धित स्मृति स्पष्ट रूप से उभर कर आती है। जिससे योगी का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि 'समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते' अर्थात् योगी के उत्साह-स्फूर्ति-उमंग रूपी वीर्य के कारण स्मरण शक्ति ठहरी हुई रहती है। इसके परिणाम स्वरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, स्व-स्वामी संबन्ध आदि के उभर जाने पर जैसे हम बह जाते हैं वैसे योगी नहीं बह जाते, बल्कि वे उन उपायों को स्मरण करते हुए अपने ईश्वर-साक्षात्कार रूपी मार्ग को बाधा रहित ही बनाये हुए रखते हैं। हम अपने को जानकार व समझदार मान कर भी कहाँ से कहाँ बह जाते हैं।

यह हमें ही पता नहीं चल पाता है कि हम असंप्रज्ञात मार्ग से कितने भटक गये हैं। यही अन्तर योगी और हम में है।

समाधि—असंप्रज्ञात-समाधि तक पहुँचने का चौथा उपाय है समाधि। यहाँ पर समाधि से संप्रज्ञात-समाधि लेना चाहिए। संप्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति मन की एकाग्रता से होती है। मन की एकाग्रता मन के प्रसन्न होने पर होती है। मन में प्रसन्नता लाने के लिए योगी के समस्त व्यवहार उचित और समाधि को प्राप्त कराने वाले होने चाहिएँ। प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में निद्रा तक जो भी व्यवहार योगी करता है, वह व्यवहार प्राणियों के प्रति मित्र की दृष्टि से होने पर ही मन में प्रसन्नता आ सकती है।

वेद ने कहा भी है—

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु० ३६.१८)

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखे।

संसार में भांति-भांति के लोग रहते हैं, उन सब के साथ एक जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए वेद के अनुसार ऋषियों ने सुखी जनों के प्रति मित्रता का भाव रखने, दुःखी जनों के प्रति करुणा का भाव रखने, विद्वानों के प्रति प्रसन्नता का भाव रखने और दुष्टों के प्रति उपेक्षा= न राग-न द्वेष का भाव रखने को कहा है। इसी से मन प्रसन्न रहता है। आत्मा की आवाज न मान कर हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार व परिग्रह आदि करने वाले का मन कभी प्रसन्न नहीं होता। इसलिए योगी यम-नियम आदि का पालन प्रत्येक विकट परिस्थिति में भी करता हुआ मन को प्रसन्न रखता है। इन समस्त व्यवहारों में प्रत्येक उपाय को स्मरण रखना पड़ता है। योगी सभी उपायों को स्मरण रखता है। इसीलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते'

अर्थात् योगी प्रत्येक विकट परिस्थिति में भी उत्तम-उत्तम उपायों को स्मरण रखते हुए ही व्यवहार करता है। ऐसी उत्तम स्मृति के ठहरी हुई होने पर ही योगी का मन प्रसन्न रह कर बिना बाधा के ध्यान के काल में समाधिस्थ हो जाता है। समाधिस्थ हो कर योगी जहाँ अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करता है वहाँ समस्त स्थूल व सूक्ष्म (न दिखने वाले) पदार्थों का साक्षात्कार भी कर लेता है।

प्रज्ञा— असंप्रज्ञात-समाधि तक पहुँचने का पाञ्चवाँ उपाय है, प्रज्ञा। यहाँ पर प्रज्ञा से तात्पर्य है '**ऋतम्भरा प्रज्ञा**'। **ऋतम्** का अर्थ 'सत्य' है और **भरा** का अर्थ 'धारण करने वाली' है। सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा को 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा कहते हैं। यहाँ पर पाठकगण यह समझ लेवें कि जिस श्रद्धा को अपना कर योगी योगाभ्यास प्रारम्भ करता है उस श्रद्धा वाले सत्य में और ऋतम्भरा-प्रज्ञा वाले सत्य में कुछ भिन्नता है। श्रद्धा वाला सत्य, शास्त्रों के आधार पर शब्द-प्रमाण के अनुसार है और ऋतम्भरा-प्रज्ञा वाला सत्य साक्षात् प्रत्यक्ष-प्रमाण के आधार पर है, ऐसा समझना चाहिए। योगी संप्रज्ञात-समाधि में स्वयं आत्मा का और सत्त्व, रज व तम तथा उनसे बने पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है, तो उसे विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। जिसको महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि 'समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते' अर्थात् योगी संप्रज्ञात-समाधि में पूर्ण एकाग्र अवस्था में रहता है। उस पूर्ण एकाग्र-अवस्था वाले मन में प्रज्ञा-विवेक अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा उत्पन्न होती है। '**येन यथार्थं वस्तु जानाति**' अर्थात् जिससे योगी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को साक्षात् जानता है।

'तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति'

अर्थात् जिस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से यथार्थ वस्तु को जाना जाता है, उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा का योगी बार-बार अभ्यास करता है। जिससे योगी को प्रत्यक्ष अनुभूति यह होती है कि मुझ आत्मा में आनन्द नहीं है और सत्त्व, रज व तम से बने पदार्थों से मिलने वाला सुख मुझ को तृप्त नहीं कर सकता तथा ये सुख के साथ दुःख भी देंगे। इसलिए इनका साक्षात्कार करने के बाद भी मैं कृतकृत्य नहीं हो पा रहा हूँ। अब मुझे परमात्मा का साक्षात्कार करना है। परमात्मा का साक्षात्कार तभी संभव है जब मैं संप्रज्ञात-समाधि के विषयों से विरक्त हो जाऊँ। यह अनुभूति करके योगी संप्रज्ञात-समाधि के विषयों से भी वैराग्य को प्राप्त=विरक्त हो जाता है अर्थात् गुणवैतृष्ण्यम् की स्थिति में पहुँच जाता है। जिसके परिणामस्वरूप परवैराग्य हो जाता है। इस परवैराग्य से योगी को असंप्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति हो जाती है। जिसमें परम-पिता परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

❖❖❖❖

समाधि की शीघ्र प्राप्ति का उपाय

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मनुष्य किसी भी लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्रवृत्त होता है, तो उसी प्रवृत्ति पर लक्ष्य निर्भर रहता है। लक्ष्य की प्राप्ति से प्रवृत्ति की पूर्णता और अप्राप्ति से प्रवृत्ति की न्यूनता प्रकट होती है। प्रवृत्ति का अभिप्राय है, लक्ष्य की ओर चलना। यह जो '**चलना**' है, यह ही प्रवृत्ति है, इसे गति भी कह सकते हैं। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रवृत्ति या गति को संवेग शब्द से प्रस्तुत किया है।

'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इस सूत्र में श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, सम्प्रज्ञात-समाधि और ऋतम्भरा-प्रज्ञा रूपी उपायों को अपना कर असम्प्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने की चर्चा की थी। उन उपायों को अपनाने वाले योगाभ्यासियों के प्रकारों की चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की जा रही है।

वर्तमान खेलों पर दृष्टि डाली जाये, तो क्रिकेट का अधिक बोल-बाला है। ज़िला स्तरीय क्रिकेट, प्रान्त स्तरीय क्रिकेट और भारत स्तरीय क्रिकेट। ज़िला स्तर पर खेलने वालों में भी अन्तर कर सकते हैं, सामान्य स्तर पर खेलने वाले, मध्यम स्तर पर खेलने वाले और उत्तम स्तर पर खेलने वाले। इस प्रकार ज़िला स्तर पर खेलने वाले तीन वर्ग हुए। ऐसे ही प्रान्तीय स्तर के तीन वर्ग और भारतीय स्तर के तीन वर्ग हुए। कुल मिलाकर नौ वर्ग हुए। प्रत्येक वर्ग का लक्ष्य जीत है। जीत को हस्तगत करने के उपायों के प्रति जो वर्ग सजग रहता है, वही वर्ग जीत पाता है। यदि सजगता सामान्य है या मध्यम है, तो जीत बहुत दूर खड़ी दिखेगी और यदि सजगता उत्तम है, तो जीत अति निकट दिखाई देगी।

जैसे खेल के सम्बन्ध में है, वैसे समाधि के संबन्ध में जानना चाहिए। महर्षि वेदव्यास ने भी योगाभ्यास करने वालों के अलग-अलग वर्ग बनाये हैं। ऋषि लिखते हैं—

'ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति। तद् यथा मृदुपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति।'

अर्थात् ये जो असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने वाले योगाभ्यासी हैं; वे मृदु उपाय वाले, मध्य उपाय वाले और अधिमात्र उपाय वाले हैं। मृदु का अभिप्राय सामान्य स्तर से, मध्य का अभिप्राय मध्यम स्तर से और अधिमात्र का अभिप्राय उत्तम स्तर से है। अर्थात् सामान्य स्तर से, मध्यम स्तर से और उत्तम स्तर से उपायों को अपनाने वाले योगाभ्यासी होते हैं।

'तत्र मृदूपायस्त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति। तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति'

अर्थात् उन तीनों भेदों में से एक-एक भेद के तीन-तीन भेद समझने चाहिएँ। जैसे मृदु संवेग=अल्प सामान्य स्तर, मध्य संवेग=मध्यम सामान्य स्तर और तीव्र संवेग=उत्तम सामान्य स्तर। ये मृदु उपाय के तीन स्तर हुए हैं। ऐसे ही मध्य उपाय के तीन स्तर हैं। मृदु संवेग=अल्प मध्यम स्तर, मध्य संवेग=मध्यम मध्यम स्तर और तीव्र संवेग=उत्तम मध्यम स्तर। इसी प्रकार अधिमात्र उपाय के तीन स्तर ये हैं—मृदु संवेग=अल्प उत्तम स्तर, मध्य संवेग=मध्यम उत्तम स्तर और तीव्र संवेग=उत्तम उत्तम स्तर अर्थात् उत्तम में भी उत्तम स्तर। इस प्रकार नौ प्रकार के योगाभ्यासी हैं।

पाठक गण से आग्रह है कि यहाँ पर इन अपरिचित शब्दों से न घबरावें। इतना अवश्य समझ लेवें कि ये सारे शब्द आत्म-पुरुषार्थ को ले कर प्रस्तुत किये गये हैं। जब योगाभ्यासी अपने पुरुषार्थ की गति=संवेग को सामान्य रूप से व्यवहार में लाता है अर्थात् मोटे रूप में दुःख (=हिंसा) नहीं देता हुआ, झूठ नहीं बोलता हुआ, चोरी नहीं करता हुआ, व्यभिचार नहीं करता हुआ और संग्रह नहीं करता हुआ चल रहा होता है। स्वयं इन ग़लत कार्यों को नहीं करता हुआ दूसरों से भी नहीं करवाता है। इतना ही नहीं, दूसरों के ग़लत करने पर समर्थन भी नहीं देता है। छोटे-मोटे लालच से, क्रोध से और छोटी-मोटी मूर्खता से भी बचा रहता है, क्योंकि लालच, क्रोध और मूर्खता मनुष्य को हिंसक व झूठा आदि बनाने का कारण बनते हैं। 'मोटे रूप से ग़लत कामों को न करना' स्थूल दोषों को न करना समझना चाहिए। यह योगाभ्यासी का सामान्य स्तर है। इसे ऋषि ने मृदु वर्ग में रखा है।

मध्यम स्तर वाले योगाभ्यासी स्वयं को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र व विश्व को ध्यान में रखते हुए कोई ऐसा ग़लत कार्य नहीं करते। चाहे

नौकरी में हो या व्यापार में हो अथवा समाज व राष्ट्र का कार्य हो। सदा निष्पक्ष सत्य-न्याय का ही अनुसरण करते हैं। उत्तम स्तर के योगाभ्यासी वे होते हैं, जो स्वयं का प्राण-त्याग करना भी पड़े, तो भी प्राणों को न्योछावर करेंगे, परन्तु किसी भी प्रकार का ग़लत कार्य नहीं करते। उन्हें ईश्वर, वेद, ऋषि-महर्षियों की सूक्ष्म दृष्टि से नाप-तोल कर देखा जाये, तो भी वे ग़लत नहीं ठहर सकते। यह समाधि का वह मार्ग है, जिस पर चलते हुए किसी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या विश्वस्तरीय बन्धनों को ध्यान में रख कर अनुचित कार्य नहीं किया जाता। यहाँ तो सभी बन्धनों से ऊपर उठ कर समाधि रूपी जीत को हस्तगत करना है। यहाँ पर नादानगी का बहाना नहीं चल सकता।

जिस प्रकार खिलाड़ी खेल के मैदान में उतरता है, तो उसका एक मात्र लक्ष्य होता है- जीत। मैदान में उतरने वाले प्रत्येक खिलाड़ी को यह पता रहता है कि अमुक कारणों से जीत को हस्तगत कर लिया जाता है। अर्थात् अधिकारी ही मैदान में उतरता है, अनधिकारी नहीं। फिर भी जीत हस्तगत नहीं होती, तो वहाँ जीत के उपायों को भूल जाना या लापरवाही आदि कारण बनते हैं। जितने-जितने जीत के उपायों को अपनाते जाते हैं, उतनी-उतनी जीत निकट होती जाती है। ठीक इसी प्रकार से समाधि रूपी जीत को हस्तगत करने के लिए **योग मार्ग** में उतरे हुए योगाभ्यासियों को उपायों की जानकारी रहती है। उन उपायों को जिस गति=संवेग से लागू करते जाते हैं, उतनी-उतनी समाधि भी निकट होती जाती है।

'तीव्रसंवेगानामासन्नः' इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि वेदव्यास यह कहना चाहते हैं कि मृदु, मध्य, अधिमात्र के रूप में जो सामान्य अभ्यासी, मध्यम अभ्यासी और तीव्र अभ्यासी हैं, इनमें से जो तीव्र गति से अहिंसा, सत्य आदि यम और शौच, संतोष आदि नियम का पालन करते हैं, वे समाधि को अति शीघ्र प्राप्त करते हैं। योगाभ्यासियों के नौ प्रकारों को सामने रखा जाये, तो जो तीन वर्ग हैं, अर्थात् मृदु स्तर के तीन, मध्य स्तर के तीन और अधिमात्र स्तर के तीन; तीनों वर्गों में से एक-एक वर्ग को सामने रख कर देखें, तो सामान्य मृदु की अपेक्षा से मध्य मृदु समाधि को शीघ्र प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मध्य स्तर में सामान्य मध्यम की अपेक्षा से

मध्यम मध्यम और मध्यम मध्यम की अपेक्षा से तीव्र मध्यम योगाभ्यासी समाधि को शीघ्र प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार अधिमात्र स्तर में सामान्य अधिमात्र की अपेक्षा मध्यम अधिमात्र, और मध्यम अधिमात्र की अपेक्षा से तीव्र अधिमात्र अभ्यासी शीघ्र समाधि को प्राप्त होता है। अपने-अपने वर्ग के शीघ्र समाधि को प्राप्त करने वालों को समक्ष रख कर महर्षि पतञ्जलि ने अगला सूत्र बनाया है।

❖❖❖❖

और अधिक शीघ्रता से समाधि

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

अर्थात् मृदु तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी की अपेक्षा मध्य तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी समाधि को शीघ्र प्राप्त करते हैं। मध्य तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी की अपेक्षा से अधिमात्र तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी सब से अधिक शीघ्रता से समाधि को प्राप्त करते हैं।

समाधि को प्राप्त करने के जितने भी उपाय हो सकते हैं, उन उपायों को सर्वांगीण रूप से जो जितना अधिक अभ्यास करता है, वह उतना ही अधिक शीघ्रता से समाधि को प्राप्त कर सकता है। ऋषियों का यह मन्तव्य है कि **किसी भी उपाय को कम महत्त्व दे कर समाधि की दूरी को बढ़ाना नहीं चाहिए।** इसीलिए कहा जाता है कि छोटी सी भूल से पराजय का मुख देखना पड़ रहा है।

❖❖❖❖

समाधि की शीघ्र प्राप्ति का उपाय
ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ २३॥

योगदर्शन का प्रथम पाद विशेष योग्यता रखने वालों के लिए है। महर्षि वेदव्यास ने स्वयं दूसरे पाद की भूमिका में लिखा है कि '**उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः**' अर्थात् एकाग्र चित्त वाले बुद्धिमानों के लिए योग

का उपदेश कर दिया है। '**कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते**' अर्थात् अब सामान्य बुद्धि वालों को कैसे योग से युक्त किया जाये, इस बात का दूसरे पाद में प्रारम्भ किया जाता है। इस कथन से स्पष्ट होता है कि पहला पाद विशेष बुद्धिमानों के लिए है। दूसरे पाद में सामान्य बुद्धिवालों को योगमय बनाने के लिए विविध उपाय बताये हैं। उन उपायों में एक उपाय '**ईश्वर-प्रणिधान**' भी है। परन्तु वही उपाय विशेष बुद्धि वालों के लिए पहले पाद में भी कहा जा रहा है।

पाठकगण यह न समझें कि पहला पाद केवल विशेष बुद्धिवालों के लिए और दूसरा पाद सामान्य बुद्धिवालों के लिए है। वैसे तो सम्पूर्ण योगदर्शन सब के लिए है। चाहे विशेष व्यक्ति हों, चाहे सामान्य व्यक्ति हों। आज जो विशेष बने हुए हैं वे पहले सामान्य थे और जो आज सामान्य हैं, वे भविष्य में विशेष बन सकते हैं। आज जो विशेष हैं, वे दूसरे पाद में कहे गये नियमों को अपना चुके हैं। इसी कारण अद्‌भुत श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, संप्रज्ञात-समाधि, ऋतम्भरा-प्रज्ञा के सहयोग से असंप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने के लिए '**तीव्र संवेग**' से आगे बढ़ रहे हैं।

सावधान रहने वालों को भी पुनः सावधान करना प्रत्येक माता-पिता, अध्यापक, वयोवृद्ध, विद्वानों का कर्त्तव्य है। फिर ऋषि-महर्षि क्यों न करें। इसी न्याय से महर्षि-पतञ्जलि यहाँ पर सावधान करते हैं कि विशेष-विशेष सिद्धियों, उपलब्धियों को प्राप्त करते हुए विशेष संयमित रह कर भी उन उपलब्धियों को कभी अपनी उपज न समझ बैठें या अहंकार से अर्थात् '**मैंने किया**' ऐसे भयंकर दोष को प्राप्त न हों। अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने तक कोई बाधा उपस्थित न हो जाये, '**तीव्र संवेग**' किसी भी प्रकार से बाधित न हो सके। किसी भी छोटी सी भूल से बहुत बड़ा लक्ष्य हाथ से न निकलने पाये। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सब साधकों को मुक्ति तक पहुँचाने वाले महर्षि पतञ्जलि ने पहले पाद में 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र बनाकर हमें पूर्ण सचेत किया है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने इस सूत्र की भूमिका में लिखा है—

'किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति।'

अर्थात् क्या मात्र पूर्व में कहे गये श्रद्धा, उत्साह, स्मृति आदि उपायों के द्वारा **'तीव्र संवेग'** से चलने से असंप्रज्ञात-समाधि अति शीघ्र प्राप्त होती है अथवा और भी कोई ऐसा उपाय है, जिससे निर्बाध रूप से समाधि को अति शीघ्रता से प्राप्त किया जाता हो। अर्थात् जिसको अपनाने पर और कोई भी उपाय रह नहीं जाता हो, तो अवश्य बता दीजिये। ऐसी परिस्थिति में महर्षि पतञ्जलि ने अन्तिम उपाय के रूप में **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** सूत्र का निर्देश किया है।

ईश्वर-प्रणिधान का सीधा अर्थ है—समर्पण करना या समर्पित हो जाना। ईश्वर को समर्पित करना। किसे समर्पित करना है? अपने आपको (आत्मा को) समर्पित करना और अपने से अतिरिक्त जो कुछ भी है सब कुछ समर्पित कर देना है। वैसे देखा जाये तो लोक में समर्पण के विषय में बहुत कुछ सुना जाता है। लोग स्वयं समर्पित होते हैं और अन्यों को भी समर्पित होने के लिए प्रेरित करते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को अपने प्रति समर्पित होने के लिए निर्देश करते हैं। गुरु व अध्यापक-विद्यार्थियों को समर्पित होने के लिए कहते हैं। बड़े छोटों को, धनवान् निर्धन को, बलवान् दुर्बलों को, सेठ नौकरों को समर्पित होने की बात करते हैं। इन सब बातों में क्या छिपा हुआ है? इसे ध्यान से समझा जाये, तो एक अर्थ निकलता है कि **'जैसे हम कहें वैसा तुम करो'** यह जो-जैसे हम कहें वह-वैसा तुम करो, यह ही समर्पित कराना, समर्पण कराना है। अर्थात् समर्पण शब्द से यह कहा जा रहा है कि **'आज्ञा का पालन करो।'** इससे यह तात्पर्य निकल रहा है कि आज्ञा का पालन करना ही समर्पण है। महर्षि वेदव्यास प्रणिधान का अर्थ करते हुए लिखते हैं—**'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद्'** अर्थात् प्रणिधान का अर्थ भक्तिविशेष है। अब भक्तिविशेष क्या है? इस संदर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रमाण उपयुक्त रहेगा। ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना के मंत्रों में ऋषि लिखते हैं—**'भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में नित्य तत्पर रहें।'**

आज्ञा का पालन प्रत्येक मनुष्य करता है। चाहे पुत्र हो, विद्यार्थी हो, नौकर हो। परन्तु पूर्ण रूप से आज्ञा का पालन तो कोई विरला ही कर पाता है। ऋषि ने भक्ति का अर्थ आज्ञा-पालन किया है। परन्तु यहाँ पर भक्ति

विशेष है। इसका अभिप्राय यह है कि विशेष आज्ञा का पालन। विशेष शब्द पूर्णता को बताने वाला है। अतः पूर्ण रूप से ईश्वर की आज्ञा-पालन करने से समाधि अतिशीघ्र प्राप्त होती है।

महर्षि वेदव्यास दूसरे पाद में कहे गये ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ लिखते हुए कहते हैं—

'सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा'

अर्थात् जो कुछ भी हम कर्म करते हैं, उन सभी कर्मों को सर्वक्रियाणाम् शब्द से लिया है। परमगुरौ अर्पणम्=परम गुरु परमात्मा को अर्पित कर देना है और तत्फलसंन्यासः उन कर्मों का फल नहीं चाहना। हमने अति परिश्रम करके जो कुछ भी प्राप्त किया धन-सम्पत्ति आदि, उसे समर्पित करना। जो भी अन्यों के लिए कर्म करते हैं उनका भी फल न चाहना। यह बड़ी विचित्र बात है कि कर्म तो करते जायें और फल न चाहें, यह कैसे हो सकता है। अर्थात् कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं हो पायेगी। कर्म इसलिए किया जाता है कि फल मिले। जब फल का ही त्याग करना है, तो कर्म का क्यों न त्याग किया जाये? किन्तु कर्म का तो त्याग नहीं कर सकते। फिर फल को त्यागने की बात क्यों कही जा रही है? इसका समाधान यह है कि कर्मों को करते हुए मनुष्य सांसारिक-फलों को ही चाहता है। फलतः ईश्वरीय आनन्द से वञ्चित रहता है। इसलिए यहाँ सांसारिक-फल को त्याग कर ईश्वर के आनन्द रूपी फल को प्राप्त करने की बात कही जा रही है।

परमेश्वर को क्या-क्या समर्पित करना चाहिए इस संदर्भ में यजुर्वेद में एक मंत्र आता है—

'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पताम्.........
आत्मा यज्ञेन कल्पताम्........'

इस मंत्र का अभिप्राय है कि बाहर का धन-धान्य, सोना-चांदी, भूमि सभी प्रकार के ऐश्वर्य और अपना शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि के साथ-साथ अपनी आत्मा को भी ईश्वर को समर्पित करना है। अर्थात् अपना सर्वस्व त्याग करना है। अपना कुछ भी न मानना, सब कुछ ईश्वर का ही स्वीकार करना है।

जब व्यक्ति सब कुछ को समर्पित करने लगता है, तो डर लगने लगता है। यदि मैं सब कुछ समर्पित कर दूँगा, तो मेरे लिए कुछ बचेगा ही नहीं। 'मैं और मेरा' यह जो भावना है, इस पर गहरी चोट आती है। उसको व्यक्ति छोड़ना नहीं चाहता है। सारी योग्यताओं को पाकर तीव्र संवेग से समाधि को पाने के लिए जो साधक आगे बढ़ रहा हो, वहाँ पर अपनी आत्मा को समर्पित करके न चले तो लक्ष्य बाधित हो जायेगा। इसलिए समाधि को प्राप्त करने में यह ईश्वरप्रणिधान महत्त्वपूर्ण उपाय है।

लोक में समर्पण करने पर वस्तुएँ अन्यों के पास चली जाती हैं। ईश्वर को समर्पित करने पर वस्तुएँ हमारे पास ही रहेंगी। परन्तु उनका प्रयोग अपनी इच्छा से नहीं होगा। ईश्वर की इच्छा से उनका प्रयोग होगा और वह प्रयोग भी हम अपने लिए करेंगे। यदि अपने लिए ही प्रयोग करना है, तो समर्पण का नाटक क्यों? यह नाटक नहीं है। इससे हम विधि-विधान के अनुरूप ही प्रयोग करेंगे। नियम विरुद्ध कभी नहीं करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि हम समाधि पाने के लिए अधिकारी बनेंगे। इसलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'भक्तिविशेषाद् आवर्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।'

अर्थात् ईश्वर की विशेष आज्ञा पालन करने से प्रसन्न होकर ईश्वर योगाभ्यासी को अपने संकल्प से अपनाता है अर्थात् समाधि का अधिकारी बनाता है।

परमेश्वर हर किसी को अपनाता नहीं है। हर किसी को समाधि प्राप्त नहीं होती है। जिसे ईश्वर चुनता है, उसे ही समाधि प्राप्त होती है। कठोपनिषद्कार यमाचार्य भी यही बात कहते हैं—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।'

अर्थात् जिसे परमात्मा चुन लेता है, उसी को अपना स्वरूप दिखाता है (दर्शन कराता है)।

यदि कोई पूछे कि किसे चुनता है? उत्तर वही है जो उसकी पूर्णरूप से आज्ञा का पालन करता है। पूर्ण रूप से आज्ञा पालन का अभिप्राय है कि समाधि को प्राप्त करने के जितने नियम हैं, उन सब का पालन करना है। आगे महर्षि लिखते हैं—

'तदभिध्यानमात्रादपि योगिनः आसन्नतमः
समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति'

अर्थात् उस ईश्वर के विशेष संकल्प रूप अनुग्रह से योगाभ्यासी को अतिशीघ्र समाधि लग जाती है और समाधि का फल आनन्द भी मिल जाता है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र का अभिप्राय है कि श्रद्धा, उत्साह, स्मृति आदि के साथ-साथ ईश्वर की पूर्ण आज्ञा पालन करने से भी समाधि अति शीघ्र प्राप्त होती है।

❖❖❖❖❖

ईश्वर का स्वरूप

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

जब से संसार में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ है, तब से मनुष्य में विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। यह अलग बात है कि कभी मान्यताएँ अति अल्प रही हैं, तो कभी अत्यधिक रही हैं। मनुष्य में अलग-अलग मान्यताओं का रहना मनुष्य की अल्पज्ञता के ही कारण रहा है और आज भी वही अल्पज्ञता कारण है। अल्पज्ञता का अभिप्राय है कम जानना। यह कम जानना ही मनुष्य में विभिन्न प्रकार की मान्यताओं को जन्म देता है। कभी मनुष्य स्वयं को ही नकारता है, तो कभी संसार को नकारता है, और कभी संसार को बनाने वाले को ही नकारता है। अर्थात् मनुष्य कभी केवल एक ही वस्तु (ईश्वर) को स्वीकारता है, तो कभी केवल प्रकृति (संसार) को स्वीकारता है और कभी-कभी जीव और संसार को स्वीकारता हुआ परमेश्वर को नकारता है। परन्तु यथार्थता में जानकारी हो जाये, तो तीनों वस्तुओं (ईश्वर, जीव, प्रकृति) को स्वीकारता है, और यह ही सत्य है।

महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास के काल में भी प्रकृति (संसार) और जीव (पुरुष) इन दोनों को मानने वाले किन्तु ईश्वर (पुरुष विशेष) को न मानने वाले भी थे। उनकी गलत मान्यताओं का खण्डन करते हुए यथार्थ सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति'

अर्थात् पिछले सूत्र में 'ईश्वर-प्रणिधान करने से अतिशीघ्र समाधि लगती है', ऐसा कहा गया है। यहाँ पर महर्षि वेदव्यास प्रश्न करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रधान (संसार) और पुरुष (जीव) इन दोनों से व्यतिरिक्त (अलग) यह ईश्वर नामक तीसरी वस्तु कौन है ?

वर्तमान में कुछ ऐसे लोग भी हैं कि जो केवल ईश्वर को ही स्वीकार करते हैं अर्थात् अद्वैती हैं। वे लोग संसार और जीव को मिथ्या (झूठ) मानते हैं। उन अद्वैतवादियों का स्पष्ट खण्डन '**अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति**' से होता है। क्योंकि यहाँ पर महर्षि वेदव्यास संसार और जीव से सर्वथा भिन्न ईश्वर का प्रतिपादन कर रहे हैं। महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर को 'पुरुष-विशेष' शब्द से संबोधित किया है। पुरुष शब्द से जीव को लिया है और 'पुरुष-विशेष' शब्द से ईश्वर को लिया है, जिसे हम परमात्मा या परमेश्वर अथवा भगवान् शब्द से पुकारते हैं।

संसार भर के सभी मनुष्य ईश्वर से इतना अधिक क्यों प्रभावित रहते हैं? प्रत्येक मनुष्य ईश्वर के प्रति इतनी श्रद्धा, रुचि, प्रेम, आकर्षण, लगाव क्यों रखता है ? क्यों मनुष्य ईश्वर के प्रति यूँ खिंचा चला जाता है ? ऐसी क्या विशेषता है, जो ईश्वर के प्रति सारा संसार नतमस्तक होता है। इन सब बातों का उत्तर महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र रूप में दिया है।

सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि जीव अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पांचों क्लेशों से युक्त रहता है, परन्तु ईश्वर इन पांचों क्लेशों से सर्वथा अलग रहता है। क्लेशों से दुःख होता है। जीव दुःखों से ग्रस्त रहता है और ईश्वर दुःखों से रहित रहता है। जीव और ईश्वर में यह बहुत बड़ा अन्तर है कि ईश्वर क्लेशों से अलग रहता है। महर्षि ने क्लेश को '**अविद्यादयः क्लेशाः**' कह कर स्पष्ट किया है।

जीव और ईश्वर में **दूसरा** बहुत बड़ा अन्तर यह है कि ईश्वर कर्म से अलग है। कर्म को स्पष्ट करते हुए व्यास जी लिखते हैं कि '**कुशलाकुशलानि कर्माणि**' अर्थात् कुशल-कर्म (पुण्य-कर्म) अकुशल-कर्म (पाप-कर्म)। पाप-कर्म और पुण्य-कर्म जीव करता है। ईश्वर न पाप-कर्म करता है और न ही पुण्य-कर्म करता है। क्या ईश्वर कर्म ही नहीं करता है ? नहीं, कर्म तो

करता है परन्तु वे कर्म जीव द्वारा किये जाने वाले कर्मों से सर्वथा भिन्न होते हैं। जीव अप्राप्त सुख (आनन्द) को प्राप्त करने के लिए कर्म करता है। जीव जो भी कर्म करता है स्वयं के लिए ही करता है। परन्तु ईश्वर को सब कुछ प्राप्त है, उसके लिए अप्राप्त कुछ भी नहीं है। फिर भी ईश्वर संसार को बनाने रूपी कर्म को करता है तो जीव के सुख के लिए करता है। ईश्वर कोई भी कर्म स्वयं के लिए नहीं करता है। इस कारण जीव वाले कर्मों से सर्वथा भिन्न प्रकार के कर्म ईश्वर के होते हैं।

जीव और ईश्वर में **तीसरा** बहुत बड़ा अन्तर यह है कि ईश्वर विपाक से अलग है। महर्षि व्यास विपाक को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि '**तत्फलं विपाकः**' अर्थात् पापकर्मों और पुण्यकर्मों के सुख व दुःख रूपी फल को 'विपाक' कहते हैं। ईश्वर पापकर्म व पुण्यकर्म करता ही नहीं है, तो कर्म के विपाक अर्थात् फल से कैसे युक्त हो सकता है? इसलिए कहा जा रहा है कि ईश्वर सुख व दुःख रूपी फल से सर्वथा अलग है।

जीव और ईश्वर में **चौथा** बहुत बड़ा अन्तर यह है कि ईश्वर आशय से अलग है। आशय को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तदनुगुणा **वासना** आशयाः'

अर्थात् पाप व पुण्य के कारण जो दुःख व सुख रूपी फल मिलता है, उस दुःख व सुख के अनुरूप वासना बनती है। उस वासना को यहाँ पर '**आशय**' शब्द से कहा है। वासना को संस्कार भी कहते हैं। कर्मों के फलस्वरूप दुःख या सुख मिलता है, तो चित्त में दुःख के प्रति और सुख के प्रति एक छाप सी पड़ती है। दुःख की छाप और सुख की छाप। इसी छाप को वासना कहा गया है। जीव जब कभी पुनः कर्म करने में प्रवृत्त होता है, तो दुःख की छाप रूपी वासना से प्रेरित होकर दुःख देने वाले कर्म से बचता है और सुख की छाप रूपी वासना से प्रेरित होकर सुख देने वाले कर्म में लग जाता है। इस वासना रूपी आशय से ईश्वर सर्वथा अलग है।

कोई यह न विचार करे कि जीव भी तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला होने से स्वच्छ है, अविद्या आदि से निर्लिप्त है। इसका समाधान करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते'

अर्थात् अविद्या, अस्मिता आदि पांचों क्लेश, पाप व पुण्य कर्म, कर्मों का फल (दुःख-सुख) और वासना रूपी आशय ये सब मन में निवास करते हैं अर्थात् मन में रहते हैं, जीव में नहीं। फिर भी 'जीव में रहते हैं' ऐसा कहा जाता है। क्यों? **'स हि तत्फलस्य भोक्तेति'** क्योंकि उन कर्मों के फल अर्थात् दुःख या सुख आते तो मन में हैं पर उनका अनुभव या अनुभूति जीव को ही होती है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि ये जीव में रहते हैं। यथार्थ में ये मन में रहते हैं। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास ने एक अच्छा उदाहरण दिया है—

'यथा जयः पराजयो वा योद्धषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते'

अर्थात् जैसे दो देशों के सैनिक परस्पर युद्ध करते हैं, तो एक देश के सैनिक हार जाते हैं और दूसरे देश के सैनिक जीत जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहा जाता है कि उस देश का राजा हार गया है और इस देश का राजा जीत गया है। जबकि दोनों राजा स्वयं युद्ध नहीं कर रहे हैं। परन्तु युद्ध का फल (हार या जीत) राजा को मिल रहा है। ठीक इसी प्रकार मन और आत्मा के विषय में समझना चाहिए।

संसार में एक यह भी मान्यता चली आ रही है कि जीव ही विशेष योग्यताओं को प्राप्त करके स्वयं ईश्वर बन जाता है। परन्तु महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि ऐसा कभी नहीं हो सकता। जीव तो जीव ही रहता है, वह ईश्वर कभी नहीं बनता; और ईश्वर भी कभी जीव नहीं बनता, ईश्वर सदा ईश्वर ही रहता है। क्योंकि वस्तु अपने स्वभाव को कभी भी बदल नहीं सकती है। यह ही शाश्वत सिद्धान्त है। इस बात को वे इस रूप में स्पष्ट करते हैं—

'कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः'

अर्थात् विशेष योग्यताओं को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करने वाली बहुत सी मुक्त आत्माएँ हैं, जो ईश्वरीय आनन्द में विचरण कर रही हैं, वे मुक्ति में किस प्रकार गई हैं? इस संदर्भ में ऋषि लिखते हैं—

'ते हि त्रीणि बन्धनानि च्छित्वा कैवल्यं प्राप्ता,
ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी'

अर्थात् वे मुक्त आत्माएँ स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीर और सत्त्व, रज व

तम रूपी कारण-शरीर इन तीनों शरीरों के बन्धनों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हुई हैं। परन्तु ईश्वर इन तीनों बन्धनों में न कभी आया, न ही कभी भविष्य में आयेगा। इससे यह भी स्पष्ट किया जा रहा है कि जो वर्तमान में करोड़ों मनुष्य ईश्वर को शरीर धारण करने वाला मान कर उसकी शरीरधारी के रूप में पूजा करते हैं, वह ठीक नहीं है।

जीव में और ईश्वर में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जीव तीनों बन्धनों में आता है और ईश्वर तीनों बन्धनों में कभी नहीं आता है। ऋषि और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य'

अर्थात् जैसे जो आज मुक्त-आत्माएँ हैं वे मुक्त होने से पहले तीनों बन्धनों में रहती थीं। परन्तु ईश्वर तीनों बन्धनों में कभी भी नहीं था। ऋषि और भी स्पष्ट करते हैं—

'यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य'

अर्थात् जैसे योगी समाधि की अवस्था में मुक्ति जैसा अनुभव करता है, परन्तु जब समाधि से व्यवहार-काल में आता है, तो बन्धन अनुभव करता है। इतना ही नहीं मुक्त-आत्मा मुक्ति का फल (आनन्द) भोग कर (मुक्ति का समय पूर्ण होने पर) पुनः बन्धन में आती है। परन्तु ईश्वर के साथ ऐसा नहीं होता, क्योंकि ईश्वर न तो पहले बन्धन में था, न बाद में बन्धन में आयेगा। इसलिए ऋषि लिखते हैं—

'स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति'

अर्थात् वह ईश्वर तो सदा से मुक्त था और सदा मुक्त रहेगा एवं वह ईश्वरपन को कभी छोड़ता नहीं है।

यह जो बार-बार कहा जा रहा है कि ईश्वर सदा से मुक्त है और सदा ईश्वर ही रहता है, कभी शरीर धारण नहीं करता है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास प्रश्न करके समाधान करते हैं—

'योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति'

अर्थात् यह जो ईश्वर के विषय में कहा जा रहा है कि ईश्वर सदा मुक्त है सदा ईश्वरपन को नहीं छोड़ता, तो ईश्वर के सदा मुक्त होने में कोई

आधार या निमित्त अथवा यूँ कहें कि कोई प्रमाण भी है या नहीं। क्यों नहीं? प्रमाण अवश्य है। क्या प्रमाण है? **'तस्य शास्त्रं निमित्तम्'** अर्थात् ईश्वर के सदा मुक्त होने में शास्त्र (वेद) प्रमाण है। यदि ईश्वर के सदा-मुक्त होने में वेद प्रमाण है, तो **'शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम्'** वेद का आधार (अर्थात् प्रमाण) कौन है। इसका समाधान यह है—

'प्रकृष्टसत्वनिमित्तम्'=ईश्वर स्वयं प्रमाण है।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ईश्वर के सदा-मुक्त होने में वेद को प्रमाण स्वीकारा है, फिर वेद को सिद्ध करने के लिए ईश्वर को प्रमाण बताया जा रहा है? यह तो ऐसा ही है कि जैसे किसी व्यक्ति के सामने बेर (फल) और अमरूद (फल) रखकर प्रश्न किया जाये कि बेर छोटा है या अमरूद। कोई भी उत्तर देगा कि बेर छोटा है। यदि उससे यह पूछा जाये कि बेर ही छोटा क्यों? तो उत्तर देगा अमरूद की अपेक्षा से छोटा है। फिर उसी व्यक्ति से पूछा जाये कि अमरूद बड़ा है या बेर। उत्तर यह देगा कि अमरूद बड़ा है। अमरूद ही क्यों बड़ा? तो उत्तर यही देगा कि बेर की अपेक्षा से अमरूद बड़ा है। यहाँ पर बेर को छोटा सिद्ध करने के लिए अमरूद को प्रमाण माना है और अमरूद को बड़ा सिद्ध करने के लिए प्रमाण पूछा तो बेर का प्रमाण दिया जा रहा है। क्या यह उचित है कि आपस में एक दूसरे को प्रमाण बता कर सिद्ध किया जाये, बिल्कुल गलत है। क्यों? क्योंकि बेर को छोटा सिद्ध करने के लिए अमरूद को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका अर्थ है कि बेर का छोटापन पहले से सिद्ध नहीं है। इसीलिए अमरूद का प्रमाण दिया गया है। अब हमें अमरूद को ही सिद्ध करना है, तो बेर को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। क्यों? क्योंकि बेर पहले से ही सिद्ध नहीं है, जो असिद्ध हो, उसे प्रमाण के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। जैसे बेर के विषय में है वैसे अमरूद के विषय में भी समझना चाहिए। यहाँ पर बेर और अमरूद एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध किये जा रहे हैं। अतः ये दोनों प्रमाण नहीं बन सकते। जिस प्रकार से ये दोनों प्रमाण नहीं बन सकते। ठीक इसी प्रकार ईश्वर के सदा-मुक्त रहने में वेद को प्रमाण बताना और वेद को सिद्ध करने में ईश्वर को प्रमाण बताना भी गलत है। ऐसा कोई कहे, तो ठीक नहीं है।

यह कैसे हो सकता है कि बेर और अमरूद को तो प्रमाण न माना जाये, परन्तु ईश्वर के सदा मुक्तपन को और वेद को प्रमाण स्वीकारा जाये। यह अन्याय सा लगता है। परन्तु यह अन्याय नहीं है। ऐसा क्यों? इसका समाधान स्वयं महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः'

अर्थात् ईश्वर नित्य है अर्थात् सदा से विद्यमान है। इसी प्रकार ईश्वर का सदा मुक्तपना और वेद (ज्ञान) ये दोनों सदा से ईश्वर में विद्यमान रहते हैं। जब से ईश्वर है तब से मुक्तपना और वेद-ज्ञान हैं। इसलिए मुक्तपना और वेद-ज्ञान का ईश्वर के साथ अनादि काल से संबन्ध है। इससे ईश्वर का मुक्तपना और वेद-ज्ञान नित्य हैं, ऐसा सिद्ध होता है। इस स्थिति में पहले से ही सिद्ध मुक्तपन का प्रमाण वेद-ज्ञान के लिए दिया जा सकता है और पहले से सिद्ध वेद-ज्ञान का प्रमाण मुक्तपन के लिए दिया जा सकता है। परन्तु बेर और अमरूद पहले से सिद्ध इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे अनित्य हैं। अत: बेर के छोटे होने में शाश्वत प्रमाण अमरूद नहीं बन सकता। ऐसे ही अमरूद के बड़े होने में बेर प्रमाण नहीं बन सकता। इसलिए जीव जीव ही रहेगा, कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता।

'एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वर सदैव मुक्त इति'

अर्थात् इसी कारण यह कहा जा रहा है कि ईश्वर सदा ही ईश्वर रहता है, शरीर धारण नहीं करता; और सदा ही मुक्त रहता है, बन्धन में कभी नहीं आता है।

'तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्'

अर्थात् यह जो ईश्वर का ईश्वरत्व है अर्थात् ईश्वरपन है। यह ईश्वर की अनन्त विशेषताओं के कारण है। इसीलिए ईश्वर के ऐश्वर्य के सामने किसी का ऐश्वर्य टिकता नहीं है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर के ऐश्वर्य के समान या अधिक ऐश्वर्य किसी का ऐश्वर्य नहीं है।

'न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते'

अर्थात् यदि संसार का सारा ऐश्वर्य भी एकत्रित करके उसकी ईश्वर के ऐश्वर्य के साथ तुलना की जाये, तो ईश्वर के ऐश्वर्य के समक्ष कम ही रहेगा। 'यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्' जिसका अधिक ऐश्वर्य होगा

वही ईश्वर माना जायेगा। जीव का ऐश्वर्य हो चाहे संसार का ऐश्वर्य हो, ये दोनों ऐश्वर्य ईश्वर के समक्ष न्यून ही ठहरते हैं। '**तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इति**'=इसीलिए जिसमें सर्वाधिक ऐश्वर्य ठहरता है, उसे ही ईश्वर कहते हैं। '**न च** तत्समानमैश्वर्यमस्ति' अर्थात् ईश्वर के समान ऐश्वर्य किसी का भी नहीं होता है। ऐसा समझना चाहिए।

'**कस्मात्**'=ऐसा क्यों? इसका उत्तर महर्षि ने उदाहरण देकर समझाया—

'द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्'

अर्थात् जैसे किसी व्यक्ति को बाजार से टी०वी० (दूरदर्शन) खरीदना हो, तो किसी दुकान में जाता है। दुकान मालिक ग्राहक के सामने एक ही कम्पनी के दो टी०वी० दिखाये। उन दोनों में एक नया है (अभी-अभी मार्केट में प्रस्तुत हुआ है), दूसरा पुराना है। टी०वी० लेने के समय में ग्राहक के सामने पुराना और नया दोनों हैं। ग्राहक के मन में एक टी०वी० उत्तम और दूसरा टी०वी० निम्न स्तर का सिद्ध होता है। और 'द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति' अर्थात् भले ही एक ही कम्पनी के दोनों टी०वी० समान हों, लेकिन उन दोनों टी०वी० को ग्राहक नहीं ले सकता है, जिसे लेगा वह श्रेष्ठ व दूसरा न्यून सिद्ध होगा। क्योंकि '**अर्थस्य** विरुद्धत्वात्' अर्थात् ग्राहक उत्तम को ही लेता है, निम्न को कभी नहीं लेगा।

'तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं **स** एवेश्वरः।
स च पुरुषविशेष **इति**'

जैसे टी०वी० के उदाहरण में उत्तम और निम्न स्तर के सिद्ध होने से उत्तम में हमारा आकर्षण उत्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार चाहे जीव का ऐश्वर्य हो या चाहे संसार का ऐश्वर्य हो। ये ऐश्वर्य एक तरफ हैं और ईश्वर का ऐश्वर्य दूसरी तरफ है। जब इन दोनों में तुलना करते हैं, तो ईश्वर का ही ऐश्वर्य सर्वोत्तम सिद्ध होता है। इसलिए ईश्वर के ऐश्वर्य के समान किसी का भी ऐश्वर्य नहीं ठहरता है और न ही ईश्वर के ऐश्वर्य से अधिक ठहरता है। इसीलिए वह जीव से सर्वथा भिन्न होने से ईश्वर कहलाता है

और उसी ईश्वर को पुरुष-विशेष कहते हैं।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

इस सूत्र का संक्षेप में यह अर्थ है कि ईश्वर अविद्या आदि क्लेशों, पाप व पुण्य कर्मों, कर्मों के सुख व दुःख रूपी फलों और वासनाओं से सर्वथा भिन्न है और सभी पुरुषों से विशेष होने से उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर का सबसे बड़ा ऐश्वर्य उसका आनन्द है। उस ऐश्वर्य को प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

❖❖❖❖❖

ईश्वर सर्वज्ञ है

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥

पूर्व सूत्र में जीव से ईश्वर की सर्वथा भिन्नता बताते हुए उसे क्लेशों, पाप-पुण्य कर्मों, कर्मों के फलों और वासनाओं से अलग बताया था। प्रस्तुत सूत्र में ईश्वर के ज्ञान को लेकर बताया जा रहा है कि ईश्वर में सर्वाधिक ज्ञान है। महर्षि वेदव्यास सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं **बह्विति** सर्वज्ञबीजमेतद् विवर्धमानं **यत्र** निरतिशयं **स सर्वज्ञः**।'

अर्थात् संसार में जितनी वस्तुएँ (जिनको हमने नहीं देखा) भूतकाल में थीं, उनकी जानकारी; भविष्य में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होंगी उनकी जानकारी और वर्तमान में जितनी वस्तुएँ हैं जो अलग-अलग वस्त्र, अलग-अलग बर्तन, अलग-अलग धातुएँ=सोना, चांदी, पीतल, तांबा आदि, अलग-अलग प्रकार के आधुनिक साधन=घड़ी, फोन, टी०वी०, सी.डी. प्लेयर, विडियो कैमरा, फोटो कैमरा, कम्प्यूटर, अलग-अलग वाहन=दो पहिये के, चार पहिये के, अलग-अलग अनाज, अलग-अलग फल, अलग-अलग सब्जियाँ, अलग-अलग वनस्पतियाँ, अलग-अलग वृक्ष, अलग-अलग लताएँ, अलग-अलग मकान, अलग-अलग मिट्टी, अलग-अलग पानी, अलग-अलग अग्नि, अलग-अलग वायु, अलग-अलग नक्षत्र, अलग-अलग जलचर, अलग-अलग कीट-पतंग, पशु, पक्षी, अलग-अलग देश, अलग-अलग प्रकार के मनुष्य आदि उनकी जानकारी।

इन सभी अनगिनत वस्तुओं की जानकारी अलग-अलग मनुष्यों को अलग-अलग प्रकार से होती है। बिना जानकारी के कोई भी मनुष्य नहीं होता। किसी को भूगर्भ के संबन्ध में जानकारी है, तो किसी को वनस्पति के संबन्ध में जानकारी है। वनस्पति-विज्ञानी को भूगर्भ संबन्धी ज्ञान उतना नहीं होता और भूगर्भ-विज्ञानी को वनस्पति संबन्धी ज्ञान उतना नहीं होता। कोई कोई बिरला ही होता है कि जिसे अनेक प्रकार का ज्ञान होता है। ठीक इसी प्रकार अलग-अलग मनुष्यों को अलग-अलग ज्ञान अलग-अलग विषयों से संबन्धित होता है। एक मनुष्य को जिस विषय का जितना ज्ञान होता है। दूसरे मनुष्य को उसी विषय में अधिक ज्ञान हो सकता है। तीसरे मनुष्य को उससे भी अधिक ज्ञान हो सकता है। चौथे को उससे भी अधिक। पांचवे को उससे भी अधिक। छठे को उससे भी अधिक, सातवें, आठवें, नववें, दशवें को उससे भी अधिक, उससे भी अधिक। इस प्रकार सभी मनुष्यों से भी अधिक ज्ञान जिसको हो और उससे अधिक अन्य किसी का न हो, तो वह सर्वाधिक ज्ञानी कहलायेगा। यहाँ एक विषय के संबन्ध में यह विचार किया है।

ठीक इसी प्रकार संसार भर के समस्त पदार्थों के विषय में विचार किया जाये, तो एक से बढ़ कर एक ऐसे लोग हैं जिनकी जानकारी विलक्षण होती है। फिर भी उनकी जानकारी किसी में कम (न्यून) ठहरती है और किसी में अधिक ठहरती है। इस प्रकार कम से अधिक, अधिक से अधिक और अधिक से अधिक, और भी अधिक से अधिक जानकारी जिसमें होती है, वह बड़ा ज्ञानी कहलायेगा। जैसे वैज्ञानिक लोग हैं। वे भी अलग-अलग प्रकार के अलग-अलग विषयों के होते हैं। सभी वैज्ञानिकों, ज्ञानियों, महापुरुषों, ऋषियों, महर्षियों से भी अधिक ज्ञान जिसमें ठहरता हो। जो कि समस्त विषयों की जानकारी रखता हो। जिससे संसार का कोई भी पदार्थ अछूता न हो। संपूर्णतः से सब को जानता हो और उससे अधिक ज्ञानी और कोई भी न हो, वही सर्वज्ञानी है अर्थात् सब कुछ को जानने वाला है। उसी को सर्वज्ञ कहते हैं। जो सर्वज्ञ है वही ईश्वर है। जीव से सर्वथा विलक्षण है। जीव की जानकारी में और ईश्वर की जानकारी में मानो धरती और आकाश का अन्तर है।

महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

'अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति'

अर्थात् कोई मनुष्य यह न समझे कि जानकारी की सीमा नहीं होती है। ज्ञान की सीमा अवश्य है, जिससे अधिक ज्ञान और किसी के पास न हो, उसी में ज्ञान की अन्तिम सीमा है। क्योंकि उससे अधिक और कोई ज्ञान बचता ही नहीं है। इसलिए जानकारी की सीमा है।

इस संबन्ध में ऋषि ने परिमाण का उदाहरण दिया है। परिमाण का अभिप्राय है कि कोई वस्तु जितने स्थान (अवकाश) में रहती है उतने फैलाव को परिमाण (माप) कहते हैं। छोटे से छोटे पदार्थ का भी अलग परिमाण होता है। जो सबसे छोटा है उसे अणु कहते हैं। उसका भी परिमाण होता है। यदि कोई कहे उसके भी टुकड़े कर सकते हैं, तो भी जो सबसे छोटा टुकड़ा हो, जिसका और टुकड़ा न बनता हो, जो अति सूक्ष्म हो, उससे अधिक और कोई सूक्ष्म न हो, ऐसी सूक्ष्म वस्तु जितने स्थान (अवकाश) में रहती है, वह सूक्ष्म-परिमाण कहलाता है। यह सूक्ष्म-परिमाण की अन्तिम सीमा है। ठीक इसी प्रकार से बड़े से बड़े पदार्थ हैं। जैसे पर्वत, धरती, सूर्य, सूर्य से भी बड़े-बड़े नक्षत्र हैं और पूरे ब्रह्माण्ड को एक वस्तु के रूप में देखा जाये, तो कितना बड़ा है। ब्रह्माण्ड से भी बड़ा आकाश है। क्योंकि आकाश में संपूर्ण ब्रह्माण्ड विद्यमान है। यह आकाश बृहद्-परिमाण वाला है। आकाश से बड़ा और कोई नहीं है। यह बृहद्-परिमाण की अन्तिम सीमा है। इस प्रकार छोटे से छोटे परिमाण की अन्तिम सीमा है और बड़े से बड़े परिमाण की भी अन्तिम सीमा है। इसी प्रकार ज्ञान की भी अन्तिम सीमा है। इसलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति'

अर्थात् जिस में ज्ञान की अन्तिम सीमा होती है अर्थात् जो सर्वाधिक जानता है, जिससे अधिक और कोई नहीं जानता, वह सर्वज्ञ कहलाता है। वह ही पुरुष विशेष है अर्थात् ईश्वर है।

महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

'सामान्यमात्रोपसंहारे **च** कृतोपक्षयमनुमानं **न** विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति **तस्य** संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या।'

अर्थात् संसार को देखने से ईश्वर की शक्ति-सामर्थ्य की जो जानकारी होती है, वह जानकारी सामान्य जानकारी कहलाती है। इसे अनुमान नामक प्रमाण से होने वाली जानकारी कहते हैं। अनुमान का वस्तु की साधारण (सामान्य) जानकारी देने में सामर्थ्य है। अनुमान वस्तु की विशेष जानकारी देने में असमर्थ है। जैसे किसी ने रात्रि में जलते हुए बल्ब को देखा, देखकर वह अनुमान करता है कि चूंकि बिना बनाने वाले के कोई भी वस्तु नहीं बनती। अतः बल्ब को किसी ने बनाया। यह जो बल्ब के बनाने वाले के संबन्ध में जानकारी मनुष्य को हो रही है। इसे अनुमान-प्रमाण से होने वाली जानकारी कहते हैं। यह जानकारी सामान्य (साधारण) जानकारी कहलाती है। परन्तु बनाने वाले की विशेष जानकारी तब होती है जब बनाने वाले से प्रत्यक्ष मिला जाये अथवा बनाने वाला न हो, तो उसकी विशेष जानकारी जिस पुस्तक में लिखी हो, उसे पढ़ा जाये। विशेष जानकारी क्या है ? बल्ब बनाने वाले का नाम, उसका स्थान, आयु, उसकी अन्य योग्यताएँ, इन सब की जानकारी को विशेष जानकारी कहते हैं। यह विशेष जानकारी प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है अथवा शब्द (शास्त्र या आगम) प्रमाण से होती है। ठीक इसी प्रकार से संसार को देखने से ईश्वर की सामान्य जानकारी होती है कि इतने बड़े संसार को किसी ने बनाया है। बिना बनाने वाले के संसार नहीं बन सकता। इस अनुमान से ईश्वर की सामान्य (साधारण) जानकारी होती है। विशेष जानकारी नहीं होती है। क्योंकि अनुमान में इतना ही सामर्थ्य है। परन्तु ईश्वर की विशेष जानकारी आगम-प्रमाण को अर्थात् वेद को पढ़ने से होती है। ईश्वर का क्या नाम है, ईश्वर का क्या वास्तविक स्वरूप है, ईश्वर में क्या-क्या विशेषताएँ हैं, ईश्वर संसार का निरन्तर पालन कर रहे हैं, समय आने पर संसार का प्रलय भी करेंगे, ईश्वर मनुष्यों को पाप व पुण्य कर्मों के फल दुःख या सुख रूप में मनुष्य, पशु आदि बना कर देते हैं इत्यादि अनेकों विषयों में विशेष जानकारी होती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को वेद पढ़ना चाहिए।

ईश्वर ने संसार को बनाया है, तो किस उद्देश्य से बनाया है, इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तस्याऽत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्'

अर्थात् संसार को बनाने में ईश्वर का अपना (स्वयं का) कोई भी स्वार्थ नहीं है। उसने प्राणिमात्र के कल्याण (सुख) के लिए इसे बनाया है। यह ईश्वर का निःस्वार्थ परोपकार है। ईश्वर के समान और कोई भी मनुष्य निःस्वार्थ कभी नहीं होता है। जहाँ कहीं साधु, सन्तों, ऋषियों, मुनियों के विषय में 'निःस्वार्थ भावना से परोपकार करते हैं या करते थे' ऐसा जो कहा जाता है, वह मोटे रूप में कहा जाता है। अर्थात् जिनकी कोई भी सांसारिक कामना नहीं होती है, ऐसे लोगों के लिए कहा जाता है। परन्तु उनकी भी मोक्ष की कामना होती है। संसार की और मोक्ष की दोनों की कामना न हो, ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं होता है। यह शब्द (वेद) प्रमाण से सिद्ध है। ईश्वर की सदा यह भावना रहती है—

'ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु
संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति'

अर्थात् समस्त पदार्थों का ज्ञान देकर और कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के बोध के लिए धर्म का उपदेश (वेद के माध्यम से अथवा साक्षात् समाधि के द्वारा) कर सांसारिक मनुष्यों का कल्याण करूँगा, ऐसा विचार करके ईश्वर बार-बार सृष्टि बना-बना कर उद्धार करता है। जिससे मनुष्यों को पूर्ण सुख मिल सके। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास ने किसी अन्य आचार्य का उद्धरण देते हुए लिखा है—

'तथा चोक्तम्-आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति'

विद्वानों के विद्वान् परमेश्वर को आदि विद्वान् कहते हैं। आदि विद्वान् परमैश्वर्यशाली भगवान्, सब जानने वाले, ऋषियों के भी ऋषि परम-ऋषि ईश्वर ने जीवात्माओं के लिए-जो आनन्द से रहित हैं और आनन्द को प्राप्त करने की जिज्ञासा लिए हुए हैं- परम दया (करुणा) करके वेद का उपदेश दिया है, ताकि इसे पढ़ कर, ईश्वर को जान कर, दुःखों से छूट कर वह ईश्वरीय आनन्द को पा सके।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि ईश्वर में जो सर्वाधिक ज्ञान है वह ज्ञान ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण बनता है।

❖❖❖❖

ईश्वर गुरुओं का भी गुरु

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ २६ ॥

पूर्व सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास ने ईश्वर को ज्ञान एवं धर्म का उपदेश करने वाला बताया है। जो भी ज्ञान देता है, वह गुरु कहलाता है। ईश्वर भी हम सबको ज्ञान देता है, इसलिए ईश्वर भी हम सब का गुरु है। ज्ञान की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है, क्योंकि बिना ज्ञान के हम दुःखों को दूर नहीं कर सकते। ज्ञान सर्वदा दुःख को दूर कर सुख को देने वाला होता है। अज्ञान सर्वदा सुख को दूर कर दुःख को देने वाला होता है। इसी कारण मनुष्य को सर्वदा ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान अपने आप नहीं मिलता। ज्ञान को प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राप्त करना होता है। जिसके पास पहले से ज्ञान हो, वह ही अन्यों को ज्ञान दे सकता है। मनुष्य के पास पहले से वह ज्ञान नहीं है, जिस ज्ञान से संसार में रहते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हुए मुक्ति को प्राप्त कर सके। यद्यपि आज हमारे पास बहुत ज्ञान-विज्ञान है, परन्तु यह ज्ञान-विज्ञान हमने अन्यों से सीखा है, अपना स्वयं का सर्वथा नहीं है। जिन अन्यों से हमने सीखा है, उन अन्यों ने भी दूसरे अन्यों से सीखा है। उन्होंने भी अपने पूर्वजों से सीखा है। उन पूर्वजों ने भी अपने पूर्वजों से सीखा है। इस प्रकार पीछे-पीछे चलते जायें, तो अन्त में सृष्टि के प्रारम्भ में जायेंगे।

जब सृष्टि (=संसार) बनी तब सब से पहले मनुष्य को किसने ज्ञान दिया है? इसका समाधान यह है कि जिस ईश्वर ने संसार को बनाया, उसी ईश्वर ने मनुष्यों को ज्ञान दिया है। ईश्वर यदि इतना सुन्दर एवं सुखकारक संसार केवल बना कर छोड़ देता, तो मनुष्य संसार का सुख कैसे लेता, संसार का ज्ञान मनुष्य को न हो, तो मनुष्य संसार का सुख बिना ज्ञान के कैसे लेता? मनुष्य को बिना सिखाये कुछ भी नहीं आ सकता। यह स्थिर सिद्धान्त है। आज भी कोई भी कम्पनी किसी वस्तु को बनाकर छोड़ दे और उसका प्रयोग करने की विधि न सिखाये तो कैसे उपयोग होगा? इसलिए प्रत्येक कम्पनी वस्तु बनाती भी है और उसका उपयोग सिखाती भी है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर ने संसार को बनाया और सिखाया भी है कि

किस प्रकार से संसार का उपयोग लिया जाये। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र कहता है कि परमेश्वर हम सब का गुरु है।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर को ही परम गुरु स्वीकार करे। ऐसा न हो कि ईश्वर को एक तरफ़ रख दें और शरीरधारी गुरु को ही सब कुछ मान लें। यदि कोई ऐसा करता है, तो मनुष्य के द्वारा ईश्वर के प्रति घोर अन्याय करना ही माना जायेगा। वर्तमान में ऐसे अनेकों शरीरधारी गुरु हैं, जो अपनी पूजा करवाते हैं और जनता इन्हीं शरीरधारी गुरुओं की पूजा करती हुई ईश्वर की पूजा छोड़ बैठी है। किसी भी शरीरधारी गुरु की पूजा (=आदर, सत्कार) करना अनुचित नहीं है। परन्तु जनता किसी एक को ही गुरु मानती है, यह सर्वथा अनुचित है। किसी भी मनुष्य को किसी एक शरीरधारी गुरु को गुरु स्वीकार इसलिए नहीं करना चाहिए क्योंकि मनुष्य को ज्ञान देने वाले बहुत होते हैं। जैसे माता, पिता, अध्यापक, चाचा, चाची, बड़े भाई, भाभी, ताऊ, ताई, बड़े बुजुर्ग व पड़ोसी आदि अनेक होते हैं जिनसे बहुत-सा ज्ञान मनुष्य को मिलता है। मनुष्य को यह भी नहीं करना चाहिए कि सबको एक जैसा गुरु माने। परन्तु जो जितना ज्ञान देता है, वह उतने अंश में गुरु है। उनका उतना ही आदर, सत्कार करना चाहिए। परन्तु मनुष्य ऐसा न कर एक ही गुरु का आदर, सत्कार करता है, यह ही अन्यों के प्रति अन्याय है।

तनिक विचार करके देखें कि एक इंजीनियर, डॉक्टर, वकील, सी.ए., आई.ए.एस., आई.पी.एस. आदि जो-जो बने हैं, वे कितने-कितने गुरुओं के पुरुषार्थ से बने हैं? जो बच्चे होश भी संभाल नहीं पाते, ऐसे बच्चों को आजकल आंगनबाड़ी आदि छोटे-छोटे स्कूलों में भेजते हैं। उस समय उन बच्चों को बड़े लोग प्रेम से (=माता के समान) जो-जो सिखाते हैं, वह-वह उन बच्चों के ज्ञान का मूल आधार बनता है। वे भी गुरु हैं। उसके बाद नर्सरी स्कूल में जाकर सीखते हैं। वहाँ सिखाने वाले भी गुरु हैं। वहाँ से प्राथमिक विद्यालय में, वहाँ से माध्यमिक विद्यालय में, वहाँ से उच्च माध्यमिक विद्यालय में। इस प्रकार बारहवीं कक्षा तक न जाने कितने-कितने गुरुओं से सीखा है। वे सारे भी गुरु हैं। विद्यालय के गुरुओं से अलग ट्यूशन पढ़ाने वाले भी बहुत से गुरु हैं, वे भी गुरु कहलाते हैं।

बारहवीं करके अलग-अलग विषयों में पढ़ने के लिए जाते हैं। वहाँ पर भी कितने गुरु पढ़ाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति अपने पावों पर खड़े होने तक कितने गुरुओं से सीखकर संसार का विपुल सुख लेता है। परन्तु वही व्यक्ति किसी एक ही शरीरधारी गुरु को अपना कर उसी की पूजा करने लगता है। जब कभी उसके विद्यालय, महाविद्यालय के गुरु दिखाई भी देते हैं, तो मुख फेर कर चला जाता है। यह उस गुरु के प्रति अत्यन्त अन्याय है अथवा मुख फेर कर न भी जाये परन्तु उनका जितना आदर व सत्कार करना चाहिए, उतना भी प्रायः नहीं करता है। यह घोर अन्याय है।

ईश्वर को छोड़कर शरीरधारी गुरु की ही पूजा करना सर्वथा गलत है, अन्याय है, घोर पाप है। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते'

अर्थात् जो पहले के गुरु हैं (=जो वर्तमान में नहीं हैं) वे काल से ग्रसित हुए हैं अर्थात् शरीर छोड़ कर चल बसे हैं। उनकी पूजा (आदर, सत्कार) अब हम नहीं कर सकते। अथवा उनका चित्र लगा कर फूल माला आदि नहीं डाल सकते। हाँ, उनकी दी हुई शिक्षा का अनुसरण कर सकते हैं और जो वर्तमान में जितने भी गुरु हैं, वे भी काल से ग्रसित होंगे। क्योंकि यह नियम है कि जो भी शरीर धारण करता है, उसे शरीर छोड़ कर जाना ही पड़ता है। यह ही शाश्वत सिद्धान्त है। ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि ये शरीरधारी गुरु परम गुरु नहीं हो सकते। इनकी पूजा ईश्वर की तरह नहीं करना चाहिए। इसीलिए महर्षि लिखते हैं—

'यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एव पूर्वेषामपि गुरुः।'

अर्थात् जिस ईश्वर में काल प्रवृत्त नहीं होता है, वह ईश्वर सदा रहता है। इसलिए जितने गुरु पहले हुए हैं, उन सब का और वर्तमान में जितने गुरु हैं, उन सब का गुरु भी ईश्वर ही है। इतना ही नहीं भविष्य में भी जितने गुरु हो सकते हैं, उनका भी गुरु केवल परम पिता परमेश्वर ही है।

यहाँ पर महर्षि वेदव्यास ने **'पूर्वेषाम्'** शब्द से सृष्टि के आदि काल से जितने गुरु-अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा तथा ब्रह्मा आदि ऋषि, महर्षि, मुनि आदि जितने भी हुए हैं, उन सब का ग्रहण करते हुए हमारे निकट भूतकाल तक का ग्रहण किया है। ऋषि आगे लिखते हैं—

'यथाऽस्य सर्गस्याऽऽदौ प्रकर्षगत्या
सिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः।'

अर्थात् जिस प्रकार से वर्तमान सृष्टि के आदि में ईश्वर सबके कल्याण (=सुख) के लिए वेदों का ज्ञान देकर सब के परम गुरु बने हुए हैं, उसी प्रकार वर्तमान सृष्टि से पहले की सृष्टियों में भी इसी प्रकार वेदों का ज्ञान देकर सबके परम गुरु बने हुए थे और भविष्य में भी जो सृष्टियाँ बनती रहेंगी, उन सृष्टियों में भी ईश्वर इसी प्रकार से वेदों का ज्ञान देकर सब के परम गुरु बनेंगे।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त शरीरधारी गुरु काल के चक्र में नष्ट हो जाते हैं, सदा नहीं रहते हैं परन्तु ईश्वर काल के चक्र में कभी बंधता नहीं अर्थात् कभी नष्ट नहीं होता, बल्कि सदा रहता है। इसलिए शरीरधारी जितने भी गुरु हैं, जो काल से नष्ट हुए हैं, वे और वर्तमान के गुरु तथा भविष्य में होने वाले गुरु, इन सभी गुरुओं के भी गुरु परम गुरु केवल ईश्वर ही हैं। इस कारण ईश्वर की ही पूजा, भक्ति या उपासना करनी चाहिए। शरीरधारी गुरु की कभी नहीं करनी चाहिए।

अभी तक गुरु को लेकर विचार किया गया है। अब गुरु शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं। संस्कृत में '**गृ शब्दे**' इस धातु से गुरु शब्द बनता है—

'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः'

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अर्थात् जो सत्य, न्याय, यथार्थ, दुःखरहित सुख (=आनन्द) प्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता है, उसे गुरु कहते हैं। गुरु की इसी परिभाषा को केवल भौतिक-विद्या से जोड़ कर भी कह सकते हैं—

'गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः'

स्वामी दयानन्द सरस्वती

अर्थात् ईश्वर सब मनुष्यों के उपकारार्थ (=आनन्द के लिए) वेदोपदेश के द्वारा समस्त पदार्थों का (=जो यथार्थ सत्य हैं उनका) उपदेश करता है। इसलिए ईश्वर को गुरु कहते हैं।

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'

इस सूत्र का संक्षेप से यह अर्थ है कि सृष्टि के आदि में जो अग्नि,

वायु, आदित्य, अंगिरा व ब्रह्मा आदि गुरु उत्पन्न हुए थे, उनसे लेकर आज के गुरु पर्यन्त और जो भविष्य में होने वाले गुरु हैं, उन सब का गुरु (=गुरुओं का भी गुरु) परमेश्वर ही है। क्योंकि शरीरधारी गुरु काल के चक्र से नष्ट होते हैं परन्तु परमेश्वर सदा रहने के कारण काल-चक्र में न बंधने से सदा ही गुरु के रूप में विद्यमान रहता है।

❖❖❖❖

ईश्वर का मुख्य निज नाम ओ३म्

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्**' इस सूत्र में ईश्वर को सर्वज्ञ बताया है और ईश्वर से अधिक या समान ज्ञान अन्य किसी भी व्यक्ति या वस्तु में नहीं है, यह भी कहा है। इसके साथ-साथ महर्षि वेदव्यास ने यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए प्रत्येक सृष्टि में वेदों का ज्ञान देता है और ईश्वर की जानकारी संसार की सुव्यवस्थित नियम प्रणाली को देखने से होती है। परन्तु वह जानकारी सामान्य होती है और विशेष जानकारी के लिए शास्त्रों को पढ़ना चाहिए। जिससे ईश्वर के नाम, गुण, कर्म व स्वभाव आदि की जानकारी मिल सके। ईश्वर वेदों का ज्ञान मनुष्यमात्र को देता है इसलिए ईश्वर सब का गुरु है और वह भी सब गुरुओं का गुरु होने से परम गुरु है। ऐसा—

'स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'

इस सूत्र में प्रतिपादित किया है। ईश्वर ज्ञानप्रदाता और सर्वगुरु है, तो ऐसे गुरु को जानना चाहिए।

ईश्वर को कैसे जानें? इस संबन्ध में सब से पहले जिज्ञासा होती है कि ऐसे गुरु का क्या नाम है। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने प्रस्तुत सूत्र की रचना वेदादि सनातन वैदिक ग्रंथों के आधार पर की है। ईश्वर का नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर का नाम प्रणव कहा है न कि ओ३म्। फिर प्रणव शब्द से ओ३म् का ग्रहण क्यों किया जा रहा है? इसका समाधान यह है कि ओ३म् शब्द का पर्यायवाची प्रणव है। इस कारण प्रणव शब्द कहने से

ओ३म् शब्द का ग्रहण हो जाता है। जो प्रणव है वह ओ३म् है और जो ओ३म् है वह प्रणव है।

प्राचीन समस्त ऋषिगण ने भी ईश्वर को कहीं प्रणव शब्द से संबोधित किया है और कहीं ओ३म् शब्द से किया है। जैसे—

'**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म** तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन **वेद्धव्यं** शरवत्तन्मयो **भवेत्॥**' (मुण्डकोपनिषद्)

इस श्लोक में, ईश्वर का नाम प्रणव कहा है।

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छान्दोग्योपनिषद्)

यहाँ पर ओ३म् शब्द से कहा है।

'ओमित्येतदक्ष**रमिदं सर्वं** तस्योपव्याख्यानम्' (माण्डूक्योपनिषद्)

यहाँ पर ओ३म् शब्द से कहा है।

'**सर्वे वेदा** यत्पदमामनन्ति..... ब्रवीम्योमित्येतत्' (कठोपनिषद्)

यहाँ पर भी ओ३म् शब्द से कहा है।

समस्त ऋषि परम्परा में सब से अर्वाचीन (हमारे अति निकट) ऋषि स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए हैं। वे भी प्रणव को ओ३म् ही कह कर लिखते हैं—"**(तस्य वाचकः प्रणवः)** जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का (अग्नि आदि की भांति) वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है" (ऋ०भा०भू० उपासना)। "(ओ३म्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है। क्योंकि इसमें जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय बना है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं" (सत्यार्थप्रकाश)। "सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम (ओ३म्) को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं" (सत्यार्थप्रकाश)। स्वामी दयानन्द के कथन से स्पष्ट होता है कि प्रणव और ओ३म् का एक ही अभिप्राय है।

ईश्वर के अनन्त नाम हैं, परन्तु उनमें ईश्वर का मुख्य और निज नाम ओ३म् है। ऐसा इसलिए है कि अन्य नाम अन्य व्यक्ति (मनुष्यों) और जड़ पदार्थों के भी हैं। परन्तु ओ३म् नाम केवल ईश्वर का ही है। जैसे अग्नि, इन्द्र, भगवान्, ईश्वर, वरुण आदि नाम ईश्वर के भी हैं और मनुष्यों के एवं

जड़ पदार्थों के भी हैं। परन्तु ओ३म् के विषय में ऐसा नहीं है। इसलिए ओ३म् नाम ईश्वर का मुख्य एवं निज नाम है। वेद में भी ईश्वर का नाम ओ३म् कहा है। जैसे '**ओ३म् क्रतो स्मर**' (यजुर्वेद) इसी यजुर्वेद में '**ओ३म् खं ब्रह्म**' कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर ने स्वयं अपना नाम ओ३म् कह कर वेद में वर्णन किया है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य**' अर्थात् प्रणव शब्द का वाच्य ईश्वर है। जैसा कि लोक में नाम और नामी का प्रचलन है। जिस वस्तु का नाम है, उस वस्तु को नामी कहते हैं। इसी प्रकार प्रणव नाम है और ईश्वर नामी है। ऐसा महर्षि वेदव्यास का कथन है। संस्कृत में नाम को वाचक और नामी को वाच्य कहते हैं। यहाँ पर महर्षि प्रश्न उपस्थित करते हैं—

'किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ
प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति ?'

अर्थात् आपने यह जो कहा है कि प्रणव नाम ईश्वर रूपी नामी का है, तो यह नाम और नामी संकेत-जन्य होने से अनित्य हैं अथवा दीपक के प्रकाश से प्रकट होने वाली वस्तुओं के समान पहले से स्थित=नित्य हैं? प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हम मनुष्यों के विषय में होता है कि हम सब पहले से नहीं होते हैं और न ही हमारे नाम होते हैं। हमारे उत्पन्न होने के बाद ही हमारे नाम रख लिए जाते हैं। इसलिए हमारे नाम और हम अनित्य हैं। ठीक इसी प्रकार क्या ईश्वर और उनका नाम भी अनित्य हैं? अथवा ईश्वर और उनका नाम सदा से हैं, नित्य होने से। जैसे दीपक और वस्तुएँ पहले से हैं, केवल अन्यत्र रखे हुए दीपक को अन्धेरे में ले जाते हैं, तो पहले से रखी हुई वस्तुएँ दीपक के प्रकाश से प्रकट होती हैं। ठीक इसी प्रकार ईश्वर और ओ३म् पहले से ही विद्यमान हैं। केवल हम मनुष्य उत्पन्न होकर पहले से विद्यमान ईश्वर को ओ३म् नाम से जानते हैं कि ईश्वर का नाम ओ३म् है। यह ही प्रश्न का तात्पर्य है।

प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि लिखते हैं—

'**स्थितोऽस्य** वाच्यस्य वाचकेन **सह संबन्धः।**
संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति।'

अर्थात् ईश्वर रूपी नामी का ओ३म् रूपी नाम के साथ जो संबन्ध है वह संबन्ध नित्य है। क्योंकि ईश्वर सदा से है और सदा से रहने वाले ईश्वर का नाम भी सदा से है। फिर भी यह जो संकेत किया जाता है कि ईश्वर नामी है और उसका नाम ओ३म् है। यह तो केवल हम मनुष्यों को ध्यान में रख कर किया जाता है। इससे यही समझना चाहिए कि यह पहले से विद्यमान ईश्वर का संकेत मात्र है। इस संदर्भ में महर्षि ने सरल उदाहरण देकर समझाया है—

'यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः
संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति'

अर्थात् एक स्थान पर पिता और पुत्र दोनों रहते हैं। पिता और पुत्र का जो संबन्ध है, यह पहले से ही है। जब कभी दोनों एक साथ कहीं पर जाते हैं। वहाँ पहले से न जाने हुए लोगों के लिए कोई संकेत करता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है। क्या यहाँ पर इनके संकेत करने से पहले वे परस्पर पिता और पुत्र नहीं थे ? पहले से ही थे, केवल न जाने हुए लोगों को नवीन जानकारी मात्र हुई है, ऐसा समझना चाहिए। ठीक इसी प्रकार ईश्वर और ओ३म् के संदर्भ में समझना चाहिए।

ईश्वर का यह नाम और नामी का संबन्ध न केवल इस सृष्टि तक सीमित है बल्कि '**सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते।**' अर्थात् भविष्य में आने वाली अनगिनत सृष्टियों में भी इसी प्रकार का नाम और नामी का संबन्ध निरन्तर चलता रहेगा। यह नाम और नामी का सामर्थ्य कभी समाप्त नहीं होगा। इस संबन्ध में महर्षि अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हैं—

'संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ संबन्ध
इत्यागमिनः प्रतिजानते।'

अर्थात् वेदादि समस्त शास्त्रों को पढ़े हुए शास्त्रवेत्ता यह समझते हैं कि ईश्वर नित्य है और ईश्वर का ज्ञान भी नित्य है। इसलिए नित्य ईश्वर के ज्ञान से ओ३म् रूपी शब्द का ईश्वर रूपी अर्थ के साथ संबन्ध भी नित्य है अर्थात् जब तक (सदा) ईश्वर व ईश्वर का ज्ञान है तब तक (सदा) ओ३म् का संबन्ध ईश्वर के साथ रहेगा। ऐसा वेदवेत्ता समझते हैं।

'तस्य वाचकः प्रणवः' सूत्र का संक्षेप से यह अर्थ है कि ज्ञानप्रदाता, सर्वगुरु उस परमपिता परमेश्वर का नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। ऐसा जानना चाहिए।

❖❖❖❖❖

भावना के साथ जप

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८ ॥

संसार की संरचना को देख कर मनुष्य उसके बनाने वाले ईश्वर के प्रति खिंचता चला जाता है। उसके मन में उत्कट जिज्ञासा प्रादुर्भूत होती है कि इतने सुखकारी सुंदर संसार को बनाने वाले का क्या नाम है? और कहाँ रहता है, इत्यादि अनेकों प्रश्न उपस्थित होते हैं। सभी प्रश्नों का समाधान बिना शास्त्र पढ़े नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य शास्त्रों की शरण में आते हैं। शास्त्र परमेश्वर का नाम (**तस्य वाचकः प्रणवः**) ओ३म् बताते हैं। ईश्वर का नाम जानने के उपरान्त ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव क्या हैं? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वेद और वेद के अनुकूल ऋषिकृत ग्रंथों का गहन अध्ययन करते हैं।

उस अध्ययन से ईश्वर का स्वरूप मनुष्य के समक्ष प्रकट होता है कि हम मनुष्यों के कल्याण के लिए परमेश्वर संसार बनाता है और पालन करता है। हमें पूर्ण सुखी बनाने के लिए वेदों का ज्ञान देता है। वेद-ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण सुख (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। यदि मनुष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, तो ईश्वर उनको पुनः अवसर देने के लिए उनके पाप और पुण्य कर्मों के आधार पर मनुष्य, पशु आदि योनियों में भेज देता है। जब संसार मनुष्यों को सुख देने में असमर्थ होता है, तो ईश्वर संसार को प्रलय (नष्ट) कर देता है, जिससे पुनः संसार बना सके। इस प्रकार ईश्वर के अनेकों उत्तमोत्तम कार्यों का ज्ञान कर ईश्वर की अपार दया, करुणा आदि से कितना हमारा उपकार हो रहा है, इसका अनुभव मनुष्य करने लगते हैं। वे ईश्वर के उपकारों का अनुभव कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जितना सुख-आनन्द, बल, सामर्थ्य, ज्ञान आदि ईश्वर से मिलता है उतना कभी भी माता, पिता, पति, पत्नी, भाई, बहन आदि से संभव नहीं है। ऐसी परिस्थिति

में हमारा कर्त्तव्य बनता है कि सबसे अधिक उपकार करने वाले ईश्वर को केवल शास्त्रों से न जान कर प्रत्यक्ष ज्ञान से जानें। क्योंकि ईश्वर को परोक्ष रूप में जान कर हम जीवन में कृतकृत्य (पूर्ण सफल) नहीं हो सकते हैं। इसलिए ईश्वर को प्रत्यक्ष जानकर सारे दुःखों से छूटकर पूर्ण सुखी होना चाहिए।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे करें? इस प्रश्न का समाधान महर्षि पतञ्जलि करते हैं कि **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** मनुष्य ने शास्त्रों से ईश्वर का नाम और ईश्वर के गुणों को जान लिया है, तो उस ईश्वर के नाम (ओंकार) का जप करें और ईश्वर रूपी अर्थ की भावना करें। जिससे ईश्वर प्रत्यक्ष हो जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि जप करने से प्रत्यक्ष हो जाये, यह कैसे हो सकता है। कोई व्यक्ति शास्त्रों में पढ़कर यह जाने कि सोना (सुवर्ण) कीमती वस्तु है। ऐसा जान कर सोने का जप करे, तो क्या उसे सोने का प्रत्यक्ष हो जायेगा? यदि नहीं, तो ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे हो पायेगा? इसका समाधान यह है कि सोने में और ईश्वर में धरती और आसमान का अन्तर है। सोने का जप करने से सोने का प्रत्यक्ष नहीं होगा। हाँ, जहाँ पर सोना हो वहाँ जा कर पुरुषार्थ करने पर सोने का प्रत्यक्ष हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर के विषय में जानना चाहिए। ईश्वर कहाँ रहता है? ईश्वर सब जगह रहता है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ ईश्वर नहीं रहता हो। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर मैं हूँ, वहाँ पर भी ईश्वर विद्यमान है। फिर मैं कहाँ जाऊँ? कहीं पर भी जाने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जहाँ पर मैं हूँ वहीं पर मैं पुरुषार्थ करूँगा। मेरे पुरुषार्थ को ईश्वर जानेगा, क्योंकि ईश्वर चेतन है, जड़ नहीं है। इस कारण महर्षि पतञ्जलि ने **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** नामक सूत्र बनाकर निर्देश दिया है कि जो मनुष्य ईश्वर का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह ईश्वर का जप ओंकार के माध्यम से अर्थ की भावना करते हुए करे।

ओंकार का जप (बार-बार उच्चारण) करना, तो समझ में आता है। परन्तु अर्थ की भावना कैसे करें, यह समझ में नहीं आता है। इसका समाधान यह है कि हमने वेद आदि ग्रंथों को पढ़ा है। उसमें ईश्वर को सबका रक्षक, आनन्द प्रदाता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी आदि माना है। जब हम जप करने के लिए बैठते हैं, तब ओ३म् का उच्चारण करते हैं।

उसी उच्चारण के काल में मन में मानो ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव किया कि हे ईश्वर! आप सब स्थानों में व्याप्त हो रहे हो, मुझ आत्मा में भी विद्यमान हो। मुझे देख, सुन, जान रहे हो। ऐसी स्थिति को उत्पन्न करने का नाम '**ईश्वर रूपी अर्थ की भावना**' है। जप के काल में ओ३म् का उच्चारण और ईश्वर की व्यापकता की भावना मन में चलाना। इसके अतिरिक्त मन में और कोई विचार नहीं लाना। इसका नाम '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' कहलाता है। ओ३म् का उच्चारण और अर्थ की भावना करते-करते ईश्वर प्रत्यक्ष होता है। ऐसा यदि हो, तो यह बहुत सरल है। कोई भी व्यक्ति ऐसा करके ईश्वर का प्रत्यक्ष कर लेगा? इसका समाधान यह है कि ओ३म् का उच्चारण और अर्थ की भावना करना यह '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' का एक पक्ष है। इसके साथ-साथ दूसरा भी पक्ष है। जो महर्षि वेदव्यास सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं। उस ऋषि की पूरी व्याख्या को समझने के बाद कोई प्रश्न नहीं रहता है। वे लिखते हैं—

'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्'

अर्थात् प्रणव=ओंकार का जप=उच्चारण और प्रणव नाम के नामी ईश्वर की भावना करनी चाहिए।

'तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च
भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते'

अर्थात् इस योगी का मन प्रणव-जप करते-करते और ईश्वर रूपी अर्थ की भावना करते-करते एकाग्र हो जाता है। यहाँ पर महर्षि वेदव्यास ने यह नहीं लिखा है कि कोई भी जप करे और मन एकाग्र हो जाये। यहाँ पर ऋषि ने विशेष रूप से '**योगिनः**' कह कर संकेत किया है कि सभी जप करने वालों का मन एकाग्र नहीं होता। परन्तु योगाभ्यास करने वाले योगी का मन एकाग्र होता है। योगी व्यक्ति वह होता है, जो योग का अभ्यास करता है। और योग उसे कहते हैं, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हों। जो मनुष्य यम और नियम का पालन नहीं करता हो, वह कितना ही बैठ कर जप कर ले, उसका मन कभी भी एकाग्र नहीं हो सकता। यदि एकाग्र होता हो, तो कोई बतावें। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। इसीलिए जितने भी जप करने वाले हैं, जो प्रायः यह प्रश्न करते हैं

कि मन एकाग्र नहीं हो रहा है, इसका उपाय बतलावें। वे ऐसा उपाय चाहते हैं कि जो यम और नियम से अलग हो। यह कैसे हो सकता है? उनका यम और नियम की ओर ध्यान ले जाते हैं, तो सुनी को अनसुनी कर देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यम और नियम का पालन न करते हुए भी हमारा मन एकाग्र हो जाये, ऐसा वे चाहते हैं। परन्तु शाश्वत नियम उनकी चाहत को पूरा नहीं करता है। यह मुख्य अन्तर है मन के एकाग्र न होने का, ऐसा समझना चाहिए।

योगी ही मन को एकाग्र कर सकता है। बिना योग के मन एकाग्र नहीं हो सकता। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास अपने पूर्वजों (ऋषियों) का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं **'तथा चोक्तम्'**—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥

अर्थात् मन के एकाग्र होने में किसी प्राचीन ऋषि ने भी वैसा ही कहा जैसा मैंने (वेदव्यास ने) कहा। **स्वाध्यायाद्**=स्वाध्याय कर-करके **योग**=ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और **योग**=ध्यान का बार-बार अभ्यास कर-करके फिर स्वाध्याय करना चाहिए। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान रूपी योग की सिद्धि से परमपिता परमेश्वर का दर्शन (प्रत्यक्ष) हो जाता है। यहाँ पर स्वाध्याय का अर्थ महर्षि वेदव्यास के अनुसार यह है—

'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा'

(योग० २.१)

अर्थात् स्वाध्याय का अर्थ है प्रणव, गायत्री मंत्र आदि पवित्र शब्द, वाक्य एवं मंत्रों का उच्चारण करना और मुक्ति को प्राप्त कराने वाले शास्त्रों का अध्ययन करना। जप करने वाले के लिये मुक्ति को प्राप्त कराने वाले शास्त्रों को पढ़ना अनिवार्य है। क्योंकि शास्त्रों को पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है और अज्ञान समाप्त होता है। शास्त्र-अध्ययन के बिना अज्ञान दूर नहीं हो पाता है। शास्त्र-अध्ययन से यथार्थ-ज्ञान होता है। जिससे उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य आदि का बोध हो जाता है। इस बोध के आधार पर ही मनुष्य योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि) का उचित अभ्यास कर पाता है। जैसे-जैसे योग का अभ्यास बढ़ता

जाता है, वैसे-वैसे शास्त्रों की सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। फिर जैसे-जैसे शास्त्रों की सूक्ष्मता (तत्त्वज्ञान की परिपक्वता) बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे योग की सूक्ष्मता (सम्यक् पालना) बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्वाध्याय और योग एक दूसरे के पूरक बनते हुए मनुष्य को ईश्वर-साक्षात्कार तक पहुँचाते हैं। इसलिए मनुष्य को केवल जप मात्र न करके ऋषियों के अनुभव के आधार पर चल कर जैसे-जैसे करने से ईश्वर का दर्शन होता हो, वैसे-वैसे करना चाहिए। अन्यथा ऋषि परम्परा को छोड़ने से असफलता ही असफलता हाथ लगेगी, ऐसा जानना चाहिए।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस सूत्र का अर्थ संक्षेप से इस प्रकार है कि उस परमपिता परमेश्वर के मुख्य निज नाम ओंकार का स्मरण=उच्चारण करते हुए ईश्वर रूपी अर्थ की भावना मन में निरन्तर करते रहना चाहिए। जप के काल में और कोई विचार नहीं लाना चाहिए। ऐसा करने से परमेश्वर का दर्शन (प्रत्यक्ष) हो जाता है।

❖❖❖❖

जप का लाभ

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

संसार में कोई इंजीनियर, कोई डॉक्टर, कोई वकील, कोई आई.ए.एस., कोई आई.पी.एस., कोई वैज्ञानिक, कोई व्यापारी, कोई वेदज्ञ, कोई वक्ता, कोई लेखक, कोई समाज सेवक, कोई नेता आदि बनते हैं। ये सब पुरुषार्थ किये बिना नहीं बनते हैं। परन्तु ऐसा बनना सरल है। फिर कठिन क्या है? ईश्वर का जप=भक्ति=उपासना करना बहुत कठिन है। ऐसा क्यों? क्योंकि चाहे आई.ए.एस. बने, चाहे वेदज्ञ बने। ऐसा बनते हुए भी ये सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहंकार भी करते रहते हैं। इतना ही नहीं हिंसा, असत्य, चोरी आदि भी करते रहते हैं, तो भी वैसा बनने में विशेष बाधा नहीं आती है। परन्तु जप करने वालों में यदि काम, क्रोध, लोभ आदि हैं, तो जप ही नहीं हो पाता है। इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी आदि करते हों तो जप में मन ही नहीं लगता है। ऐसे लोगों का मन अप्रसन्न रहता है। इसीलिए प्रायः लोग कहा करते हैं कि जप=उपासना करना तो चाहते हैं

परन्तु मन ही नहीं लग रहा है। इसलिए 'हम क्या करें?' ऐसा कहा करते हैं। इसी कारण जप करना संसार में सब से अधिक कठिन कार्य है।

संसार में बड़े-बड़े कार्यों को करने वाले बड़े-बड़े लोग हैं। परन्तु उन्हें कहा जाये कि आप को इधर-उधर भाग-दौड़ का कार्य न करके केवल शान्त स्थान में बैठना है। बैठना कैसे? हिलना, डुलना, खुजलाना, खांसना नहीं है। बस प्रतिमा (पत्थर के मूर्ति) की भांति एक आसन में बैठना है। आंखें बंद करनी हैं और अपने मन को अपने ही शरीर में एक स्थान (मस्तक या कण्ठ आदि किसी एक स्थान) पर रोक कर ईश्वर का ध्यान करना है। ध्यान के काल में संसार के पदार्थों और मनुष्यों के विषय में कुछ भी विचार नहीं करना है। केवल ईश्वर का ही चिन्तन करते रहना है। ऐसा कहने पर कितने लोग कर पायेंगे, यह कहना बहुत कठिन है। क्योंकि प्रायः मन पर नियन्त्रण किसी का भी नहीं हो पाता है। इसलिए संसार में जप करना सबसे कठिन कार्य है। परन्तु कठिन कार्य को भी कोई-कोई विरला व्यक्ति सरल बना देता है। वह व्यक्ति जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ को जोड़-जोड़ कर इस जन्म में अथक तपस्या करते हुए घोर पुरुषार्थ कर-करके अपने जन्म को धन्य बनाने के लिए निकल पड़ता है। वह जप करता ही जाता है। वह जप किस प्रकार करता है, इस संदर्भ में हमें अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए।

जप के भेदः- जप करने वाला व्यक्ति प्रारम्भ में वाणी से बोल कर जप करता है। इसे हम ऊँचे स्वर से बोलना भी कह सकते हैं। क्योंकि प्रारम्भिक व्यक्ति मन में नहीं कर पाता है। यदि वह ऊँचे बोल कर जप करता है, तो जप में मन लग जाता है। जैसे ओ३म् का उच्चारण ऊँचे स्वर से लम्बा करके बोल रहा हो, तो उसी ओ३म् में ही मन लगा रहता है। उच्चारण के बाद ओ३म् का अर्थ भी बोल कर अनुभूति बनाता है कि हे ईश्वर! आप सर्वव्यापक हो और आप मुझ आत्मा में भी विराजमान हो। इसके साथ-साथ ईश्वर को यह भी बोल कर अनुभूति बनाता है कि आप मुझे देख, सुन, जान रहे हो। यह जप का पहला भेद है।

इस प्रकार जप करते-करते साधक को अच्छा अभ्यास हो जाता है। साधक जप करते-करते स्वयं ही अपने स्वर को कम करता हुआ धीमी

ध्वनि से जप करने लगता है। वह ध्वनि भी इतनी धीमी होती जाती है कि पास में बैठे व्यक्ति को भी सुनाई नहीं देती है। इस धीमी ध्वनि को मनुस्मृतिकार मनुमहाराज **उपाँशु-जप** कहते हैं। अर्थात् ऐसा जप जिसे करते समय बोला तो जा रहा है, होंठ भी हिल रहे हैं, परन्तु अन्यों को सुनाई नहीं दे रहा है। इसी का नाम उपाँशु जप है। यह जप का दूसरा भेद है।

उपाँशु-जप करते-करते लम्बा अभ्यास हो जाने के बाद साधक के अन्दर स्वतः सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि वह बोलना बन्द कर देता है, होंठ हिलाना बन्द कर देता है और मन में निरन्तर जप चलाता ही जाता है। अर्थात् इतना सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है कि बोले बिना, होंठों को हिलाये बिना केवल मन में ही जप करने लगता है। यह सामर्थ्य केवल अभ्यास के कारण उत्पन्न होता है। यदि कोई समझता हो कि मुझ में बिना अभ्यास के सामर्थ्य है, तो वह सामर्थ्य पहले के (पूर्व जन्म के) अभ्यास के कारण है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि कोई भी विशेषता पुरुषार्थ के कारण प्राप्त होती है। वह चाहे इस जन्म में किया गया हो चाहे पूर्व जन्म में किया गया हो। पुरुषार्थ के पीछे अभ्यास अवश्य जुड़ा हुआ रहता है, ऐसा समझना चाहिए।

मन ही मन में जप करना अथक पुरुषार्थ के बिना संभव नहीं है। मन में जप करते समय कोई भी सांसारिक पदार्थ को और मनुष्य को मन में कभी भी न लाना, केवल ईश्वर का ही चिन्तन निरन्तर चलाते रहना कितना कठिन पुरुषार्थ है, यह वे ही लोग जान सकते हैं, जो जप में लगे हुए हैं। परन्तु बीच-बीच में उनका मन संसार में या किसी व्यक्ति में चला जाता है। वे मन को नहीं ले जाना चाहते हैं, फिर भी मन चला जाता है। बार-बार मन को पकड़-पकड़ कर ईश्वर में लगाते हैं, लेकिन ईश्वर से हट कर मन संसार में लग जाता है। ऐसे लोग अपने इस पुरुषार्थ को देखते हुए अनुभव करते हैं कि मन में ईश्वर से अतिरिक्त कोई भी विचार उत्पन्न न करना अत्यधिक कठिन कार्य है। मन में जप करने को मानसिक-जप कहते हैं। यह जप का **तीसरा** भेद है।

मानसिक-जप करते-करते साधक में अद्‌भुत सामर्थ्य उत्पन्न होता है। वह साधक काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को उभरने ही नहीं देता है। हिंसा, असत्य आदि दोषों को करता ही नहीं है। वह साधक हर प्रकार से

समाधि लगाने का अधिकारी बन जाता है। अर्थात यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का पूर्ण पालन कर रहा होता है। नियम (शौच, सन्तोष, तप:, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का पूर्ण पालन कर रहा होता है। उसे आसन की सिद्धि, प्राणायाम में निपुणता, इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार, धारणा की उत्तमता और ध्यान की सर्वोत्कृष्टता की सिद्धि प्राप्त हुई हुई होती है। साधक की ऐसी स्थिति होती है कि जब चाहे, तब जप में बैठते ही मन ईश्वर के साथ ऐसे जुड़ जाता है जैसे लोहा चुम्बक से जुड़ जाता है।

इस प्रकार के जप का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र बनाया है—

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति।'

अर्थात् योग-साधक को योगाभ्यास करने से रोकने वाले जो बाधक-विघ्न हैं, वे विघ्न ईश्वरप्रणिधान करने से नहीं होते हैं। बाधक रूप विघ्नों को सूत्रकार ने एवं भाष्यकार ने 'अन्तराय' शब्द से कहा है। अन्तराय का अभिप्राय विघ्न या बाधक समझ सकते हैं। वे विघ्न व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद आदि हैं। इन के संबन्ध में स्वयं सूत्रकार एवं भाष्यकार आगे वर्णन करेंगे।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जप का फल बताने के लिए '**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च**' सूत्र बनाया गया है। परन्तु उत्तर में भाष्यकार ने 'ईश्वरप्रणिधान करने से विघ्न नहीं होते हैं' ऐसा क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि ईश्वर-प्रणिधान व्यापक शब्द है, इसमें मनुष्य समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करता है। जप रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्म को भी ईश्वर को समर्पित करता है। इसलिए जप को ईश्वरप्रणिधान के अन्दर ग्रहण करके महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि ईश्वरप्रणिधान करने से विघ्न नहीं होते हैं। जप का प्रथम फल बताया है कि व्याधि, स्त्यान, संशय आदि विघ्न नहीं होते हैं।

जप का द्वितीय एवं तृतीय फल बताते हुए ऋषि लिखते हैं—

'स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति'

अर्थात् जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप का दर्शन भी होता है।

'यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति।'

अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर सकल ऐश्वर्यों से (ईश्वर के अनन्त गुण हैं, अनन्त कर्म हैं और अनन्त स्वभाव हैं। ये सब ईश्वर के ऐश्वर्य हैं) परिपूर्ण है, इस कारण ईश्वर का ईश्वरत्व है। ईश्वर पुरुष है, क्योंकि संपूर्ण ब्रह्माण्ड में निवास करते हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ ईश्वर न हो। संपूर्ण ब्रह्माण्ड में निवास करने के कारण **ईश्वर को पुरुष कहते हैं।** ईश्वर शुद्ध हैं। ईश्वर में किसी भी प्रकार से कोई मलिनता नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार को मलों के रूप में मनुष्य में जाना जाता है। पर ये ईश्वर में नहीं हैं। इसलिए काम, क्रोध आदि मलों से रहित होने से **ईश्वर को शुद्ध कहा जाता है।** ईश्वर प्रसन्न हैं। ईश्वर में किसी भी प्रकार की चिन्ता या क्लेश नहीं है। अपने आनन्द से आनन्दित है, ईश्वर में किसी भी प्रकार का कोई दुःख नहीं है। इसलिए **ईश्वर को प्रसन्न कहते हैं।** ईश्वर केवल हैं। अर्थात् अकेले हैं। ईश्वर अपने समस्त कार्यों को स्वतः ही करते हैं। ईश्वर की मनुष्यों के समान कोई माता, पिता, पत्नी, भाई, बहन, पुत्र या पुत्री आदि नहीं हैं। इसलिए ईश्वर को केवल या **अकेला कहते हैं।** ईश्वर अनुपसर्ग है। अर्थात् ईश्वर में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। जैसे प्रकृति (संसार) में बदलाव (परिवर्तन) होता है उस प्रकार का परिवर्तन (विकार) ईश्वर में नहीं होता है। इसलिए **ईश्वर विकारों से रहित** निर्विकार (अनुपसर्ग) **हैं।**

जिस प्रकार से ईश्वर का साक्षात्कार आत्मा को होता है, उसी प्रकार जीवात्मा अर्थात् स्वयं का साक्षात्कार भी होता है। जीवात्मा संसार का दर्शन बुद्धि के माध्यम से करती है। इसलिए उसे **'बुद्धेः प्रतिसंवेदी'** कहा है अर्थात् बुद्धि के माध्यम से देखती है या दर्शन करती है। आत्मा साक्षात् (बिना साधन के) न देख कर बुद्धि के माध्यम से देखती है। समाधि की अवस्था में स्वयं आत्मा ही स्वयं का दर्शन करती है अर्थात् साक्षात्कार करती है। साक्षात्कार में आत्मा को क्या अनुभूति होती है? जीवात्मा जैसी है वैसी ही अनुभूति होती है। जीवात्मा कैसी है? जीवात्मा भी ईश्वर के

समान पुरुष है। वह भी शरीर में रहती है और स्वयं को शरीर से अलग अनुभव करती है। शरीर को जड़ (निर्जीव) और स्वयं को चेतन (ज्ञानवान्) अनुभव करती है। जीवात्मा स्वयं को शुद्ध अनुभव करती है। वह अनुभव करती है कि काम, क्रोध, लोभ आदि तो मन में रहते हैं। मैं तो उनसे निर्लिप्त हूँ। अब तक अविद्या के कारण काम, क्रोध आदि को स्वयं में अनुभव करती आई हूँ। परन्तु ईश्वर के ज्ञान से मुझे साक्षात् अनुभव हुआ है कि मैं शुद्ध हूँ। ऐसा जीवात्मा अनुभव करती है। जीवात्मा स्वयं को **'केवल'** अनुभव करती है। मैं भी अकेली हूँ। न कोई मेरी माता, पिता, पत्नी, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री हैं। मैं सदा से अकेली थी, आज भी अकेली हूँ। ऐसा जीवात्मा अनुभव करती है। जीवात्मा स्वयं को **'अनुपसर्ग'** अनुभव करती है। मैं भी विकारों से रहित हूँ। अविद्या के कारण शरीर के परिवर्तन को स्वयं का परिवर्तन मानती आई हूँ। परन्तु ईश्वर के बोध से स्वयं को निर्विकार (अनुपसर्ग) मानती हूँ। ऐसा जीवात्मा अनुभव करती है। जीवात्मा **'प्रसन्न'** रहती है। परन्तु वह यह अच्छी प्रकार जानती है कि यह प्रसन्नता मुझ में नहीं है अर्थात् मुझ में आनन्द या सुख नहीं है। मेरी प्रसन्नता ईश्वर के कारण है। ईश्वर के आनन्द को पाकर ही मैं प्रसन्न हूँ। ऐसा जीवात्मा अनुभव करती है।

इस सूत्र के माध्यम से जप के तीन फल बताये हैं। **प्रथम** फल रोग आदि एवं अविद्या आदि क्लेशों रूपी विघ्नों का नाश होना। **द्वितीय** फल परमेश्वर का साक्षात्कार होना। **तृतीय** फल जीवात्मा का साक्षात्कार होना। इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि ईश्वर-दर्शन के साथ ही अविद्या आदि दोष भी नष्ट हो जाते हैं। इसी कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है कि 'फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है.....(**ततः प्रत्यक्चे०**) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति और (**अन्तराय**) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोग रूप विघ्नों का नाश हो जाता है।' (ऋ०भा०भू० उपासना)

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

सूत्र का संक्षिप्त अर्थ यह है कि उस जप से अन्तरात्मा (परमात्मा और जीवात्मा) का दर्शन होता है और रोग आदि विघ्नों एवं अविद्या आदि क्लेशों का नाश होता है। सूत्र में **'अपि'** शब्द से जीवात्मा का

दर्शन भी ग्रहण किया है।

❖❖❖❖

योग के बाधक तत्त्व

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

जप मन को एकाग्र करने वाला, शान्त करने वाला, प्रसन्न करने वाला है। जप में इतना सामर्थ्य है कि वह मनुष्य को समस्त पापों से छुड़ा सकता है। कोई यह न समझे कि जो पाप हो चुके हैं, उन्हें जप छुड़ायेगा। बल्कि जो भविष्य में होने वाले पाप हैं, उनको नहीं होने देगा। क्योंकि जप करने वाला व्यक्ति ईश्वर की सतत अनुभूति रखता है अर्थात् ईश्वरप्रणिधान के माध्यम से ईश्वर की उपस्थिति को स्वीकार करता हुआ प्रत्येक कर्म का अनुष्ठान करता है। प्रत्येक कर्म के पीछे ईश्वर का सहयोग स्वीकार करता है। प्रत्येक कर्म को ईश्वर के प्रति समर्पित करता है। ऐसी स्थिति में पाप कर्म कर ही नहीं पाता है। इसलिए जप जीवन का सर्वोत्कृष्ट कर्म है। इस संदर्भ में आदिशंकराचार्य लिखते हैं कि **'कस्य न पापं ? जपतः'** अर्थात् संसार में कौन व्यक्ति पाप कर्म नहीं करता ? इस प्रश्न का समाधान संक्षेप से करते हैं कि जो व्यक्ति परमेश्वर का जप करता है, वह पाप नहीं करता।

पूर्व सूत्र में जप करने का फल बताते हुए कहा था कि योग को रोकने वाले बाधक (विघ्न) नष्ट (समाप्त) हो जाते हैं और आत्मा व परमात्मा का दर्शन हो जाता है। योग को रोकने वाले विघ्नों की चर्चा करते हुए महर्षि वेदव्यास ने प्रश्न उपस्थित किया है—

'अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति।'

अर्थात् मन को उद्विग्न करने वाले या विचलित करने वाले योग के बाधक (विघ्न) कौन से हैं ? और वे विघ्न कितने प्रकार के हैं ? इस प्रश्न का समाधान स्वयं सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र के रूप में दिया है कि—

'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः'

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः**' अर्थात् मन को विचलित (विक्षिप्त) करने वाले बाधक रूप विघ्न नौ प्रकार के हैं। '**सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति**' अर्थात् ये विघ्न मन की वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) के साथ ही होते हैं।

जिस मनुष्य के जीवन में विघ्न हैं, तो समझना चाहिए कि उसके जीवन में वृत्तियाँ हैं, और यूँ भी कह सकते हैं कि यदि मनुष्य वृत्तियों से युक्त है, तो समझना चाहिए कि जीवन में कोई न कोई विघ्न है। महर्षि वेदव्यास के कथन से यह स्पष्ट होता है कि वृत्तियाँ विघ्नों के सहारे रहती हैं और यूँ भी कह सकते हैं कि विघ्न वृत्तियों के सहारे रहते हैं अर्थात् दोनों एक-दूसरे के सहारे रहते हैं। इन दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

'एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः'

अर्थात् विघ्नों को जीवन में नहीं आने दिया जाये या विघ्नों के आने पर उन्हें नष्ट कर दिया जाये, तो मन की वृत्तियाँ नहीं होंगी। जीवन में विघ्न न रहना अथवा आते हुए विघ्नों को प्रयत्न पूर्वक रोके रखना अत्यन्त पुरुषार्थ से संभव हो सकता है। असंभव कभी नहीं समझना चाहिए। मन एकाग्र ही रहे और विघ्न उत्पन्न ही न हो। ऐसा संयोग विरले व्यक्ति में ही हो सकता है। मनुष्य को इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये।

'तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्'

अर्थात् मन को विचलित करने वाले विघ्नों में पहला विघ्न व्याधि है। व्याधि का अभिप्राय रोग से है। रोग मन को उद्विग्न या विक्षिप्त या विचलित कर देता है। व्याधि के कारण मनुष्य अपने मन को एकाग्र करके आत्मा व परमात्मा के साथ नहीं जुड़ पाता है। जिससे आत्मा व परमात्मा के दर्शन से वञ्चित रह जाता है। व्याधि किसे कहते हैं? इसका समाधान महर्षि ने '**धातुरसकरणवैषम्यम्**' कह कर दिया है। धातु, रस व करण इन तीनों में विषमता होने से व्याधि उत्पन्न होती है। रोग तो रोग ही होता है, चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो। क्योंकि रोग मन को एकाग्र होने नहीं देता है। धातु की विषमता से रोग होता है। विषमता का अभिप्राय विकृति से है। धातु की विकृति से रोग होता है। यहाँ धातु का अभिप्राय है '**वात, पित्त व कफ**'।

वात, पित्त व कफ को धातु इसलिए कहते हैं कि ये तीनों शरीर को धारण करते हैं। इन तीनों के कारण ही शरीर स्वस्थ रहता है। वात, पित्त व कफ में से कोई भी एक कम हो जाये या बढ़ जाये, तो विषमता आ जाती है। उसी विषमता से शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। वात, पित्त व कफ तीनों समान मात्रा में रहते हैं, तो शरीर स्वस्थ रहता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है इन तीनों को सम मात्रा में बनाये रखे। इन को सम मात्रा में बनाये रखने के लिये इन तीनों के विषय में जानकारी करना आवश्यक है। यदि जानकारी कर भी ली हो, तो सम मात्रा में कैसे रहेंगे? वात, पित्त व कफ को सम मात्रा में रखना हमारे द्वारा खाये जाने वाले भोजन पर निर्भर रहता है। भोजन कैसे करना है, यह हमारे हाथ में है। वात, पित्त व कफ के विषय में जानकारी होने से हमें यह ज्ञान होता है कि क्या खाने से वात बढ़ता है, क्या खाने से पित्त बढ़ता है, क्या खाने से कफ बढ़ता है अथवा क्या खाने से ये कम हो जाते हैं या सम मात्रा में रहते हैं।

प्राय: मनुष्य अपने-अपने शरीर के विषय में कुछ न कुछ जानकारी रखते हैं। भले ही वे यह नहीं जानते हों कि मेरी प्रकृति वात है, पित्त है या कफ है। फिर भी उन्हें जानकारी कुछ रहती है कि इसे खाने से वात बढ़ जाता है, पित्त बढ़ जाता है या कफ बढ़ जाता है। जानते हुए भी भोजन पर नियन्त्रण न होने के कारण खा लेते हैं। जिससे वात, पित्त, कफ में विषमता आ जाती और रोगी पड़ जाते हैं। रोगी व्यक्ति योग नहीं कर पाता है। क्योंकि योग में रोग को विघ्न (बाधक) बताया जा रहा है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति वात प्रकृति वाला हो और वह रूक्ष (रुखा) भोजन करे, शीतल भोजन करे, हल्का भोजन करे, स्रोतों को खोलने वाला भोजन करे, मन को चञ्चल करने वाला भोजन करे, शरीर के अवयवों को फाड़ने वाला भोजन करे, तो वात बहुत अधिक बढ़ जाता है। जिससे शरीर में बहुत से रोग हो जाते हैं। आयुर्वेद के चरक ऋषि लिखते हैं '**अशीतिर्वातविकारा:**' अर्थात् वात से शरीर में अस्सी प्रकार के रोग हो सकते हैं। जैसे कुछ रोग इस प्रकार हैं कि नखों का टूट जाना, हाथ पैर का फट जाना, पैरों आदि अंगों का शून्य हो जाना (सो जाना), गृध्रसी का होना, जम्भाई लेना, हड्डियों में आवाज का आना, शरीर में अनेक स्थानों में दर्द रहना, जकड़ाहट का रहना,

स्मृति का न रहना आदि।

यदि कोई व्यक्ति पित्त को बढ़ाने वाले पदार्थ अधिक खाता है और पित्त प्रकृति का है, तो महर्षि चरक कहते हैं **'चत्वारिंशत्पित्तविकारा:'** अर्थात् शरीर में पित्त से चालीस प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे—पूरे शरीर में स्वेद (पसीने) और बैचैनी के साथ तीव्र दाह का होना, शरीर के किसी भी अंग में अग्नि की ज्वाला से जला दिया गया है, ऐसा स्वेद रहित थोड़ा-थोड़ा दाह का होना, इन्द्रियों में जलन, छाती में जलन और दर्द के साथ खट्टी डकार का आना, हाथ व पैरों में जलन, अन्तर्दाह, पसीने का अधिक आना, चकत्तों का होना, नख व मूत्र का हरा होना, नेत्र व मूत्र आदि का पीला (हल्दी के समान) होना, मुख से दुर्गन्ध का निकलना, प्यास अधिक लगना, भोजन से तृप्त न होना, मुख का पक जाना, अल्प शुक्र आदि अनेक रोग होते हैं। इन रोगों के होने में कारण है व्यक्ति के भोजन में उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, तीखा आदि से युक्त पदार्थों का अधिक मात्रा में होना।

यदि कोई व्यक्ति कफ प्रकृति का है और कफ को बढ़ाने वाले भारी, शीतल, स्निग्ध पदार्थों का सेवन अधिक करता है, तो महर्षि चरक लिखते हैं **'विंशति: श्लेष्मविकारा:'** अर्थात् शरीर में कफ से बीस प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे—शरीर में तंद्रा का होना, निद्रा का अधिक आना, जड़ता का होना, शरीर में भारीपन का होना, आलस्य का होना, मुख से पानी का गिरना, बार-बार कफ का गिरना, नेत्र आदि में मलों का अधिक निकलना, शरीर में अतिस्थूलता का होना आदि इस प्रकार अनेकों रोग होते हैं।

महर्षि वेदव्यास ने धातु शब्द से वात, पित्त और कफ को ग्रहण किया है और अलग से **'रस'** शब्द का ग्रहण करके रस की विषमता से व्याधि उत्पन्न होने की बात कही है। रस शब्द उदाहरण मात्र है। क्योंकि रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से ओज बनता है। इन सब की विषमता से रोग उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जो भी खाता है, पीता है, वह यदि समुचित होता है अर्थात् न ज्यादा खाता है, न बहुत कम खाता है, न विपरीत खाता है बल्कि सम खाता है, तो समुचित रूप से पच जाता है। ऐसी स्थिति में रस, रक्त, मांस

आदि ठीक से बनते हैं। जिससे मनुष्य स्वस्थ रहते हैं। परन्तु प्रायः मनुष्य या तो ज्यादा खाते हैं या बहुत कम मात्रा में खाते हैं अथवा विपरीत (निषिद्ध= न खाने योग्य) खाते हैं। ऐसी परिस्थिति में रस, रक्त, मांस आदि में विषमता आती है। जिससे मनुष्य रोगी पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए ज्यादा खाने पर या बहुत कम खाने पर या विपरीत खाने पर रस में विकृति आ जाती है। जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे—भोजन में अरुचि होती है। खाने की इच्छा ही समाप्त हो जाती है, रसों (खट्टा, मीठा आदि) का ज्ञान जिह्वा से न होना, जी मिचलाना, शरीर में भारीपन का होना, तन्द्रा का आना, ज्वर का आना, नेत्रों में अन्धकार-सा प्रतीत होना, पाण्डुरोग का होना, नपुंसकता, मन्दाग्नि का होना, बिना अवस्था के शरीर में झुर्रियों का होना आदि अनेक रोग होते हैं। रक्त में विकृति होने पर कुष्ठ रोग का होना, चर्म रोग का होना, रक्तप्रदर का होना, प्लीहा का बढ़ना, गुल्म रोग का होना, कामला का होना, सफेद कुष्ठ का होना इत्यादि अनेक रोग होते हैं। मांस में विकृति होने पर शरीर में मांस का बढ़ जाना, अर्बुद (ट्यूमर) आदि भयंकर रोग होते हैं। मेद के विकृत होने पर शरीर का अधिक (विकृत रूप में) लम्बा होना, शरीर का अत्यधिक नाटा होना, अति लोम का होना, शरीर बिना लोम का होना, प्रमेह (मधुमेह) आदि रोग होते हैं। अस्थि के विकृत होने पर हड्डी के ऊपर हड्डी का निकलना, दांत पर दांत आना, अस्थि शूल का होना, केश, लोम, नख आदि अति विकृत रूप में होना आदि रोग होते हैं। मज्जा के विकृत होने पर शरीर की ग्रंथियों में वेदना का होना, चक्कर का आना, मूर्च्छा का आना आदि रोग होते हैं। शुक्र के विकृत होने पर नपुंसकता, मैथुन में उत्साह का न होना, अल्प आयु का होना, शरीर में बल, सामर्थ्य आदि का न होना आदि रोग होते हैं।

महर्षि वेदव्यास ने व्याधि में करणों की विषमता का उल्लेख किया है। '**करण**' शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है अर्थात् भोजन समुचित रूप में ग्रहण नहीं करते हैं, तो इन्द्रियों में विकृति उत्पन्न होती है, जिससे योग में बाधा उपस्थित होती है। जैसे ज्यादा भोजन या अल्प भोजन या विपरीत भोजन करने से कानों में कम सुनाई देना या बहरापन का आना, त्वचा में स्पर्श का ज्ञान न होना, नेत्रों में न्यूनता का (कम दिखाई देना या न दिखाई

देना) होना, गन्ध का ज्ञान न होना, रसों का ज्ञान न होना आदि। इससे ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करने में कमी होने से योग में अत्यन्त बाधा उपस्थित होती है। ठीक इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में न्यूनता होने से कर्म करने में भी न्यूनता आ जाती है। जिससे वक्तव्य देने में, चलने में, कार्यों को करने में, मूत्र आदि विसर्जन में दोष होते हैं। इससे भी योग में बाधा ही उपस्थित होती है।

इस प्रकार व्याधि के विषय में जानकारी प्राप्त करने से योगाभ्यासी अत्यन्त सावधान रहता है। क्योंकि ईश्वरप्रणिधान योगाभ्यासी को उचित, सत्य, न्याय, धर्मयुक्त, पुण्यकारी, वेदानुकूल, ईश्वर-आज्ञा के अनुरूप ही कार्य करवाता है। योगाभ्यासी ऐसी कोई प्रवृत्ति (काम) नहीं करता, जिससे शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ सके। ईश्वरप्रणिधान के कारण वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रख कर किसी वस्तु का दुरुपयोग नहीं करता है, जिससे शरीर व मन अस्वस्थ हो कर रोगग्रस्त हो जाये। रोगी पड़ने का मुख्य कारण **'प्रज्ञापराध'** है प्रज्ञापराध का अभिप्राय है—धी-धृति-स्मृति के नाश से बुद्धि का दुरुपयोग करना। जिससे अतिभोजन या न्यून (अत्यन्त कम) भोजन अथवा विपरीत भोजन किया जाता है। परन्तु योगाभ्यासी प्रज्ञापराध नहीं करता है। इसी कारण व्याधि से दूर रहता है।

योग के विघ्नों में दूसरा विघ्न है **'स्त्यान'**। इसकी व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं **'स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य'** अर्थात् मन की अकर्मण्यता अर्थात् मन से काम (कार्य) न करने की इच्छा को स्त्यान कहते हैं। मनुष्य तीन प्रकार से कार्य करता है मन से, वाणी से और शरीर से। मन से कर्म किये बिना वाणी से कर्म नहीं हो सकता और शरीर से भी कर्म नहीं हो सकता है अर्थात् मनुष्य पहले मन से कर्म करने के बाद ही वाणी और शरीर से कर्म कर पाता है। मनुष्य अपने संपूर्ण जीवन में शरीर व वाणी की अपेक्षा मन से सबसे अधिक कर्म करता है। मनुष्य के द्वारा न गिनने योग्य=अनगिनत कर्म मन से होते हैं, परन्तु तमोगुण की अधिकता से मनुष्य अपने मन को अच्छे कार्यों से हटाता है। जिसे मोटी भाषा में जी चुराना कहते हैं। अच्छी बातों को समझने के लिए मन पर बल (जोर) देना नहीं चाहता है। मन में इतना सामर्थ्य है कि वह चारों वेदों को अपने अन्दर स्थापित (अंकित) कर सकता है। लेकिन मन से जी चुराता हुआ निठल्ला

रहता है। स्मरण करने के लिए कहा जाये, तो मन को दोष देता है। योगदर्शन के अनुसार मन से किये जाने वाले अनगिनत पुण्य कर्मों (मैत्री, करुणा, मुदिता, तप, श्रद्धा, वीर्य=उत्साह, स्मरण, समाधि, प्रज्ञा, सन्तोष, स्वाध्याय, ध्यान आदि) से वञ्चित रहता है। काम चोर (पुरुषार्थ हीन) बन कर योग से च्युत हो (गिर) जाता है। अपार दीखने वाले मानसिक सामर्थ्य का उपयोग न करने से एक प्रकार से मन लुण्ठित सा हो कर कमजोर बन जाता है। जिससे अनेक मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए मन की अकर्मण्यता अत्यन्त घातक है। योग में प्रगति करने के लिए जितने अधिक मानसिक उत्तम कर्मों की आवश्यकता है, उतने वाचनिक और शारीरिक कर्मों की नहीं है। मन से कर्म न करने की प्रवृत्ति यदि बन जाये, तो योगाभ्यास नहीं हो पायेगा। इसलिए स्त्यान को योग में विघ्न (बाधक) माना है।

ईश्वर-प्रणिधान करने वाला योगाभ्यासी अत्यन्त जागरूक होकर पुष्कल मात्रा में मानसिक-कर्म करता ही रहता है। इस कारण मन से काम-चोर कभी नहीं बनता।

योग के विघ्नों में तीसरा '**संशय**' कहलाता है जो दोनों किनारों को छूने वाला=दो विरुद्ध मान्यताओं की ओर जाने वाला, ऐसा है या ऐसा है इस प्रकार दुविधा उत्पन्न करने वाला होता है। जैसे मन चेतन-वस्तु है अथवा जड़-वस्तु? मन स्वयं जाता है या ले जाया जाता है, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। संशय के सम्बन्ध में जगत् प्रसिद्ध है कि 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् संशय करने वाला अपने उद्देश्य को कभी पूर्ण नहीं कर सकता है। एक ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि हम प्रत्येक विषय में पग-पग पर संशय रखने लगते हैं। उस परिस्थिति में जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इसलिए ऋषियों, महर्षियों, महापुरुषों, उत्तम वैज्ञानिकों पर पूर्ण विश्वास करके उनके पद-चिह्नों पर चल कर अपने लक्ष्य को पूर्ण कर लेना चाहिए। योग में बताये हुए समस्त उपायों व नियमों में संशय उत्पन्न करके उन्हें दृष्टि से ओझल नहीं कर देना चाहिए।

संशय करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को संशय करने से पहले स्वयं के प्रति भी ध्यान देना चाहिए कि यदि सामान्य स्थिति में मुझ पर भी अन्य

व्यक्ति अविश्वास करें, तो क्या मुझे वह स्वीकार्य होगा। यदि नहीं, तो मुझे भी अन्यों के प्रति सामान्यतः विश्वास रखना चाहिए। आत्मवत् व्यवहार करने से भी संशय को दूर किया जाता है। ऋषि, महापुरुष आदि पर संशय इसलिए नहीं रखना चाहिए कि वे हमारी अपेक्षा से कई गुणा उत्तम हैं। यदि उनमें मानव स्वभाव वश व अल्पज्ञतावश कोई दोष या न्यूनता हो, तो भी हम लाभ में ही ज्यादा रहेंगे अर्थात् उनके कथनानुसार चले तो अधिक प्रगति होगी और हम अपनी बुद्धि से चले, तो उससे कम प्रगति होगी। इसलिए बुद्धिमत्ता यही कहती है कि जिसमें अधिक लाभ हो उसी को अपनाना चाहिए। अतः योग-मार्ग में चलने वाले योगाभ्यासी को संशय से सदा दूर रहना चाहिए। ईश्वर-प्रणिधान करने वाले में संशय इसलिए नहीं रहता है कि वह ईश्वर की आज्ञा के अनुरूप अनेक कार्यों को करके लाभान्वित हुआ होता है। जिससे ईश्वर, वेद, वेदानुकूल ऋषि एवं ऋषिकृत ग्रंथों, महापुरुषों के प्रति उसका विश्वास अत्यधिक बढ़ जाता है। योग को सिद्ध करने के इच्छुक को आर्ष-ग्रंथों में संशय कभी नहीं रखना चाहिए।

योग के विघ्नों में चौथा विघ्न '**प्रमाद**' है। प्रमाद के सम्बन्ध में ऋषि लिखते हैं—

'प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्'

अर्थात् समाधि (ईश्वर एवं आत्मा का दर्शन) को सिद्ध करवाने के जितने भी उपाय रूप साधन हैं उनका पालन व्यवहार में न करने को प्रमाद कहते हैं। प्रमाद को लोक में 'लापरवाही' कहते हैं। प्रमाद एक भयंकर शत्रु है। प्रमाद के कारण मनुष्य मनुष्य नहीं रह पाता है। प्रमाद के कारण मनुष्य पशु से भी गया गुजरा होता है। यह प्रमाद ऐसा दोष है कि एक प्रमाद जीवन में अनेकों प्रकार के दोषों को जन्म देता है।

मनुष्य में प्रमाद इसलिए आता है कि वह अपने को योग्य (अधिकारी) मानता है। योग्य बनता है विशेषताओं के कारण, चाहे वह वक्तृत्व कला हो, चाहे अध्यापन कला हो, चाहे गाने की, लेखन की या अन्य कोई कला हो। इस प्रकार की अनेकों विशेषताएँ जीवन में आती हैं, तो व्यक्ति अपने को उत्तम-श्रेष्ठ या बहुत बड़ा मानने लगता है। जिससे अहंकार नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। उस अहंकार के कारण अन्यों को कुछ भी नहीं मानता।

इसलिए वह कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति लापरवाही करने लगता है। यदि किसी के द्वारा संकेत भी किया जाता है, तो अपनी योग्यता का दुरुपयोग करता हुआ, गलत समाधान करता हुआ, स्वच्छन्द विचरण करने लगता है। इससे और अधिक प्रमाद बढ़ने लगता है। जिससे जिसके लिए संपूर्ण जीवन है, उस योग का अनुष्ठान न करके छोड़ बैठता है। इसके परिणामस्वरूप योग से विमुख हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान करने से प्रमाद इसलिए नहीं आता है कि अपनी समस्त योग्यताओं को स्वयं के कारण प्राप्त हुई हैं, ऐसा न मान कर ईश्वर के कारण प्राप्त हुई हैं, ऐसा मानता है। जिससे प्रमाद ईश्वरप्रणिधान करने वाले के जीवन में नहीं आता है।

योग के विघ्नों में पाँचवाँ विघ्न 'आलस्य' है। आलस्य के विषय में ऋषि लिखते हैं—

'आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः'

अर्थात् काय=शरीर में और मन में भारीपन होने से अपने लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए योग के उपायों को न करना या योग में प्रवृत्त न होना ही आलस्य कहलाता है। आलसी व्यक्ति उत्तम कर्मों को नहीं करता है, यह लोक में प्रसिद्ध है। शरीर और मन में आलस्य आने के पीछे बहुत से कारण हैं। उदाहरण के लिए भोजन एवं दिनचर्या एक कारण है। यदि मनुष्य भोजन तामसिक करता है और अधिक मात्रा में करता है, बिना भूख के करता है, जब चाहे तब (बिना समय के) करता है। ऐसी परिस्थिति में तमोगुण बढ़ जाने से शरीर में और मन में भारीपन उत्पन्न हो जाता है। जिससे मनुष्य में आलस्य आ जाता है, आलस्य के कारण किसी भी उत्तम कर्म में न मन लगता है और न शरीर आज्ञा मानता है। जिससे मनुष्य उठ खड़े होने की भी इच्छा नहीं करता है। जहाँ बैठा है, वहीं बैठा रहने या लेट जाने की इच्छा रखता है। मन भी इतना भारी-भारी सा लगता है कि कुछ सोचने (विचार) का मन ही नहीं करता है। एक प्रकार से शरीर और मन में निद्रा-सी, तन्द्रा-सी आ जाती है। जिस प्रकार से सूअर कीचड़ में लथ-पथ हो कर पड़ा रहता है, उसी प्रकार मनुष्य की स्थिति होती है, अर्थात् बे-खबर हो कर पड़ा रहता है। इस परिस्थिति में कितना कार्य करने की इच्छा रहती है, यह सब को विदित ही है अर्थात् व्यक्ति कुछ भी नहीं करता, बस

पड़ा रहता है। इसी का नाम आलस्य है।

जिनकी दिनचर्या आयुर्विज्ञान के अनुसार नहीं होती है। वे सोने के समय में जागते हैं और जागने के समय में सोते रहते हैं, इसी कारण अन्य कार्यों में भी व्यवधान उत्पन्न होता है। गलत समय में खाते हैं। प्रकृति (शरीर की प्रकृति) के अनुसार दिनचर्या न होने से शरीर और मन में भारीपन उत्पन्न हो जाता है। इससे भी आलस्य आ जाता है। शरीर का थका-थका रहना, मन का खोया-खोया सा रहना, कुछ न सूझना। इससे किसी भी कार्य में न मन लगता है और न शरीर कार्य करने की अनुमति देता है। बहुत से मनुष्यों में उत्तम कर्मों को करने का सामर्थ्य भी होता है, परन्तु आलस्य के कारण उत्तम कर्मों को नहीं करते हैं। योग में विशेष गति को प्राप्त करने के इच्छुक को कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। ईश्वरप्रणिधान करने से मनुष्य सदा सतर्क रहता है। जिससे आलस्य कभी नहीं करता है। ईश्वरप्रणिधान मनुष्य को आलस्य नहीं करने देता है।

योग के विघ्नों में छठा विघ्न 'अविरति' है। ऋषि ने अविरति के सम्बन्ध में लिखा है—

'अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः'

अर्थात् मनुष्य अपने मन को संसार के विषयों (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) में लगाये रखता है। जिससे मन विषय-भोगों की गर्धा=तृष्णा=इच्छा करने लगता है। विषय-भोगों को भोग-भोग कर इतने अधिक संस्कार मन में पड़ते हैं कि मन सदा उन्हीं भोगों को भोगने के लिए दौड़ता रहता है। भोगों से विरक्त होने (=हटने) के स्थान पर भोगों में ही पड़ा रहता है। भोगों से विरक्त हुए बिना योग में गति नहीं हो सकती। भोगों से वैराग्य हुए बिना ईश्वर या आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए भोगों में आसक्ति रखना योग में बाधक है।

आसक्ति मनुष्य को कर्त्तव्य से विमुख कर देती है। कर्त्तव्य से विमुख हुआ व्यक्ति भोगों में इतना अधिक लथ-पथ रहता है कि वह अपनी योग्यताओं का दुरुपयोग करने लगता है। जिससे शारीरिक योग्यताओं में तो न्यूनता आती ही है साथ-साथ व्यक्ति की बुद्धि का भी ह्रास होता है। मन की चञ्चलता बढ़ जाने से व्यक्ति एकाग्र नहीं हो पाता। इन्द्रियाँ बहुत ही कमजोर

हो जाती हैं। जिससे ज्ञान-प्राप्ति में न्यूनता और कर्म करने के सामर्थ्य में भी न्यूनता आ जाती है। शरीर का सामर्थ्य बहुत अधिक घट जाता है। जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार भोगासक्ति मनुष्य को विनाश के कगार पर ला खड़ा करती है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि भोगासक्ति को त्याग कर योग मार्ग पर चले। योग मार्ग पर चलने वाले योगाभ्यासी को ईश्वर-प्रणिधान भोगासक्ति से हटा देता है। क्योंकि ईश्वरप्रणिधान करने वाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को कभी नहीं भूलता है। इसके विपरीत भोगासक्ति कर्त्तव्यों को भुला देती है। इसीलिए मन भोगों में पड़ा रहता है। कर्त्तव्यों का पालन करने वाला भोगों में पड़ा नहीं रहता। इसी कारण ईश्वरप्रणिधान मनुष्य को भोगों से दूर रखता है।

योग के विघ्नों में सातवाँ विघ्न '**भ्रान्तिदर्शन**' है। भ्रान्तिदर्शन के विषय में ऋषि ने लिखा है—

'भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्'

अर्थात् विपरीत ज्ञान (मिथ्या-ज्ञान) को भ्रांतिदर्शन कहते हैं। ईश्वर, जीव और संसार के सम्बन्ध में मनुष्य में बहुत-सा मिथ्या-ज्ञान रहता है। मिथ्या-ज्ञान की स्थिति में आत्मा व परमात्मा का दर्शन नहीं हो पाता। क्योंकि यथार्थ (शुद्ध) ज्ञान से ही वस्तु का पता लगता है। ईश्वर, जीव व संसार को यथार्थ जाने बिना इनका पता कैसे लग पायेगा? इसीलिए मिथ्या-ज्ञान को योग में बाधक माना है। ईश्वरप्रणिधान करने से मनुष्य मिथ्या-ज्ञान को दूर इसलिए कर पाता है कि वह शास्त्रों का गहन अध्ययन कर-करके अपने में स्थित मिथ्या-ज्ञान को पहचान लेता है और पहचान कर मिथ्या-ज्ञान को हटाकर यथार्थ-ज्ञान को अपने में स्थापित कर लेता है। जिससे मिथ्या-ज्ञान को उस व्यक्ति में ठहरने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

योग के विघ्नों में आठवाँ विघ्न '**अलब्धभूमिकत्व**' है। ऋषि ने अलब्धभूमिकत्व के संबन्ध में लिखा है—

'अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः'

अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना अलब्धभूमिकत्व है। योग में समाधि के अलग-अलग (संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात) स्तर हैं। उन स्तरों में से किसी भी एक स्तर की समाधि न लगना अलब्धभूमिकत्व है। जब मनुष्य को

उपलब्धि नहीं मिलती है तब वह हताश-निराश हो सकता है। इससे उसमें योग के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है, जिससे योग-मार्ग को ही छोड़ बैठ सकता है। ऐसी स्थिति में योगाभ्यासी को चाहिए कि समाधि प्राप्त न होने के पीछे क्या-क्या कारण हैं, उनका अन्वेषण करके पता लगाये। जिससे वास्तविकता की जानकारी होगी और उस कमी को पूरा करने का अवसर भी मिल जायेगा। ईश्वरप्रणिधान मनुष्य को सजग रखता है। जिससे वह समाधि के न मिलने पर भी हताश-निराश नहीं होता और तब तक पुरुषार्थ करता है जब तक समाधि की प्राप्ति नहीं होती।

योग के विघ्नों में नौवाँ विघ्न 'अनवस्थितत्व' है। ऋषि ने अनवस्थितत्व के विषय में लिखा है—

'अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा।
समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति।'

अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी समाधि में मन का न लगना। यद्यपि समाधि की प्राप्ति होने पर तो मन को समाधि में लगे रहना चाहिए, किन्तु समाधि में मन लगा नहीं रहता है। प्राप्त हुई समाधि को बार-बार अभ्यास करके दृढ़ करना पड़ता है। यदि योगाभ्यासी ऐसा नहीं करता है, तो समाधि में मन नहीं लगा रख पाता। क्योंकि मन में जिसके संस्कार अधिक होते हैं, उस ओर मन अधिक दौड़ने लगता है। इसलिए समाधि में न लग कर भोगों की ओर दौड़ने लगता है। इस कारण समाधि टिक नहीं पाती है। ईश्वरप्रणिधान इस न्यूनता को दूर कर देता है। क्योंकि ईश्वरप्रणिधान करने वाले को इसका ज्ञान रहता है कि समाधि दृढ़ किये बिना नहीं टिकती।

ऋषि इन विघ्नों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'एते चित्तविक्षेपाः नवयोगमला योगप्रतिपक्षा
योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते।'

अर्थात् ये मन को विक्षिप्त करने वाले नव प्रकार के योग के मल (दोष) हैं, इन को योग-प्रतिपक्ष और योगान्तराय नाम से भी पुकार सकते हैं। इस प्रकार नव योग-विघ्नों का वर्णन पूरा हुआ।

❖❖❖❖

योग में विघ्न

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

पूर्व सूत्र में नव प्रकार के अन्तराय=योग के विघ्न (व्याधि, स्त्यान, संशय आदि) बताये गये हैं, जो मन को विक्षिप्त करके योगाभ्यास को करने नहीं देते हैं। उन विघ्नों के साथ रहने वाले उपविघ्नों की चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की जा रही है। वे उपविघ्न दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व और श्वास-प्रश्वास के रूप में हैं।

दुःख—पहला उपविघ्न दुःख है। संसार में मनुष्य का प्रादुर्भाव जब से हुआ है, तब से दुःख मनुष्य का पीछा करता हुआ आ रहा है। जब से मनुष्य होश में आया है, तब से दुःख को दूर करने का प्रयत्न करता हुआ आ रहा है। परन्तु दुःख ने मनुष्य को इतना आतंकित किया हुआ है कि मनुष्य प्रात:काल आंख खोलते ही दुःख को दूर करने का उद्यम प्रारम्भ कर देता है। मनुष्य जैसे-जैसे किसी दुःख को दूर करता जाता है वैसे-वैसे अन्य दुःख अपना पाँव पसारता हुआ फैल जाता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जहाँ दुःख ने अपना स्थान नहीं बनाया हो, अर्थात् दुःख प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट हो कर मनुष्य को दुःखी करने लग रहा है। इसी कारण मनुष्य दुःख से अत्यन्त भयभीत है। यह दुःख मनुष्य को शान्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट, तृप्त, आनन्दित और स्वतंत्र होने नहीं देता है। इसी कारण मनुष्य जीवन का एक मात्र उद्देश्य है-जिस किसी भी प्रकार से इस भयावह दुःख को समाप्त करना। संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जिसने दुःख का अनुभव नहीं किया हो अर्थात् दुःख की प्रत्यक्ष अनुभूति सभी को है।

सभी ने दुःख को झेला है। सभी मनुष्य दुःखी हुए हैं। फिर भी यदि कोई प्रश्न करे कि दुःख किसे कहते हैं? दुःख होता क्या है? दुःख को कैसे समझें? दुःख को कैसे परिभाषित किया जाये? तो इन प्रश्नों का उत्तर महर्षि वेदव्यास ने संक्षेप में बहुत ही सुन्दर शब्दों में दिया है। वे लिखते हैं—

'येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्'

अर्थात् जिससे पीड़ित होकर मनुष्य उसके नाश के लिए प्रयत्न करते हैं, उसे दुःख कहते हैं। उदाहरण के लिए भूख और प्यास से मनुष्य बेचैन होते हैं, पीड़ित होते हैं। इसी कारण भूख और प्यास को दूर करने के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् भोजन और पानी का सेवन करते हैं। इससे भूख और प्यास मिट जाते हैं। भूख और प्यास दुःख हैं, जो मनुष्य को दुःखी करते हैं, इसीलिए मनुष्य उनको शीघ्र ही मिटा देता है। वस्तुओं के अभाव से भी मनुष्य को दुःख होता है। इस कारण मनुष्य उनके अभाव को दूर करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। वस्त्र, मकान, पैसा, भूमि, नौकरी व आने-जाने के साधन आदि के अभाव से भी मनुष्य बहुत दुःखी रहता है। उनके अभाव को दूर करने में लगा रहता है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दों के अभाव से भी बहुत-सा दुःख होता है। उस अभाव को भी दूर करने के लिए मनुष्य दिन-रात प्रयत्न करता है। इस प्रकार मनुष्य दुःखों को दूर करते-करते अपनी जीवन नैय्या को ही डुबा लेता है अर्थात् दुःखों को पूर्ण रूप से दूर किये बिना ही चल बसता है। फिर जन्म लेता है, फिर दुःखों को दूर करते-करते फिर मृत्यु को प्राप्त होता है। यह शृंखला अनवरत निरन्तर चलती रहती है। परन्तु वह इस शृंखला से ऊपर उठकर दुःख को रोक नहीं पाता है।

दुःखों की शृंखला को रोकने का एक मात्र उपाय है-योगाभ्यास। योग से ही मनुष्य सुखी, तृप्त, सन्तुष्ट, निर्भीक और स्वतंत्र हो सकता है। अथाह दिखने वाले दुःखों को महर्षि कपिल मुनि ने तीन श्रेणियों में रखा है। जिसे त्रिविध-दुःख कहते हैं। उन्हीं त्रिविध-दुःखों की चर्चा करते हुए योग में महर्षि वेदव्यास ने लिखा है—

'दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च'

अर्थात् दुःख तीन प्रकार के हैं—**पहला** आध्यात्मिक दुःख, **दूसरा** आधिभौतिक दुःख व **तीसरा** आधिदैविक दुःख। मनुष्य को मिलने वाले समस्त दुःख इन्हीं तीन श्रेणियों में आते हैं अर्थात् कोई भी दुःख ऐसा नहीं है जो इन तीनों में से किसी में नहीं आता हो।

आध्यात्मिक दुःख—मनुष्य अपने आपको दुःख देता है, इसे

आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। यह कैसे हो सकता है कि जो मनुष्य दुःख कभी नहीं चाहता हो और रात-दिन एक करके दुःखों को दूर करने का प्रयास करता हो, जिसका लक्ष्य ही दुःखी न होना हो, वह भला अपने आपको कैसे दुःख दे सकता है? यह बात सत्य है कि कोई भी मनुष्य अपने आपको दुःख देना नहीं चाहता। परन्तु न चाहते हुए भी अपने आपको दुःख देता रहता है और यह भी सत्य है कि जितना दुःख स्वयं स्वयं को देता है, उतना दुःख उसे और कोई नहीं दे पाता है।

यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मनुष्य स्वयं को कैसे दुःख देता है? मनुष्य इसलिए स्वयं को दुःख देता है क्योंकि वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक घोर मूर्खता में आकण्ठ डूबा रहता है। मनुष्य को यह विवेक नहीं रहता है कि क्या खाना और क्या नहीं खाना? गलत खा कर, अभक्ष्य खा कर, विपरीत खा कर, बिना समय खा कर, बिना भूख के खा कर शरीर को रोगी बना देता है। समय पर न सो कर, समय पर न उठ कर भी शरीर को रोगी कर लेता है। व्यायाम न करके बकरी की तरह बार-बार खा-खा कर भी शरीर को रोगग्रस्त बना लेता है। मन को स्वच्छन्दता से चला कर मन को रोगग्रस्त बना लेता है। बुद्धि का दुरुपयोग करके बुद्धि को कुण्ठित बना लेता है। इन सब के पीछे अविवेक ही कारण बनता है। जिससे मनुष्य अत्यन्त दुःख उठाता रहता है। मनुष्य यह नहीं जान पाता है कि ये अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश मुझे दुःख देने वाले हैं। इसी कारण मनुष्य राग-द्वेष में इतना लिप्त रहता है कि उसे और कोई उचित बात समझ में भी नहीं आती है। अन्य व्यक्ति के समझाने पर भी उसे समझ में नहीं आता। इस आध्यात्मिक दुःख से छूटने का उपाय केवल योगाभ्यास ही है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि योग की शरण में आवे।

आधिभौतिक दुःख—मनुष्य को अन्य मनुष्यों एवं मनुष्येतर योनियों (पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छु, मच्छरादि) से मिलने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं। दूसरे मनुष्यों से हमें दो प्रकार से दुःख मिल सकता है। एक प्रकार वह है जिसमें हम अपनी मूर्खता से अन्यों से समुचित व्यवहार नहीं करते हैं, जिससे अन्य लोग हमें दुःख देते रहते हैं। दूसरा प्रकार वह है,

जिसमें हमारे द्वारा विवेक से समुचित व्यवहार किया जाने पर भी अन्य लोग अपनी मूर्खता से ग्रस्त हो कर हमें दुःख देते रहते हैं, क्योंकि कर्म करने में स्वतंत्र व्यक्ति हमें सुख भी दे सकते हैं और दुःख भी दे सकते हैं, उन्हें हम पूर्णतः रोक नहीं सकते। वे लोग हमें दुःख इसलिए देते हैं कि हमारा समुचित व्यवहार उनके स्वार्थ को रोकता है। अपने स्वार्थ को पूरा न होते देख कर वे हमें दुःख देते रहते हैं। ऐसे शत्रुओं को हम सर्वथा रोक नहीं सकते। यह अन्य मनुष्यों से प्राप्त होने वाला आधिभौतिक दुःख है। ठीक इसी प्रकार शेर, बाघ, चीता, हाथी, सर्प, बिच्छु आदि से हमें दुःख मिलता रहता है। इसमें हम अपनी मूर्खता से भी उनसे दुःखी होते रहते हैं क्योंकि अपने विवेक से समुचित प्रबन्ध न करने के कारण हमें दुःख उठाना पड़ता है। किसी कारण हम विवेक का प्रयोग करके प्रबन्ध कर भी लेते हैं, तो कुछ सीमा तक ही बच पाते हैं, सर्वथा बचना अत्यन्त कठिन है। परन्तु असम्भव भी नहीं है।

आधिदैविक दुःख—पृथिवी, जल, अग्नि व वायु आदि देवों के प्रकोप से और मन व इन्द्रियों की अशान्ति से मिलने वाले दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं। भूकम्प से, अतिवृष्टि से, अनावृष्टि से, अतिशीत से, अति-उष्णता से, आँधी से, तूफान से, अकाल से मनुष्य को बहुत-सा दुःख मिलता रहता है। यह दुःख प्राकृतिक विपदाओं से मिल रहा है, इसलिए इसे आधिदैविक दुःख कहा गया है। इस दुःख को हम एक सीमा तक ही रोक पाते हैं, सर्वथा रोक नहीं सकते। मन और इन्द्रियों को भी देव कहते हैं। अपनी मूर्खता से हम अपने मन और इन्द्रियों को अशान्त करते हैं, जिससे दुःख मिलता है। विषय भोगों की लालसा इतनी बढ़ जाती है कि तृष्णा की पूर्ति न होने पर मन व इन्द्रियाँ अशान्त होती हैं। जिससे दुःख ही होता है। योगाभ्यास से मन व इन्द्रियों की अशान्ति को सर्वथा रोक सकते हैं। योगाभ्यास के द्वारा मुक्ति को जब तक प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक इन तीनों प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूटना असम्भव है। इन तीनों प्रकार के दुःखों को एक सीमा तक रोकने पर ही हम योगाभ्यास कर पायेंगे अन्यथा ये दुःख योगाभ्यास को होने नहीं देते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती तीन प्रकार के दुःखों की चर्चा करते हुए

सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय आदि ग्रंथों में स्पष्ट करते हैं कि ''त्रिविध ताप अर्थात् इस संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं- एक 'आध्यात्मिक', जो आत्मा=शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीड़ादि से होता है। दूसरा 'आधिभौतिक', जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा 'आधिदैविक' अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति-उष्णता, मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है।''

दौर्मनस्य—दूसरा उपविघ्न दौर्मनस्य है। दौर्मनस्य की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः'

अर्थात् अपनी इच्छा के पूर्ण न होने से मन का क्षुब्ध होना या मन का उद्विग्न होना दौर्मनस्य कहलाता है। मन में अनगिनत इच्छाएँ होती हैं। मनुष्य प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करना चाहता है। इसी चाह से पुरुषार्थ भी करता है। परन्तु प्रत्येक इच्छा की पूर्ति नहीं होती है। जब इच्छा की पूर्ति नहीं होती है तो मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। मन की इतनी अधिक क्षुब्धता होती है कि उसे कुछ भी प्रतीत नहीं होता अर्थात् उस उद्विग्नता में मनुष्य क्या उलटा-सीधा कर बैठता है यह उसे भी पता नहीं रहता है। मन की क्षुब्धता योग में अत्यधिक बाधक इसलिए है कि संपूर्ण योगाभ्यास ही मन के आश्रय से संपन्न होता है और वह मन ही क्षुब्ध है। ऐसी परिस्थिति में एकाग्रता ही नहीं बन पाती और बिना एकाग्रता के योगाभ्यास नहीं हो सकता। इसलिए योगाभ्यासी को अपेक्षाएँ नहीं रखनी चाहिएँ। क्योंकि अपेक्षा की पूर्ति सदा नहीं होती है। हाँ, अपेक्षा के बिना ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करते जाना चाहिए। यदि उसका परिणाम अनुकूल आता है तो प्रसन्न न हों और प्रतिकूल परिणाम आने पर क्षुब्ध न हों। तभी योगाभ्यास अनवरत चल सकता है अन्यथा दौर्मनस्य योगाभ्यास को होने नहीं देगा। प्रत्येक योगाभ्यासी को चाहिए कि वह अपनी योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति व उपलब्ध साधनों के अनुरूप ही इच्छा करे और यदि उस इच्छा की पूर्ति नहीं होती हो तो अपेक्षा को रोक ले। क्योंकि इच्छा की पूर्ति न होने में अनेक कारण होते हैं और उन सभी कारणों का समाधान अपने हाथ में नहीं होता। ऐसा मान कर मन को क्षुब्ध होने से रोके। इसी में योगाभ्यासी की भलाई है।

अङ्गमेजयत्व—तीसरा उपविघ्न अङ्गमेजयत्व है। अङ्गमेजयत्व की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं—

'यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्'

अर्थात् जो शरीर के अंगों में कम्पन उत्पन्न करता है, उसे अङ्गमेजयत्व कहते हैं। शरीर के अंगों में कम्पन=हिलना-डुलनापन हो, तो शरीर स्थिर नहीं रह पायेगा। बिना शरीर की स्थिरता के मन भी स्थिर=एकाग्र नहीं हो पायेगा। ध्यान के काल में शरीर को बिना हिले-डुले स्थिर करके बिठाना पड़ता है। जिससे सरलता से मन को एकाग्र कर सकें। यदि शरीर हिलने-डुलने लगेगा, तो मन को भी उन हिलने-डुलने वाले अंगों में लगाना पड़ेगा। बिना मन के लगे शरीर के अंग हिल-डुल नहीं सकते। इसलिए मन को ईश्वर में लगाने के लिए हिलना-डुलना बन्द करना पड़ता है। ईश्वर में श्रद्धा, रुचि, आकर्षण न होने पर मनुष्य हिलता-डुलता है अथवा वात रोग के कारण भी शरीर में कम्पन होता है। चाहे किसी भी प्रकार का कम्पन हो, उसे रोकना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा वह योगाभ्यास में बाधा उपस्थित करेगा।

श्वास-प्रश्वास की न्यूनता—चौथा उपविघ्न श्वास-प्रश्वास की न्यूनता है। श्वास-प्रश्वास की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः'

अर्थात् जो प्राण=बाह्य वायु को अन्दर लेना है, वह श्वास कहलाता है।

'यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः'

अर्थात् जो उरःस्थल में स्थित वायु को बाहर निकालना है, वह प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास की गति समुचित रूप में चल रही हो तो कोई बाधा नहीं आती है। परन्तु मनुष्य प्रायः खान-पान को अनुचित रूप में प्रयोग करता है और अनुचित दिनचर्या में रहता है, साथ में व्यायाम नहीं करता है। मानसिक रूप में भी नाना प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है। जिसके परिणाम से नाड़ी-तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। नाड़ी-तंत्र के रोग-ग्रस्त होने से अन्य तंत्र भी रोग-ग्रस्त होते हैं। अन्य तंत्रों में श्वसन-तंत्र भी आ जाता है। जिससे श्वसन-तंत्र रोग-ग्रस्त होता है। श्वसन-तंत्र रोग-ग्रस्त होने पर श्वास-प्रश्वास की गति अनियमित हो जाती है। जिससे श्वसन-तंत्र के नाना प्रकार के

(सर्दी जुकाम, नजला, एलर्जी, दमा व यक्ष्मा आदि) रोग हो जाते हैं, जिससे योग्याभ्यासी श्वास-प्रश्वास समुचित रूप में नहीं ले पाता है। श्वास-प्रश्वास को समुचित रूप से न लेने पर शरीर में प्राणतत्त्व=ऊर्जा सर्वत्र न पहुँचने के कारण अन्य रोग भी हो जाते हैं, जिससे योगाभ्यास अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि वह उचित व संतुलित भोजन, उचित दिनचर्या का पालन करते हुए शरीर के अनुरूप व्यायाम करके श्वास-प्रश्वास की गति को आयुर्विज्ञान के अनुरूप बना के रखे। जिससे योगाभ्यास में किसी भी प्रकार की न्यूनता न आने पावे। सूत्र की व्याख्या का उपसंहार करते हुए महर्षि लिखते हैं—

'एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति,
समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति'

अर्थात् ये दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व और श्वास-प्रश्वास रूपी उपविघ्न विक्षिप्त मन वाले में ही होते हैं। एकाग्र मन वाले में नहीं होते हैं। इसलिए पूर्व सूत्र में कहे गये विघ्नों को सर्वथा होने नहीं देना चाहिए जिससे ये उपविघ्न भी नहीं होंगे।

❖❖❖❖

योग के विघ्नों को हटाने का उपाय

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

पूर्व के दो सूत्रों में योग को न होने देने वाले विरोधी तत्त्वों (विघ्नों एवं उपविघ्नों) की चर्चा की गई है। उनको रोकने का प्रबल उपाय क्या हो सकता है? इसकी चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की जा रही है। प्रस्तुत सूत्र की भूमिका बनाते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां
निरोद्धव्याः। तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह'

अर्थात् ये जो व्याधि, स्त्यान, संशय आदि विघ्न और उपविघ्न हैं ये समाधि लगाने में बाधक हैं, विरोधी हैं या समाधि के शत्रु हैं। इनको रोकने का प्रबल उपाय पहले बताये गये अभ्यास और वैराग्य ही हैं। जिनसे वे

विघ्न और उपविघ्न समाप्त हो सकते हैं। वैराग्य किस प्रकार उत्पन्न करना और अभ्यास किस-किस का करना चाहिए, इस सम्बन्ध में पूर्व सूत्रों में बहुत कुछ चर्चा कर चुके हैं। अभ्यास और वैराग्य में से अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि प्रस्तुत सूत्र को उपस्थित करते हैं—

'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'

अर्थात् समाधि के उन शत्रुओं को रोकने के लिये एक-तत्त्व (परम तत्त्व) का अभ्यास करना चाहिए। इससे समस्त शत्रु नष्ट हो जायेंगे। सूत्रकार ने सूत्र में **'एक-तत्त्व'** के अभ्यास का उल्लेख किया है। वह एक-तत्त्व कौन है, यह स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है। भाष्यकार महर्षि वेदव्यास ने भी एक-तत्त्व की व्याख्या में लिखा है—

'विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकत्त्वालम्बनं चित्तमभ्यसेत्'

अर्थात् विक्षेपों को रोकने के लिए मन में एक ही वस्तु का विचार (बार-बार और निरन्तर चिन्तन) करते रहना चाहिए। अर्थात् एक ही वस्तु को विषय बना कर बार-बार चिन्तन करना चाहिए। यही अभ्यास उन विक्षेपों को समाप्त करेगा। यहाँ पर भाष्यकार ने भी एक-तत्त्व क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया।

विचार करके देखा जाये कि वह एक तत्त्व क्या है? संसार में तीन प्रकार की वस्तुएँ हैं एक जड़-पदार्थ, दूसरा जीवात्माएँ एवं तीसरा परमात्मा। इन तीनों में से जीवात्माएँ स्वयं अभ्यास करने वाली हैं। जड़-पदार्थ का अभ्यास इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि ये जड़-पदार्थ राग उत्पन्न करके अविद्या में ढ़केलते हैं। वैसे भी विषयों के अभ्यास से पूर्ण सुख कभी नहीं मिलता। इसलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'विषयसुखं च अविद्या' (योग० २.१५)

अर्थात् विषयों (रूप, रस आदि) में पूर्ण सुख ढूंढ़ना मूर्खता है। इस कारण किसी भी जड़-पदार्थ का अभ्यास नहीं कर सकते। तीन प्रकार के पदार्थों में केवल परमात्मा ही शेष रहता है, जिसका अभ्यास हमें करना है। विचार करने से बात स्पष्ट हो जाती है कि सूत्रकार एवं भाष्यकार ने जिस एक-तत्त्व का अभ्यास करने को कहा है वह एक-तत्व और कोई नहीं,

परमात्मा ही है। यह बात केवल तर्क से ही सिद्ध नहीं हो रही है, बल्कि प्रसंग से भी सिद्ध होती है। कारण यह है कि पूर्व सूत्रों में यह बात अच्छी प्रकार से कह आये हैं कि ईश्वरप्रणिधान से समाधि शीघ्र प्राप्त होती है, ईश्वर कौन है एवं क्या करता है? इतना ही नहीं यह स्पष्ट उल्लेख भी किया है कि ईश्वरप्रणिधान से ये विघ्न समाप्त होते हैं। फिर बार-बार ईश्वर का नाम लेकर उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वैसे भी ऋषि, महर्षि परोक्ष-प्रिय होते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में ईश्वर का नाम न लेकर '**एक-तत्त्व**' शब्द से उल्लेख किया है। फिर भी कोई हठी, दुराग्रही, सत्य को ग्रहण न करने वाला हो, तो उसका संसार में कोई समाधान नहीं है। उसे तो ईश्वर भी प्रसन्न नहीं कर सकता। इसलिए सरलता से अपने स्वभाव के अनुरूप सत्य को ग्रहण करने में और असत्य को छोड़ने में हमेशा तत्पर रहना चाहिए। यह ही मनुष्य का कर्तव्य है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक-तत्त्व=परमपिता परमेश्वर का अभ्यास करें, तो कैसे करें? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे हम अपने जीवन-यापन के लिए कुछ आवश्यक वस्तुओं, जिनके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, का निरन्तर अभ्यास करते हैं। उदाहरण के लिए भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान, चप्पल-जूते, आने-जाने के साधन आदि हैं। इन सब का हम निरन्तर अभ्यास करते हैं। जिस प्रकार से भोजन हमारे जीवन का अभिन्न अंग बना हुआ है, उसी प्रकार वस्त्र, पात्र, मकान, चप्पल-जूते आदि भी हमारे जीवन के अभिन्न अंग बने हुए हैं। इनके बिना हमारा जीवन कठिन हो जायेगा। इसी कारण हमारा अधिकांश समय इन पदार्थों के लिए खर्च होता है। हम लोग प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में सोने पर्यन्त इन वस्तुओं के विषय में विचार करते हैं। हमारा उद्देश्य, हमारी बड़ी-बड़ी योजनाएँ इन्हीं वस्तुओं के लिए होती हैं। जब हम भोजन, वस्त्र आदि का इतना अभ्यास कर सकते हैं, तब ईश्वर का क्यों नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। केवल विचार ही नहीं कर सकते, बल्कि व्यवहार में क्रियात्मक रूप से भी पालन कर सकते हैं।

परमपिता परमेश्वर **का अभ्यास**—हम किसी भी वस्तु को अपने जीवन का अभिन्न अंग तभी बना सकते हैं जब वह वस्तु हमारे जीवन में

अहमियत (महत्त्व) रखती हो, हम उसकी उपयोगिता एवं उसके लाभों से अच्छी प्रकार परिचित हों और हमें उसके न होने पर उसकी हानियाँ स्पष्ट प्रतीत होती हों। हम उसे जीवन का एक अभिन्न अंग मान कर तब उसका अभ्यास करते हैं। ठीक इसी प्रकार परमेश्वर का मेरे जीवन में क्या महत्त्व है ? उसकी उपयोगिता क्या है ? उससे क्या लाभ मिलते हैं और उसे न अपनाने से क्या-क्या हानियाँ होती हैं ? इस सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। ईश्वर के सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानकारी वेदों व वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रंथों से हो जाती है। उन ग्रंथों को स्वयं पढ़ना चाहिए अथवा उनको पढ़े हुए महापुरुषों, विद्वानों से सुनकर उनकी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। परमेश्वर सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करके ईश्वर को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेना चाहिए।

जिस प्रकार नित्यप्रति भोजन करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की उपासना (शास्त्र रीति से प्रातः और सायं) करनी चाहिए। जैसे प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में शयन पर्यन्त वस्त्रों को पहन कर रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर को अपने साथ रखना चाहिए अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान के माध्यम से प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में शयन पर्यन्त प्रत्येक कार्य को करते समय ईश्वर की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए कर्म करना चाहिए। यह अनुभूति करनी चाहिए कि हे ईश्वर! आप मुझे देख, सुन, जान रहे हो, आपकी उपस्थिति में रह कर यह कार्य कर रहा हूँ। आपकी दी हुई बुद्धि से, मन से, इन्द्रियों से, शरीर से, विभिन्न साधनों के माध्यम से जो ये कार्य कर पा रहा हूँ, यह आपकी कृपा, करुणा व दया के कारण ही कर पा रहा हूँ। यह जो कार्य मैंने आप को पाने के लिए किया है। इसका कोई भी लौकिक फल मुझे नहीं चाहिए। इस कार्य को आपको ही समर्पित कर रहा हूँ। आप इसे स्वीकार करें। जिससे मेरा मार्ग प्रशस्त हो। इस प्रकार ईश्वर का अभ्यास करना चाहिए।

जिस प्रकार से एक सच्चे मित्र से पूछ-पूछ कर, अपने संशय मिटाते हुए, उत्तम कार्यों को करके आगे बढ़ते हैं, ठीक इसी प्रकार प्रत्येक कार्य को करने से पहले ईश्वर से पूछ लेना चाहिए। जिससे हमारा प्रत्येक कर्म उत्तम बन सके और हमसे कोई भी पाप न हो सके। वैसे भी ईश्वर को वेद

ने मित्र कहा है—

'इन्द्रस्य युज्यः सखा'

अर्थात् इन्द्र (जीवात्मा) का योग्य मित्र वास्तव में ईश्वर ही है। जितना हित व कल्याण जीवात्मा का परमेश्वर चाहता है उतना संसार में और कोई नहीं चाहता है। सांसारिक मित्र हर समय साथ नहीं दे सकता। परन्तु ईश्वर ही ऐसा मित्र है, जो हर समय साथ देता है, कभी साथ नहीं छोड़ता है। हम भले ही साथ छोड़ दें, परन्तु ईश्वर कभी भी साथ नहीं छोड़ता है। इस प्रकार ईश्वर का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। भूल से, शीघ्रता से, अपनी मूर्खता (अज्ञान) से, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से प्रेरित होकर कभी पाप हो जाये, तो तत्काल उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए। अपने किये हुए पाप-कर्म के प्रति शर्म व लज्जा करनी चाहिए। पाप-कर्म के अनुसार दण्ड भी लेना चाहिए, जिससे पुनः पाप-कर्म न हो सके। इसके साथ में ईश्वर की सर्वव्यापकता को मन में ला कर सर्वत्र मन की परिक्रमा करके विचार करना चाहिए कि कौन सा ऐसा स्थान है जहाँ मुझे ईश्वर देख, सुन, जान नहीं रहे हों। सर्वत्र ठसा-ठस भरे हुए प्रभु मुझे देख रहे हैं, अब कैसे पाप करूँ? ईश्वर की सर्वज्ञता को मन में ला कर यह अनुभव करना चाहिए कि क्या मैं ईश्वर के ज्ञान से बच कर पाप-कर्म कर सकता हूँ? नहीं, फिर कैसे पाप करूँ? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को मन में ला कर यह विचार करना चाहिए कि क्या मैं ईश्वर की शक्ति की अवहेलना करके बच पाऊँगा? ईश्वर की न्यायकारिता को मन में लाकर यह विचारना है कि क्या कभी ईश्वर की न्याय व्यवस्था से बच सकूँगा? नहीं, फिर कैसे पाप करूँ? इस प्रकार बार-बार मन में विचार करने से पाप-कर्मों से बचेंगे।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रक्रिया से ईश्वर रूपी एकतत्त्व का अभ्यास लम्बे काल तक, निरन्तर, श्रद्धा, रुचि, पूर्ण तन्मयता से करने से पापों से निश्चित रूप से बचेंगे। इसका परिणाम यह निकलेगा कि भोजन नियमित रूप से, उचित मात्रा में, अपनी (वात, पित्त, कफ) प्रकृति के अनुरूप करते हुए व्याधियों से बचे रहेंगे। अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो कर कर्म करते रहेंगे, तो स्त्यान रूपी कामचोरपना जीवन में नहीं आयेगा। ईश्वर के सान्निध्य में रहने के कारण संशयों से दूर रहेंगे और प्रमाद भी नहीं करेंगे। ईश्वरप्रणिधान

के कारण हर समय सात्त्विकता से युक्त होने से आलस्य से दूर ही रहेंगे। ईश्वर में प्रेम होने के कारण भोगों में अरुचि रहेगी। निरन्तर स्वाध्याय करने के कारण भ्रांतियाँ मिटती ही जायेंगी। प्रत्येक कार्य को एकाग्रता से युक्त होकर करने के कारण उपलब्धियाँ मिलती ही रहेंगी। जीवन में निरन्तर अभ्यास चलने के कारण प्राप्त उपलब्धियाँ दृढ़ होती जायेंगी। ऐसी स्थिति में जीवन में न दु:खी होंगे, न मन में क्षोभ (उद्विग्नता) होगा। उचित भोजनादि के कारण और सम्यक् आसन अभ्यास के कारण शरीर में न कम्पन होगा और न श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी रोग होंगे। जब ईश्वर के अभ्यास से न विघ्न न उपविघ्न होंगे तब समाधि अवश्य ही लगेगी। यह ही **'एक-तत्त्व'** के अभ्यास की उपलब्धि है। परमपिता परमेश्वर रूपी एक-तत्त्व का अभ्यास मन में करने से वाणी और शरीर भी ईश्वर के अनुरूप हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्येक कर्म का प्रारम्भ मन से होता है। इसलिए महर्षि वेदव्यास ने स्पष्ट रूप से ईश्वर का अभ्यास मन में करने का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में मन से अभ्यास करने की चर्चा करते हुए महर्षि वेदव्यास ने मन के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों का निवारण भी किया है। महर्षि के काल में कुछ लोगों की मन के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति रही है कि मन प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है अर्थात् एक ही मन सदा के लिए नहीं रहता है, बल्कि हर क्षण में बदलता रहता है। इसे क्षणिकवाद कहते हैं। व्यास भाष्य में इस क्षणिकवाद का खण्डन तर्क एवं प्रमाणों से किया है। महर्षि लिखते हैं—

'यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं,
तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम्'

अर्थात् जिस क्षणिकवादी के मत में प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग मन है, क्योंकि उसके मत में मन क्षणिक है, फलत: उसके मत में तो कोई भी मन चंचल नहीं होगा अर्थात् सारे मन एकाग्र ही कहलायेंगे। ऐसी स्थिति में मन में कभी चंचलता आयेगी ही नहीं। इस बात को उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं कि मन ने उत्पन्न होकर पुस्तक को देखा व नष्ट हो गया, दूसरा मन आया उसने घड़ी को देखा व नष्ट हो गया, तीसरा मन आया उसने पंखे को देखा व नष्ट हो गया, चौथा मन आया उसने

दरवाजे को देखा व नष्ट हो गया, पांचवाँ मन आया उसने किसी मनुष्य को देखा व नष्ट हो गया। इस उदाहरण में एक ही मन तो है नहीं जिसने पांचों वस्तुओं को देखा हो। क्षणिकवादी के मत में मन प्रत्येक क्षण में नया उत्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक मन एकाग्र ही कहलायेगा, चंचल तो कभी नहीं बन पायेगा। मन को स्थिर (नष्ट न होने वाला) मानने पर ही चंचल सिद्ध हो पायेगा कि कभी पुस्तक को देखे, कभी घड़ी को देखे, कभी पंखे को देखे, कभी दरवाजे को देखे, कभी मनुष्य को देखे। क्षणिकवाद में तो ऐसा नहीं हो सकता है तो फिर वे एकाग्रता का प्रयास क्यों करते हैं? वस्तुतः अलग-अलग वस्तुओं के लिए अलग-अलग मन उत्पन्न नहीं होता है। इस कारण मन क्षणिक नहीं हो सकता।

'यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्त्यर्थनियतम्।'

अर्थात् फिर भी व्यवहार में हम लोग मन को इधर-उधर की वस्तुओं से हटा कर किसी इच्छित वस्तु में लगाते हैं। ऐसी स्थिति में मन एकाग्र होता हुआ देखा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि मन एक ही रहता है, अलग-अलग मन उत्पन्न नहीं होते हैं।

'योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तस्य क्षणिकत्वात्।'

अर्थात् जो क्षणिकवादी यह मानता हो कि मन तो क्षणिक है, परन्तु जो मन उत्पन्न हो कर मानो दरवाजे को देख कर नष्ट हो गया फिर दूसरा उत्पन्न हो कर उसी दरवाजे को देख कर नष्ट हो गया, फिर तीसरा, फिर चौथा, फिर पांचवाँ मन आ कर उसी दरवाजे को देख रहा है। ऐसी परिस्थिति में यह जो प्रवाह समान रूप से दरवाजे को देखने का चल रहा है, इसी प्रवाह के कारण मन एकाग्र हो जायेगा। वह जो एकाग्रता है, वह प्रवाह से नये-नये उत्पन्न होने वाले मन का धर्म है, ऐसा क्षणिकवादी मानता हो, तो प्रवाह से उत्पन्न होने वाले मन का धर्म नहीं हो सकती। क्योंकि उसके मत में प्रत्येक मन क्षणिक है। इसलिए अलग-अलग मन के द्वारा देखा गया होने से सब को मिला करके एकाग्रता नहीं कही जा सकती।

'अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्रं एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः, तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।'

अर्थात् यदि क्षणिकवादी यह मानता हो कि यह जो प्रवाह से हमें दरवाजे की जानकारी हो रही है, उसी जानकारी का एक अंश एकाग्रता है। ऐसा माने, तो हमारा (सिद्धान्ती का) मानना यह है कि चाहे वह एक समान प्रवाह से होने वाली जानकारी की एकाग्रता हो, चाहे अलग-अलग वस्तुओं की जानकारी का धर्म हो, आप कुछ भी मानो या कैसा भी मानो, यह तो सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अलग-अलग मन के होने से वे (मन) स्वयं ही एकाग्र हैं। इसलिए क्षणिकवादी के मत में मन का चंचल होना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण सिद्धान्त यह है कि मन एक होते हुए ही अलग-अलग वस्तुओं को देखता रहता है। इसी परिस्थिति में वह मन चंचल बनता है। इसीलिए उसे सब ओर से हटा कर एक वस्तु में एकाग्र किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि मन क्षणिक नहीं है, नया-नया उत्पन्न नहीं होता है, एक ही रहता है।

'यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्।'

अर्थात् यदि क्षणिकवादी यह मानता हो कि भले ही अलग-अलग मन अलग-अलग वस्तुओं की जानकारी कर रहा हो। परन्तु प्रवाह से जिस क्षण में जो मन है, वह एक ही तो रहता है। उस अलग-अलग मन में अलग-अलग वस्तुओं की जानकारी एक-दूसरे की अपेक्षा अलग-अलग जानकारी ही तो है। इस रूप में वह चंचल माना जायेगा। ऐसा कहे, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक मन के द्वारा देखी हुई वस्तु को दूसरा मन कैसे स्मरण कर पायेगा? यह तो संभव ही नहीं हो सकता।

'अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्।'

अर्थात् एक मन ने जो देखने का कर्म किया, उसका फल दूसरा मन आकर भोगे, यह कैसे हो सकता? यह कभी संभव नहीं हो सकता।

'कथंचित्समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयन्यायमाक्षिपति।'

अर्थात् क्षणिकवादी चाहे जिस किसी भी प्रकार से अपनी बात को

सिद्ध करने का प्रयत्न करे, तो यह गोबर और खीर को एक ही मानने के समान माना जायेगा अर्थात् 'गोमय पायसीय न्याय' के समान मानना पड़ेगा। यहाँ पर गोमयपायसीय न्याय का उदाहरण चरितार्थ होगा। अभिप्राय यह है कि **गोमय**=गोबर, **पायस**=खीर। ये दोनों गाय से उत्पन्न होते हैं। गोबर गाय का विकार (=उत्पन्न) है और पायस भी गाय का विकार है, इस कारण दोनों एक हैं, ऐसा कोई माने, तो क्या यह ठीक माना जायेगा? भले ही दोनों गाय से उत्पन्न हुए हों, परन्तु एक नहीं हो सकते। ठीक इसी प्रकार अलग-अलग मन भले ही एक जैसे (एक जाति के) हों, फिर भी एक मन के द्वारा देखे गये विषय को दूसरा कभी स्मरण नहीं कर सकता। इस बात को समझाने के लिए गोमयपायसीय न्याय का उदाहरण दिया है।

'किं च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति।'

अर्थात् यदि क्षणिकवादी अलग-अलग मन उत्पन्न होते हैं, इस बात पर अड़ा रहे, तो उसको स्वयं अपने को होने वाली अनुभूति का अपलाप (मिथ्या कथन) हो जायेगा। क्योंकि—

'कथं यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः।'

अर्थात् यह जो मैंने जिसको (दरवाजे को) देखा था, उसी को छू रहा हूँ और जिसको मैंने छू लिया था, उसी को देख रहा हूँ। यह जो 'मैं मैं' करके अनुभूति हो रही है अर्थात् मैंने देखा व मैंने छुआ, मैंने छुआ व मैंने देखा। इसमें बार-बार 'मैं-मैं' आ रहा है। यह अलग-अलग मन होने पर अभेद रूप में एक ही के लिए बार-बार क्यों आ रहा है? ऐसा इसलिए है कि वहाँ मन अलग-अलग न हो कर एक ही था। इसीलिए एक के लिए बार-बार आ रहा है कि मैंने ही देखा था अब मैं ही उसे छू रहा हूँ। अन्यथा ऐसा कभी नहीं हो पायेगा। यहाँ यह स्पष्ट रखना आवश्यक है कि क्षणिकवादी '**आत्मा**' को नहीं मानता, मात्र '**मन**' को मानता है, अतः उसकी दृष्टि से '**मैं**' का अर्थ '**आत्मा**' न होकर '**मन**' होता है।

'एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्।'

अर्थात एक रूप में होने वाला यह स्मरण ('मैं' यह ज्ञान) मैं शब्द से

बार-बार जाना जा रहा है कि मैंने देखा या मैंने पहले देखे हुए को छुआ। इस प्रकार की अनुभूति अलग-अलग क्षणिक मनों के होने पर कैसे संभव हो सकती है ? और कैसे अलग-अलग मनों में होने वाला ज्ञान एक ही मैं में आश्रित रह पायेगा ? कदापि नहीं। और यदि क्षणिकवादी इस मैं को ही नहीं मानता हो, तो इसका उत्तर है—

'स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः।'

अर्थात् यह अभिन्न रूप अनुभूति (स्मरण= मैंने देखा, मैंने छुआ यह) प्रत्येक मनुष्य को अपने अनुभव से पता लगती है अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

'न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते।'

अर्थात् जो सब को होने वाली यथार्थ प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसे अन्य प्रमाणों से खण्डित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि **'प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते।'** दूसरे प्रमाण (अनुमान व शब्द-प्रमाण) प्रत्यक्ष-प्रमाण के आधार पर ही व्यवहार में आते हैं। यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण न हो, तो अनुमान-प्रमाण का व्यवहार ही नहीं कर सकते। क्योंकि एक प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर (धुएँ को देख कर) न देखी हुई वस्तु (अग्नि) का अनुमान होता है। ऐसे ही शब्द-प्रमाण का प्रयोग करने वाले को प्रत्यक्ष न हो, तो वह किसी के लिए प्रमाण नहीं बन पायेगा। इसलिए अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष-प्रमाण बलवान् होता है।

इस कारण—

'तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्।'

अर्थात् मन एक ही होता है और अनेक वस्तुओं को देखने वाला होता है, क्षणिक नहीं होता है। ऐसा होने पर मन चंचल बन पाता है। यह ही यथार्थ सिद्धान्त है। इस चंचल मन को सब ओर से हटा कर एक-तत्त्व ईश्वर में एकाग्र किया जाता है।

❖❖❖❖

चित्त की प्रसन्नता (स्थिति) का उपाय-१

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३ ॥

पूर्व सूत्र में मन के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि मन क्षणिक नहीं है। वह नया-नया उत्पन्न नहीं होता। मन एक ही रहता है और अलग-अलग विषयों में जा-जा कर चंचल होता रहता है। ऐसे चंचल मन को रोकने के लिए एक-तत्त्व (परम-पिता परमेश्वर) का अभ्यास करने की बात कही गई थी। नये योगाभ्यासी प्रारम्भ में सीधे-सीधे परमेश्वर में मन नहीं लगा पायेंगे। ऐसी स्थिति में नये योगाभ्यासी की प्रगति कैसे हो? नया योगाभ्यासी प्रगति कर सके, इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत सूत्र की रचना महर्षि पतञ्जलि ने की है।

प्रस्तुत सूत्र की भूमिका में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्?'

अर्थात् तर्क और प्रमाण से जिस मन को अक्षणिक (स्थिर) सिद्ध किया गया है। ऐसे मन को एकाग्र करने के लिए योग-शास्त्र क्या उपाय निर्दिष्ट करता है? और यह किस प्रकार का उपाय है? इसका समाधान महर्षि पतञ्जलि ने **'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'** इस सूत्र से दिया है।

महर्षि ने संसार भर के लोगों को चार भागों में विभक्त किया है। पहले विभाग में सुखी हैं, दूसरे विभाग में दुःखी हैं, तीसरे विभाग में पुण्यात्मा हैं और चौथे विभाग में दुरात्मा हैं=दुष्टात्मा हैं। प्रारम्भिक योगाभ्यासी प्रत्येक मनुष्य को अपने जैसा समझ नहीं सकता। इसलिए जो सुख-साधनों से संपन्न लोग हैं, उनसे मित्रता कर लेनी चाहिए। जिससे मन प्रसन्न हो जाता है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्।'

अर्थात् संसार भर के लोगों में जो-जो सुखी हैं और जो सुख के साधनों से संपन्न हैं, उन सभी लोगों के प्रति मित्रता की भावना करनी चाहिए अर्थात् उनको अपना मित्र बना लेना चाहिए। इस संदर्भ में वेद भी यही कहता है—

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद ३६.१८)

अर्थात् मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को मित्र की दृष्टि से देखे। वेद और ऋषि यही कहते हैं कि हमें अन्यों के प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए क्योंकि अन्य व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यताओं के कारण सुखी हैं। चाहे वे पैसे से हों, चाहे लेखन से हों, चाहे अपनी वक्तृत्व कला से हों, चाहे अपने ज्ञान-विज्ञान के कारण से हों, चाहे किसी भी कारण से हों। क्योंकि उनके पुरुषार्थ ने ही उनको सुखी बनाया है अथवा उनके सुख के साधनों के कारण वे सुखी दिखाई दे रहे हों। चाहे कुछ भी हो, योगाभ्यासी को उनके प्रति मित्रता रखनी ही चाहिए। कोई मन में यह न सोचे कि संसार में इतने सारे सुखी हैं, उन सब से कैसे मित्रता रख सकते हैं? क्या यह संभव है? हाँ अवश्य संभव है, क्योंकि ऋषि और वेद कभी असंभव के लिए उपदेश नहीं देते हैं, संभव के लिए ही उपदेश देते हैं।

योगाभ्यासी को यह भी समझ लेना चाहिए कि यह मित्रता वाणी और शरीर से करने के लिए नहीं कही जा रही है। यह मित्रता तो केवल मन से करने के लिए कही जा रही है। मन से करना तो बहुत ही सरल है। यह बात अच्छी प्रकार से समझ लेनी चाहिए कि मन से तो मित्रता करनी है, परन्तु वह मित्रता उसी भावना से करनी है, जिस भावना से हम अपने निकट के लोगों से करते हैं। जैसे हम अपने माता, पिता, पति, पत्नी, भाई, बहन, चाचा, चाची, ताऊ, ताई आदि को आत्मीय भावना से देखते और विचार करते हैं, ठीक उसी प्रकार की भावना से दूसरे जो सुख-संपन्न लोग हैं, उन्हें देखना है और उनके कल्याण की भावना करनी है। बिना अन्दर (आत्मा) की भावना के केवल ऊपर-ऊपर से विचार करने मात्र से बात नहीं बनेगी। यह तो पूर्ण निष्ठा, श्रद्धा, रुचि, प्रेम, आकर्षण से युक्त हो कर ही संभव हो पाता है। ऐसी स्थिति में ही हमारी मित्रता की भावना फलदायी बन पाती है। उस परिस्थिति में हमारा मन प्रसन्न हो पायेगा। कोई यह समझे कि मैं तो उपर्युक्त भावना से ही चलता हूँ अर्थात् सब को मित्र की भावना से देखता हूँ। यदि ऐसा सोचना हो, तो उस व्यक्ति का मन प्रसन्न होना चाहिए और प्रसन्नता के कारण उसको एकाग्रता की उपलब्धि भी मिलनी चाहिए। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसका यही आधार है कि

व्यक्ति ने वास्तव में उनको मित्र नहीं माना और मन के किसी कोने में उनके प्रति ईर्ष्या या द्वेष भी है। इन सब को जान कर हृदय से वास्तविक भावना करनी चाहिए, जिससे मन प्रसन्न हो सके और प्रसन्न मन एकाग्र होकर ईश्वर में लग सके।

उपर्युक्त चर्चा मनुष्य को ध्यान में रख कर की गई है। इसमें अन्य प्राणियों को भी लिया जाये, जिसमें पशु, पक्षी, कीट, पतंग, जलचर आदि आते हैं। उनको (अन्य प्राणियों को) भी मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए। मनुष्यों को मित्र की दृष्टि से देखना, तो समझ में आता है। परन्तु मनुष्यों से भिन्न योनियों को मित्र की दृष्टि से देखने से क्या लाभ है ? इसका समाधान यह है कि पाप से बचेंगे। पाप होता है हिंसा से और हिंसा रुकती है मित्रता से। इसीलिए वेद कहता है—

'मित्रस्य चक्षुषा (सर्वाणि भूतानि) समीक्षामहे'

अर्थात् प्राणि मात्र को मित्र की दृष्टि से देखें। जब मनुष्य न केवल अन्य मनुष्यों को बल्कि मनुष्येतर समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझता है, तब उसका मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न मन एकाग्र होता है। एकाग्र मन ही ईश्वरोपासना में लगता है। इसलिए प्रारम्भिक योगाभ्यासी को ईश्वर की उपासना करने से पहले प्राणिमात्र को मित्र बना लेना चाहिए। इस मित्रता के लिए बाहर से पुरुषार्थ करने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अन्दर (मन से) करनी है। अर्थात् यहाँ पर आन्तरिक पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यह पुण्य-कर्म है। कर्म तीन प्रकार से (मन, वाणी और शरीर से) किये जाते हैं। यहाँ मित्र बनाने का मानसिक कर्म है और यह उत्तम कर्म है। मन से उत्तम कर्म किया जा रहा हो और मन प्रसन्न न हो, ऐसा नहीं हो सकता है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने मन को प्रसन्न करने का प्रथम उपाय (मित्रता) को बताया है।

मन को प्रसन्न करने का दूसरा उपाय है **'करुणा'**। करुणा का दूसरा नाम है दया। करुणा किनके प्रति करना चाहिए ? और करुणा का अभिप्राय क्या है ? महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि **'दुःखितेषु करुणां भावयेत्'** अर्थात् दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा की भावना करनी चाहिए। करुणा उन प्राणियों के प्रति करनी चाहिए, जो असहाय होते हैं। भोजन, वस्त्र, मकान, पैसे,

भूमि, बल, सम्बन्धी (माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि), विद्या आदि न होने के कारण प्राणी असहाय होते हैं। असहाय होने से दुःख मिलता है। असहाय के दुःखों को दूर करना करुणा कहलाती है। परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य को बहुत सामर्थ्य, बल, धैर्य, उत्साह, ज्ञान आदि दिये हैं और वर्तमान में भी दे रहे हैं। मनुष्य कितने ही प्राणियों को भोजन, वस्त्र, रहने का स्थान, आने-जाने के साधन, पैसा, भूमि आदि दे सकता है। परन्तु ऐसे भी लोग हैं, जो अपनी स्वार्थ प्रवृत्ति के कारण असहाय लोगों को न भोजन देते हैं, न ही वस्त्र देते हैं और न ही रहने का स्थान देते हैं। इतना अधिक पैसा, भूमि, बल, विद्या आदि अपने पास रखते हैं कि स्वयं उपभोग करने के उपरान्त भविष्य के लिए भी बहुत कुछ रख दें, उसके बाद भी बहुत कुछ शेष होता है जो कि अनुपयोगी रहता है, फिर भी असहाय लोगों को नहीं देते हैं। ऐसे महा-कृपण (कंजूस) लोगों की भी भरमार है।

हमें यह नहीं देखना चाहिए कि सारी दुनिया का सहयोग कैसे कर सकते हैं। हमें यह देखना है कि पूरी सच्चाई के साथ कितने असहायों का सहयोग कर सकते हैं। उतना सहयोग करना चाहिए। इससे हम महान् दानी बन सकते हैं। दानी बनने से दूसरों की इतनी अधिक शुभकानाएँ प्राप्त होंगी जिन्हें संभालना हमें कठिन होगा। इससे मन की प्रसन्नता की कोई सीमा ही नहीं रह जाती। प्रसन्नता से अपने-आप मन एकाग्र हो जाता है। मनुष्य अपने शरीर से सारे संसार का सहयोग नहीं कर सकते हैं, यह सत्य है, परन्तु यह भी सत्य है कि जितना सहयोग शरीर से करते हैं उससे अनेकों गुणा वाणी से करके पुण्य के भागी बन सकते हैं। आज के आधुनिक संसाधनों से तो करोड़ों लोगों के प्रति वाणी से करुणा कर सकते हैं। रही बात प्राणिमात्र के प्रति करुणा की। परमेश्वर ने मनुष्य को इतना सामर्थ्य दिया है कि एक बार नहीं जीवन पर्यन्त अनगिनत बार मन से करुणा कर सकते हैं। हाँ, यह करुणा प्राणिमात्र के लिए उसी प्रकार करनी है, जिस प्रकार से हम अपने निकट सम्बन्धियों के लिए करते हैं अर्थात् शुद्ध मन से, राग-द्वेष रहित हो कर मन, बुद्धि और अहंकार को एक करके आत्मस्थ हो कर असहाय लोगों के लिए ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए। उदाहरण के लिए—हे ईश्वर! उन असहायों को ऐसी बुद्धि, बल, सामर्थ्य, विद्या, धैर्य,

उत्साह आदि दो, जिससे वे भोजन, वस्त्र, रहने का स्थान, भूमि, पैसा आदि प्राप्त कर सकें। ऐसी प्रार्थना करने से मन में किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रहती है। ऐसा करने से मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न मन एकाग्र हो जाता है।

मन को प्रसन्न करने का तीसरा उपाय है '**मुदिता**' अर्थात् प्रसन्नता। मन को प्रसन्न करने का उपाय भी प्रसन्न रहना बताया जा रहा है। मनुष्य को इस सम्बन्ध में अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। महर्षि वेदव्यास इस संदर्भ में लिखते हैं—

'पुण्यात्मकेषु **मुदितां भावयेत्**'

अर्थात् जो अच्छे-नेक-पुण्य कर्म करने वाले हैं उनको देख कर प्रसन्न रहना चाहिए। संसार में अलग-अलग प्रकार से पुण्य-कर्म करने वाले हैं। भोजन दान, वस्त्र दान, मकान दान, भूमि दान, जल दान इत्यादि करने वाले उत्तम पुण्य कर्मी हैं। कुछ ऐसे पुण्यात्मा हैं जो अपनी लेखनी से, सैंकड़ों, हज़ारों, लाखों, करोड़ों लोगों को लाभ पहुँचाते हैं। ऐसे-ऐसे लोग हैं, जो अपनी वक्तृत्व कला से अनेकों को सुख पहुँचाते हैं। अलग-अलग विद्याओं को जानने वाले, चाहे वे भौतिक विद्याओं को जानने वाले हों या आध्यात्मिक विद्याओं को जानने वाले हों, वे अनगिनत विद्यार्थियों को विद्या का दान देकर अपार सुख पहुँचाते हैं। कुछ ऐसे भी पुण्यात्मा हैं, जो दूसरों के रोगों को दूर कर स्वस्थ एवं बलवान् बनाने में लगे हुए हैं।

ऐसे-ऐसे पुण्यात्माओं को देख कर प्रायः मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष, असूया, अभिमान करके अपने मन को खिन्न करते हैं। ऐसा न करके उनकी योग्यताओं पर गर्व करना चाहिए कि कितने पुरुषार्थ से इन्होंने अपनी योग्यताओं को पाया है और ईश्वर से यह प्रार्थना भी करनी चाहिए कि हे ईश्वर! इन पुण्यात्माओं को और अधिक सद्बुद्धि, बल, सामर्थ्य दो, जिससे ये और अधिक उन्नत हो कर संसार का उपकार कर सकें। ऐसा मन में बार-बार विचारने से मन खिन्न न हो कर प्रसन्न होने लगता है। ऐसे पुण्यात्माओं को देखते ही मन को प्रसन्न करने का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने पर मन प्रसन्न रहने लगेगा, जिससे ईश्वरोपासना में मन एकाग्र हो सकेगा। मनुष्य अपने असामर्थ्य का अनुभव करते हुए पुण्यात्माओं के सामर्थ्य को देख कर सहन नहीं कर पाते हैं। इसके पीछे ना-समझी (अज्ञान-अविद्या)

ही कारण है। इस कारण उन पुण्यात्माओं को देख कर ईर्ष्या, द्वेष आदि करने लगते हैं। मुझ में तो सामर्थ्य नहीं है, मैं पुण्यकर्म नहीं कर पा रहा हूँ। परन्तु जिनमें सामर्थ्य है उनको मैं रोकने लगूँ, तो फिर संसार का उपकार कैसे होगा? ऐसा विचार कर इस दोष से बचना चाहिए। उन पुण्यात्माओं के पुण्य कर्मों को देख कर हर्ष करना चाहिए। जिससे एकाग्रता की प्राप्ति हो सके।

मन को प्रसन्न करने का चौथा उपाय है '**उपेक्षा**' करना। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'**अपुण्यशीलेषु-उपेक्षां भावयेत्**'

अर्थात् जो बुरे-अशुद्ध-मानवीयता से विरुद्ध पापकर्म करने वाले हैं, उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। यहाँ पर उपेक्षा का अभिप्राय है कि उन दुरात्माओं के प्रति न तो द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि करने हैं और न ही राग, मोह आदि करना चाहिए अर्थात् उनको धिक्कारना भी नहीं है और न ही गले लगाना है। फिर क्या करना चाहिए? उपर्युक्त व्यवहार ही करना है अर्थात् उनके निकट आने पर गले भी न लगो और धिक्कारों भी नहीं। जब ये दोनों व्यवहार नहीं होते हैं, दोनों व्यवहारों का अभाव रहता है, इसी स्थिति को उपेक्षा कहते हैं।

जब कभी दुरात्मा लोग हमारे निकट आते हैं, तो तब हमें क्या करना चाहिए? हमें वही करना चाहिए जो शास्त्र कहता है और इतिहास कहता है अर्थात् दुरात्मा निकट आ कर नमस्कार करें, तो हमें मुख फेर कर नहीं जाना है, बल्कि हमें भी नमस्कार करना है। आवश्यकता पड़ने पर जल पिलाना पड़े तो पिलावें, भोजन कराना पड़े तो करावें, स्थान देना पड़े तो देवें। परन्तु इन सब क्रियाओं को करते हुए न राग करना है और न द्वेष करना है। फिर इन क्रियाओं को क्यों करें? मानवीयता के लिए इन क्रियाओं को करना है। यदि ऐसा नहीं करेंगे, तो द्वेष उत्पन्न होगा। द्वेष उत्पन्न न हो इसके लिए ऐसा करना आवश्यक है। यदि कोई कहे कि द्वेष उत्पन्न न होने की स्थिति में क्या उन क्रियाओं को न करें, तो चलेगा? इसका समाधान है कि तब भी उन क्रियाओं को ऐसा करना चाहिए, क्योंकि मनुष्यपने (मानवीयता) के कारण हमें उन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करना

चाहिए। जिससे उन दुरात्माओं को अनुभूति हो सके कि हमारे दुष्टपने को जानते हुए भी ये सज्जन पुरुष हमें सहयोग कर रहे हैं। हमारा सहयोग उन दुरात्माओं को झुकाने में कारण बन सके।

परमपिता परमेश्वर उन दुरात्माओं के दुष्ट कर्मों को जानते हुए भी असीम सहन करते हुए उनको मूलभूत आवश्यकताओं (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, रोटी, कपड़ा, मकान आदि) की पूर्ति कर रहे हैं। हम उन दुरात्माओं को पूरा-पूरा दण्ड देने में असमर्थ हैं। इसी कारण वेद कहता है—

'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः'

अर्थात् जो कोई भी हमारे साथ अन्याय करे और हम भी अज्ञानता के कारण जिस किसी से अन्याय करें, तो उसके और हमारे अन्याय को परमपिता परमेश्वर के न्यायरूपी जबड़े में स्थापित करते हैं। उसका न्याय परमेश्वर ही करें। इस प्रकार दुरात्माओं के प्रति राग न करते हुए और द्वेष न करते हुए उपेक्षा करनी चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े, तो बिना राग-द्वेष के सामान्य व्यवहार (नमस्ते करना, पानी, भोजन, वस्त्र आदि देना) कर लेना चाहिए। यदि हम उनके साथ सामान्य व्यवहार न करें, तो चूंकि वे पहले से ही दुरात्मा हैं अतः हो सकता है हमारी और अधिक हानि करें, जिससे हम अपने लक्ष्य की ओर न बढ़ कर जीवन से ही हाथ धो बैठें। हमें इतिहास को भी ध्यान में रखना चाहिए कि योगिराज श्री कृष्ण भी दुष्ट दुर्योधन आदि के साथ उपेक्षा रखते हुए भी अवसर आने पर सामान्य व्यवहार किया करते थे। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक योगाभ्यासी को उसी रीति से चलना चाहिए जिससे योग के प्रति अग्रसर हो सकें।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते।'

अर्थात् इस प्रकार सुख-संपन्न लोगों से मित्रता की भावना, दुःखों से ग्रस्त लोगों के प्रति करुणा की भावना, पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता की भावना और दुरात्माओं के प्रति उपेक्षा की भावना करने वाले योगाभ्यासियों के मन में शुक्ल-धर्म (=पुण्य कर्म) उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् वे योगाभ्यासी पुण्य-कर्म करने लगते हैं। आगे ऋषि लिखते हैं—

'ततश्च चित्तं प्रसीदति'

अर्थात् योगाभ्यासियों के द्वारा इन चार भावनाओं के रूप में पुण्य-कर्म करते रहने से उनका मन शुद्ध होने लगता है। जब योगाभ्यासी का मन शुद्ध रहता है तब—

'प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते'

अर्थात् शुद्ध-मन एकाग्र हो कर परमेश्वर में स्थिर हो जाता है।

❖❖❖❖❖

चित्त की स्थिति का उपाय-२

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्रारम्भिक योगाभ्यासी अनेक बार मन को रोकने का बहुत यत्न करते हैं, फिर भी मन नियन्त्रण में नहीं आता है। इससे योगाभ्यासी हताश-निराश होने लगते हैं। उनके पास जितनी जानकारी होती है उसके अनुसार जितना वे कर सकते हैं, उतना करने के उपरान्त भी मन नियन्त्रण में नहीं आता है। इसलिए वे क्या करें, क्या न करें, के प्रश्न में उलझ जाते हैं। इस स्थिति में आ कर मन को एकाग्र करने का प्रयास ही छोड़ बैठते हैं। यदि योगाभ्यासी ऐसी भूल कर बैठें, तो लक्ष्य ही छूट जायेगा और जो पिछला पुरुषार्थ लाभकारी था, वह भी व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए योगाभ्यासी को चाहिए कि पुरुषार्थ करना न छोड़ें। क्योंकि जितनी भी बाधाएँ या समस्याएँ सामने आती हैं उन सबके समाधान होते हैं। इस कारण कभी भी हताश-निराश न हों।

जब से संसार बना है, तब से अब तक हमने न जाने कितने जन्म लिए होंगे। उन जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार आज भी हमारे मन में विद्यमान हैं और उतने ही जन्मों की अविद्या हमारे साथ चल रही है। अविद्या से युक्त होकर हमने न जाने कितने ऐसे कर्म किये होंगे, जिनके परिणामस्वरूप हम अपने मन को एकाग्र नहीं कर पा रहे हैं। इस जन्म के भी भोगों को भोगने के कितने अधिक संस्कार हैं। इन सब के सामने वर्तमान का पुरुषार्थ बहुत थोड़ा है। हमें तो इतना अधिक पुरुषार्थ करना है कि इस जन्म के

संस्कार तो दब कर क्षीण हों ही और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार भी क्षीण हो जायें। इसके लिए चाहे कुछ भी हो पुरुषार्थ तो करना ही है, तो क्या करें ? पुनः पुनः अलग-अलग उपायों को अपनाना है और मन को अपने नियंत्रण में लेना है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। महर्षि पतंजलि ने योगसाधकों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए मन को नियन्त्रण में करने का एक अद्‌भुत उपाय प्रस्तुत सूत्र के रूप में योगसाधकों के समक्ष रखा है। इस अद्‌भुत उपाय का नाम '**प्राणायाम**' है।

प्राणायाम ऐसा उपाय है कि जिससे योग-साधक सरलता से अपने मन को नियन्त्रित कर सकते हैं। प्राणायाम एक मूल्यवान् क्रिया है, इसका प्रभाव जीवन में बहुत अधिक व्यापक है। चाहे पुराने योगसाधक हों या प्रारम्भिक योगाभ्यासी हों, शारीरिक स्वास्थ्य के इच्छुक हों या मानसिक स्वास्थ्य के, बालक हों या वृद्ध, युवा हों या प्रौढ़, स्त्री हों या पुरुष, बुद्धिजीवी हों या श्रमजीवी हों, यह सबके लिए महत्त्वपूर्ण व आवश्यक क्रिया है। प्राणायाम करने से पूर्व हमें यह जानना अत्यावश्यक है कि प्राण-तत्त्व का हमारे शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है।

प्राणतत्त्व का महत्व—हमारा शरीर खरबों कोशिकाओं (सेल्स) का समुदाय है। एक-एक कोशिका को निरन्तर शक्ति-ऊर्जा (एनर्जी) चाहिए, जिससे वह कोशिका स्वस्थ-नीरोगी व सक्रिय रहती है। एक-एक कोशिका की स्वस्थता ही सम्पूर्ण शरीर की स्वस्थता या नीरोगता है। शरीर की कोशिकाओं को ऊर्जा की प्राप्ति अन्न, जल आदि से होती है। इनके साथ-साथ महत्वपूर्ण साधन '**प्राणतत्त्व**' है, जो अनवरत एक-एक कोशिका को ऊर्जा प्राप्त करने में सहायता करता है। प्राण न केवल ऊर्जा प्राप्त करने में सहायता करता है, बल्कि वहाँ की अशुद्धि=विकार को बाहर भी निकालता है। जिन कोशिकाओं को प्राण नहीं मिल पाता वे निष्क्रिय हो कर विकारों से ग्रस्त हो जाती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप हमारे शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। हम अपने शरीर को रोग रहित, स्वस्थ व बलवान् बनाना चाहते हैं, तो हमें '**प्राणतत्त्व**' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राण हमारे जीवन का आधार है। ऐसे प्राणों के प्रति हमें सावधान रहना चाहिए।

एक-एक कोशिका को पर्याप्त '**प्राणतत्त्व**' पहुँचाने का माध्यम है-

उचित श्वास-प्रश्वास करना। उचित श्वास-प्रश्वास लेना '**श्वसन-तंत्र**' के माध्यम से होने वाली एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण क्रिया को प्रत्येक योग-साधक को जानना अनिवार्य है। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से प्राण-तत्त्व को शरीर की एक-एक कोशिका तक पहुँचाया जाता है और अशुद्धि को बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार से यह एक मूल्यवान् क्रिया है, जो शरीर के अवयवों को स्वस्थ करती है। ऐसी मूल्यवान् क्रिया को जैसा चाहें वैसा (मन-मर्जी) नहीं किया जा सकता। इसका अपना नियम है। शरीर का अपना नियम है, श्वसन-तंत्र का अपना नियम है। क्योंकि प्राण का अन्दर जाना तथा बाहर आना श्वसन-तंत्र के माध्यम से होता है, इसलिए हमें उसके नियमानुसार चलना होता है। प्राण-तत्त्व को शरीर के अन्दर भरना हो, तो कैसे भरें व निकालना हो, तो कैसे निकालें? अधिक से अधिक भरना चाहें या अधिक से अधिक बाहर निकालना चाहें, तो कैसे करें? इसकी सरलतम विधि श्वसन-तंत्र के नियमों का पालन करना ही है।

श्वसन-तन्त्र के नियम—जब 'प्राण-तत्त्व' को अन्दर भरना चाहते हैं, तो पेट (उदर) को कुछ बाहर की ओर करना होता है। उस समय तनुपट (डायाफ्राम) नीचे की ओर खिसकेगा। तब प्राण को भरते जाते हैं एवं छाती को फुलाते जाते हैं। छाती को फुलाते समय पेट की ओर ध्यान न दें कि पेट बाहर की ओर हो। छाती को फुलाते ही हंसली ऊपर उठेगी। इसी स्थिति में प्राण-तत्त्व को अच्छी प्रकार व अधिक अन्दर भर सकते हैं। यदि ऐसा न करें, तो प्राण-तत्त्व अन्दर कम ही जा पायेगा। इसी प्रकार अन्दर स्थित प्राण-तत्त्व को बाहर निकालना हो, तो ठीक उससे विपरीत स्थिति होगी कि पहले छाती को ढ़ीला छोड़ देवें। हंसली अपने स्थान पर आ जायेगी तथा पेट को अन्दर कर लेवें, जिससे तनुपट ऊपर आ जायेगा। इस स्थिति में अन्दर के अशुद्ध प्राण को अधिक से अधिक बाहर निकाल पायेंगे।

प्राणायाम से मन कैसे रुकता है?—यह सर्वविदित है कि मनुष्य तब तक ही जीवित रहता है जब तक श्वास-प्रश्वास समुचित रूप से चलता रहता है। श्वसन-तंत्र के नियमानुसार समुचित रूप से श्वास-प्रश्वास को चलाने का प्रयोजन मात्र अधिक वायु ले सकने व छोड़ सकने, श्वसन-तंत्र

को स्वस्थ रखने और सभी कोशिकाओं तक अधिकाधिक ऑक्सीजन पहुँचाने तक सीमित नहीं है। समुचित श्वास-प्रश्वास से शरीर के सभी तंत्र प्रभावित होते हैं व स्वस्थ बने रहते हैं। जिस प्राण-तत्त्व के कारण संपूर्ण शरीर को ऊर्जा प्राप्त हो रही हो, जिस प्राण के कारण शरीर के सभी तंत्र समुचित कार्य करते हों, जिस प्राण के सहारे ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को सम्पन्न करती हों, जिस प्राण की सहायता से मन इधर-उधर दौड़ लगाता हो, ऐसे महत्त्वपूर्ण प्राण ही रुक जायें, तो सारा शरीर ही स्तब्ध सा हो जायेगा। प्राणायाम में सम्यक् श्वसन (श्वास-प्रश्वास) नहीं चलता। प्राणायाम में तो प्राण को रोक लिया जाता है। प्राणायाम का अर्थ बताते हुए महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है—

'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः **प्राणायामः**'

(योगदर्शन २.४९)

अर्थात् निरन्तर चलने वाली श्वास-प्रश्वास की गति को विच्छेद करने (रोकने) का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम के समय में जब श्वास-प्रश्वास को रोक दिया जाता है, तो समस्त इन्द्रियाँ रुक सी जाती हैं और जो मन अनियन्त्रित रूप से इधर-उधर दौड़ रहा था, वह भी रुक जाता है। प्राणायाम बार-बार करके प्राणों को अपने वश में कर लिया जाता है। इससे मन भी वश में आने लगता है। क्योंकि जब-जब प्राण को रोका जाता है तब-तब मन रुक जाता है। इससे मन को वश में करने में सरलता होती है। रुके हुए मन को ईश्वर में स्थिर करने में कठिनाई नहीं होती है।

महर्षि वेदव्यास प्रस्तुत (प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां **वा प्राणस्य**) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'**कौष्ठ्यस्य** वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्'

अर्थात् उर:स्थल (छाती) में स्थित वायु को नासिका (नाक) के दोनों छिद्रों से विशेष प्रयत्न (श्वसन-तंत्र के नियमानुसार) से बाहर निकाल कर बाहर ही रोक देना प्रच्छर्दन कहलाता है।

यहाँ पर दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक बात है '**प्रयत्नविशेष**' से, दूसरी बात है '**वमन**'। प्रयत्न-विशेष का अभिप्राय समझें। जब मनुष्य स्वाभाविक रूप से श्वास-प्रश्वास निरन्तर ले रहा होता है, यहाँ पर सामान्य

प्रयत्न स्वाभाविक रूप से चल रहा होता है। इस सामान्य प्रयत्न से अन्दर का प्राण जितना बाहर निकलता है उतना ही निकलेगा। यदि उस सामान्य प्रयत्न को बढ़ा दिया जाये अर्थात् ज्ञानपूर्वक विशेष प्रयत्न (पुरुषार्थ) से प्राण को बाहर निकाला जाये, तो अधिक प्राण बाहर निकलेगा। इस स्थिति में शरीर अस्वाभाविक रूप में परिवर्तित होगा। ऐसी स्थिति में अनियन्त्रित मन जो इधर-उधर दौड़ लगा रहा था वह अचानक रुक जाता है। इस रुके हुए मन को पकड़ कर ईश्वर में स्थिर कर देते हैं। इस कारण प्रयत्न-विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रयत्न-विशेष से प्राण अधिक बाहर निकल पाते हैं। वमन शब्द का अभिप्राय है जैसे भोजन करने के बाद में किसी प्रकार से उलटी हो जाये, तो कैसे शरीर में विशेष प्रयत्न होता है। क्योंकि सामान्य प्रयत्न से तो उलटी नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार अर्थात् उलटी की भाँति विशेष प्रयत्न से वायु को बाहर निकालने की बात कही गई है।

आगे महर्षि लिखते हैं कि 'विधारणं प्राणायामः' अर्थात् बाहर स्थित वायु को नासिका के दोनों छिद्रों के माध्यम से विशेष प्रयत्न से अन्दर लेकर अन्दर ही रोके रखने को विधारण कहते हैं। यहाँ पर भी सामान्य प्रयत्न से वायु जितनी अन्दर जाती है उतनी ही जायेगी। परन्तु विशेष प्रयत्न करने से अधिक से अधिक वायु अन्दर जायेगी। फिर इसे अन्दर ही रोका जाता है, जिससे कुछ देर बाद शरीर के अन्दर घबराहट सी होगी, इन्द्रियाँ रुक जायेंगी और मन भी भाग-दौड़ छोड़ कर रुक जायेगा। रुके हुए मन को ईश्वर में लगाना ही प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार प्राणायाम करके क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्'

अर्थात् उन दोनों (प्रच्छर्दन एवं विधारण) प्राणायामों से मन को परमपिता परमेश्वर में स्थिर कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि "(प्रच्छर्दन) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो

जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारं-वार मग्न करना चाहिए।'' (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासना विषय)

❖❖❖❖

चित्त की स्थिति का उपाय-३

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

किसी संस्कार के कारण या भोजन के कारण अथवा किसी व्यक्ति से खिन्न होने के कारण या फिर वातावरण के परिवर्तन के कारण या किसी न किसी कर्म आदि के कारण से योगाभ्यासी अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाते हैं। अनेक बार तो ऐसा लगता है कि जिन उपायों से मन एकाग्र हुआ करता था, उन उपायों को अपनाने पर भी मन एकाग्र नहीं हो पाता है। ऐसी परिस्थिति में योगाभ्यासी क्या करें? क्या मन को एकाग्र करना छोड़ दें? नहीं, ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। अपने पुरुषार्थ को कभी शिथिल नहीं करना चाहिए। क्योंकि लक्ष्य बहुत ऊँचा है। ऊँचे लक्ष्य को पाने के लिए हर संभव नये-नये उपायों को अपनाना चाहिए। उपाय किस स्तर का है या कैसा है, यह न देखते हुए उस उपाय से मन एकाग्र हो रहा है या नहीं, यह देखना चाहिए। यदि किसी भी प्रकार के उपाय से मन एकाग्र हो रहा हो, तो उसे अवश्य अपनाना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से कुछ ऐसे उपाय योगाभ्यासी के समक्ष रखे हैं, जिनको अपनाने से योगाभ्यासी अपने मन को एकाग्र कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—
'नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः'

अर्थात् योगाभ्यासी अपने मन को एकाग्र करने के लिए नासिका (नाक) के अग्रभाग में मन को टिकाता है। लगातार मन को नाक पर ही टिकाए हुए रखता है। मन का विषय नाक ही रहता है। मन में और कोई विषय नहीं लाता, नहीं सोचता है। ऐसी स्थिति में मन को निरन्तर नाक पर टिकाए हुए रखने के कारण योगाभ्यासी को एक विशेष प्रकार की गन्ध की अनुभूति होने लगती है। हम संसार में जिन-जिन वस्तुओं से जो-जो गन्ध लेते हैं, उन गन्धों से यह गन्ध सर्वथा अलग प्रकार की होती है। इसलिए योगाभ्यासी को वह गन्ध अच्छी लगती है। इसी कारण योगाभ्यासी अपने मन को उसी गन्ध में लगाये रखता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि जो मन इधर-उधर दौड़ने लग रहा था, वह एकाग्र हो जाता है। योगाभ्यासी अपने मन को उसी विशेष गन्ध में निरन्तर लगाये रखता है। विशेष गन्ध में मन को लगातार रोके रखने से योगाभ्यासी को यह आत्मविश्वास उत्पन्न होता है कि मैं अपने मन को रोकने में समर्थ हो गया हूँ। मेरे मन पर मेरा नियन्त्रण है, मैं मन को रोक सकता हूँ, मैं मन को जब तक चाहूँ तब तक रोकने में समर्थ हो गया हूँ। अब मैं मन को अन्य स्थानों में भी रोक सकूँगा।

महर्षि वेदव्यास ने नासिका में दिव्य=विशेष गन्ध की चर्चा की है, तो यह विशेष गन्ध क्या है ? और यह गन्ध कहाँ से आयी है ? इसका समाधान यह है कि विशेष गन्ध का अभिप्राय सामान्य गन्धों से भिन्न प्रकार का होने से है। जो गन्ध संसार में हम ले रहे हैं, यह उनसे अलग है। यह गन्ध कहाँ से आयी है ? इसका समाधान यह है कि जो-जो गन्ध हम संसार से ले रहे हैं, वे-वे गन्ध जिन मूल उपादान (मेटीरियल) कारणों से बनी हैं, उन्हीं उपादान कारणों से हमारा शरीर बना है। इस कारण हमारा शरीर भी गन्ध वाला है। शरीर से सामान्य गन्ध की अनुभूति तो सब को होती है। किन्तु यहाँ विशेष गन्ध की चर्चा है। इसलिए इस बात को इस प्रकार समझना है कि परमपिता परमेश्वर ने शरीर की संरचना में अलग-अलग विषयों (=रूप, रस, गन्ध आदि) को ग्रहण करने के लिए अलग-अलग गोलक (=साधन= कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक) बनाये। गन्ध को ग्रहण करने के लिए नाक बनायी। इस नाक में गन्ध को ग्रहण करने का सामर्थ्य है, जिसे हम घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। परमात्मा ने नाक में भी विशेष गन्ध को स्थापित किया

है। जो साधारण तौर पर किसी को पकड़ में नहीं आती। परन्तु जो व्यक्ति अपने मन को नाक पर एकाग्र करके विशेष गन्ध को ग्रहण करना चाहे, वह कर सकता है।

यहाँ पर योगाभ्यासी इसी प्रक्रिया से अपने मन को नाक पर एकाग्र करके विशेष गन्ध को ग्रहण कर लेता है। यह विशेष गन्ध की अनुभूति मन से होती है। इसलिए इसे विशेष गन्धानुभूति कहते हैं। इस गन्धानुभूति को कोई भी (योगाभ्यासी) कर सकता है। इसके लिए उस अभ्यास की आवश्यकता है, जिसमें धारणा व ध्यान लगातार चले। उस स्थिति में गन्ध की अनुभूति होगी। यह गन्ध की अनुभूति एक प्रकार की स्थूल समाधि है। इसे योग की भाषा में संयम कहते हैं। यह **'संयम'** शब्द लोक में प्रचलित **'संयम'** शब्द के अर्थ वाला नहीं है। यहाँ संयम उसे कहते हैं, जिसमें धारणा, ध्यान और समाधि हों। नाक में मन को लगाए रखना धारणा है, नाक में गन्ध को अनुभव करने के लिए प्रयत्न करना ध्यान है और विशेष गन्ध की अनुभूति करना समाधि है। इस प्रक्रिया से जो साधक अभ्यास करता है, उसी को इस दिव्य-गन्ध=विशेष-गन्ध की अनुभूति होती है। साधारण व्यक्ति को नहीं होती है। ऐसा समझना चाहिए।

जिस प्रकार से नाक में मन को एकाग्र करने वाले योगाभ्यासी को विशेष गन्ध की अनुभूति होती है। ठीक उसी प्रकार **'जिह्वाग्रे रससंवित्'**=जिह्वा=जीभ के अग्र भाग में मन को एकाग्र करने वाले योगाभ्यासी को विशेष रस की अनुभूति होती है। **'तालुनि रूपसंवित्'**=तालु में मन को एकाग्र करने वाले योगाभ्यासी को विशेष रूप की अनुभूति होती है। **'जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्'**=जीभ के मध्यभाग में मन को एकाग्र करने वाले योगाभ्यासी को विशेष स्पर्श की अनुभूति होती है। **'जिह्वामूले शब्दसंवित्'** जीभ के मूल (जहाँ से जीभ प्रारम्भ होती है) में मन को एकाग्र करने वाले योगाभ्यासी को विशेष शब्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार पांचों विषयों से सम्बन्धित विशेष अनुभूतियाँ संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) से होती हैं। इसके लिए भारी तप करना पड़ता है। निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने पर यह संभव हो पाता है। इसके लिए बहुत अधिक धैर्य की आवश्यकता होती है।

इन विशेष अनुभूतियों को करने का परिणाम यह निकलता है कि—

'इत्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं **स्थितौ** निबध्नन्ति, **संशयं** विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां **च** द्वारीभवन्तीति'

अर्थात् ये उत्पन्न हुई पांचों विशेष उपलब्धियाँ मन को पूर्ण रोकने में समर्थ होती हैं अर्थात् जब तक मन को रोकना चाहें तब तक मन एकाग्र रहता है। दूसरी बात यह है कि ये उपलब्धियाँ योगाभ्यासी के मन से संशय को दूर करती हैं। क्योंकि जब तक कोई उपलब्धि नहीं मिलती तब तक मन में संशय बना रहता है कि पता नहीं ये सिद्धियाँ होती भी हैं या नहीं। उपलब्धि के प्राप्त होते ही संशय दूर हो जाता है। तीसरी बात यह है कि ये उपलब्धियाँ ऊँची समाधियों को प्राप्त कराने वाली ऊँची प्रज्ञा (=विवेक=यथार्थ ज्ञान=ऋतम्भरा) को प्राप्त कराने के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं।

'एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या।'

अर्थात् जिस प्रकार शरीर में मन को स्थिर करके विशेष गन्धादि की अनुभूतियाँ की जाती हैं, ठीक उसी प्रकार शरीर से बाहर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, मणि, दीपक की लौ, सूर्य रश्मि आदि में भी मन को एकाग्र कर उस-उस वस्तु की विशेष अनुभूति कर सकते हैं। परन्तु ये सारी उपलब्धियाँ चाहे शरीर में विशेष गन्धादि की हों या शरीर से बाहर चन्द्र, सूर्यादि की हों, ये सब विषयवाली उपलब्धियाँ ही हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ पर विषयवाली का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लोक में रूप, रस, गन्धादि की अनुभूतियाँ करते हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ पर जो सिद्धियाँ बताई गई हैं ये भी रूप, रस, गन्धादि की ही हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि ये उपलब्धियाँ योगाभ्यासी की होती हैं, सामान्य जनता को नहीं होती हैं। इसलिए कोई योगाभ्यासी इन्हीं सिद्धियों को ही सब कुछ मानकर न बैठ जाये, इनको छोड़ कर आगे बढ़े। अन्यथा योगाभ्यासी इन साधनों में ही फंसे रहेंगे। महर्षि वेदव्यास के विषयवाली कहने का यह ही अभिप्राय है।

'**यद्यपि हि** तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव **भवति, एतेषां** यथाभूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात्, **तथाऽपि** यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो **भवति** तावत्सर्वं परोक्षमिवापवर्गादिषु

सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति'

अर्थात् यहाँ पर महर्षि वेदव्यास ने योगाभ्यासियों की समस्या को दूर करने के लिए बहुत ही अच्छा उदाहरण देकर समझाया है कि योगाभ्यासी हताश-निराश होकर योगाभ्यास को न छोड़ बैठें। क्योंकि वेदादि शास्त्र, अनुमान-प्रमाण और सत्यमानी, सत्यवादी आचार्यों द्वारा किये गये उपदेश (आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्धित) यथार्थ=वास्तविक ही होते हैं, असत्य कभी नहीं होते हैं। कारण यह है कि वेदादि शास्त्रों में, अनुमान-प्रमाण में और आचार्यों के उपदेश में यथार्थ को बताने का सामर्थ्य होता है। फिर भी योगाभ्यासी के मन में ये सारी बातें नहीं बैठती हैं। उनके द्वारा बताये गये विषयों में से जब तक किसी एक विषय को वे स्वयं प्रत्यक्ष करके नहीं देखते हैं तब तक सभी विषय (परमात्मा से लेकर विशेष गन्ध आदि तक) परोक्ष बने रहेंगे। फिर तो मोक्ष का होना, बार-बार बन्धन में न आना आदि सूक्ष्म विषयों में हमारा दृढ़ विश्वास उत्पन्न ही नहीं होगा।

'तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं
कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्त्तव्यः'

अर्थात् इसीलिए वेदादि शास्त्रों में, अनुमान-प्रमाण में, आचार्योपदेश में बताये गये विषयों में से किसी एक विषय का प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए, जिससे वेदादि शास्त्र, अनुमान-प्रमाण और आचार्योपदेश पुष्ट हो सकें।

'तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेश प्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि
आऽपवर्गाच्छ्रद्धीयते एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते'

अर्थात् वेदादि शास्त्रों में, अनुमान-प्रमाण में, आचार्योपदेशों में से किसी एक विषय के प्रत्यक्ष=साक्षात्कार हो जाने पर मोक्ष पर्यन्त बाकी सभी सूक्ष्म विषयों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। फिर योगाभ्यासी किसी भी शास्त्र को, प्रमाण को, आचार्योपदेश को नकार नहीं सकता। श्रद्धापूर्वक सभी विषयों को मान कर उत्साह से, आत्मविश्वास से ओत-प्रोत हो कर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता चला जाता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने मन के परिकर्म=मन को एकाग्र करने के इन उपायों का निर्देश किया है।

'अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामुपजातायां समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति, तथा सति श्रद्धावीर्यस्मृति-

समाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति।'

अर्थात् संसार में अनगिनत वस्तुएँ हैं, जिनका ज्ञान हम कर सकते हैं। उन अनगिनत वस्तुओं में से जिस किसी को विषय बनाकर उसमें मन को एकाग्र करके उस विषय की विशेष अनुभूति कर सकते हैं। मन को अलग-अलग वस्तुओं में लगा-लगा कर बार-बार अलग-अलग विशेष अनुभूति करके मन को अपने वश में कर लिया जाता है, जिससे मन पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि साधक जब चाहे तब मन को रोकने में समर्थ हो जाता है। इसे वशीकार कहते हैं अर्थात् पूर्ण मनोनियन्त्रण। इससे योगाभ्यासी जिस-जिस वस्तु में मन को लगाना चाहे, लगा कर उस-उस वस्तु का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। जिससे योगाभ्यासी सूक्ष्म योग मार्ग पर अबाध रूप में आगे बढ़ता हुआ आत्मा, परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धान्वित हो कर, वीर्य=उत्साह से परिपूर्ण होकर, आत्मा, परमात्मा सम्बन्धी उत्तम-उत्तम उपायों की स्मृति को अपने में धारण करता हुआ संप्रज्ञात-समाधि एवं असंप्रज्ञात-समाधि को लगाने में समर्थ हो जाता है।

❖❖❖❖

चित्त की स्थिति का उपाय-४

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

मनुष्य जिन इच्छाओं को लेकर जीवन यापन करता है, उन इच्छाओं की कोई सीमा-परिसमाप्ति नहीं है अर्थात् इच्छाएँ अनगिनत हैं। अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति अत्यन्त पुरुषार्थ करते हुए सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करता है। उत्तम से उत्तम विधियों को अपनाता है। अपने अनुकूल साधनों को एकत्रित करने लगता है। उपलब्धियों को छूने योग्य भी बन जाता है। अथक पुरुषार्थ करके एक दिन उपलब्धियों को प्राप्त कर ही लेता है। संसार की ओर दृष्टि डाल कर देखें, तो स्पष्ट प्रतीति होती है कि भूमि-हीन व्यक्ति भूमि की उपलब्धि करता हुआ दिखाई देता है। धन-हीन व्यक्ति विपुल धन की उपलब्धि करता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार अलग-अलग विषयों की उपलब्धियों

को प्राप्त करने वाले अलग-अलग लोग दिखाई देते हैं। उपलब्धियों को प्राप्त करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य है, लक्ष्य है। परन्तु उन उपलब्धियों को प्राप्त कर लेना उचित होता है, जिन्हें प्राप्त करके मनुष्य कृतकृत्य होता हो। अन्यथा मनुष्य उपलब्धियों को प्राप्त कर-करके और तृष्णा-लालसा को बढ़ा लेता है। जिससे मनुष्य को अतृप्ति, असन्तोष, भय, परतन्त्रता और दुःख ही हाथ लगता है। वे कौन सी उपलब्धियाँ हैं जिनको पाकर मनुष्य तृष्णा-लालसा को समाप्त कर सकता है ? मनुष्य योगमय जीवन को अपनाकर योगाभ्यास से मिलने वाली उपलब्धियों को पा कर ही तृष्णा को समाप्त कर सकता है।

पिछले सूत्र (**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी**) में दिव्यगन्ध की, दिव्यरस की, दिव्यरूप की, दिव्यस्पर्श की और दिव्यशब्द की उपलब्धि की चर्चा की गई थी। ये उपलब्धियाँ साधारण उपलब्धियाँ नहीं हैं। इनको प्राप्त करने के लिए योगाभ्यासी को बहुत संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करना पड़ता है। ये उपलब्धियाँ संसार में प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से सर्वथा अलग हैं। इन उपलब्धियों को पा कर योगाभ्यासी आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार रूपी उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि उन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की चर्चा कर रहे हैं, जिन्हें संसार के सर्वश्रेष्ठ योगाभ्यास करने वाले योगाभ्यासी ही प्राप्त कर सकते हैं। ये वे उपलब्धियाँ हैं, जो संसार के किसी भी भौतिक वैज्ञानिक को प्राप्त नहीं हो पाई हैं। ये वे उपलब्धियाँ हैं, जिनको पा कर मनुष्य के साथ ही नहीं प्राणिमात्र के साथ योगी आत्मवत् व्यवहार करता है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दुःख नहीं देता, सबके दुःख को अपना दुःख और सबके सुख को अपना सुख अनुभव करता है। इन उपलब्धियों को पा कर योगी **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अनुभूति करता है। इन उपलब्धियों को अपना कर योगी कभी कोई ऐसा निर्णय नहीं करता, जो अनुचित हो। प्रत्येक कार्य को करने से पूर्व उद्विग्नता से रहित होकर लाभ-हानि को अच्छी प्रकार समझता हुआ उचित निर्णय करके, उचित कर्म और वह भी ईश्वर की ओर अग्रसर करने वाले कर्म ही करता है।

योगी का महत्तत्त्व रूपी बुद्धि पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इस कारण

योगी बुद्धि का पूर्ण सदुपयोग ही करता है। योगी का मन पर इतना नियंत्रण रहता है, जितना एक मदारी का बन्दर पर नियंत्रण रहता है अर्थात् योगी जहाँ चाहे वहाँ अपने मन को लगा लेता है। एक प्रकार से योगी का मन कठपुतली के समान होता है। यह कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं है। यह तो संसार की श्रेष्ठ उपलब्धियों में से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इन उपलब्धियों के साथ-साथ योगी अपने स्वयं के स्वरूप (=आत्मस्वरूप) का दर्शन ऐसे करता है कि जैसे कोई अपने चेहरे का दर्शन स्वच्छ दर्पण में करता है। ये उपलब्धियाँ मनुष्य जीवन की अन्तिम उपलब्धियाँ हैं, ऐसा मान सकते हैं। क्योंकि इन उपलब्धियों के पश्चात् एक मात्र प्रभु-दर्शन रूपी उपलब्धि ही शेष रह जाती है। इन उपलब्धियों को पाने वाले योगी मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्'

अर्थात् योगाभ्यासी धारणा, ध्यान और समाधि रूपी संयम के द्वारा अपने मन को हृदय-देश में स्थिर करके बुद्धि (=महत्तत्त्व) की अनुभूति करता है। योगाभ्यासी को बुद्धि किस रूप में प्रतीत होती है?

'बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पम्'

अर्थात् योगाभ्यासी को बुद्धितत्त्व मानो आकाश के समान स्वच्छ-निर्मल-शुद्ध प्रकाशमान के रूप में प्रतीत होता है। जिस प्रकार आकाश में कोई गन्दगी नहीं होती है, उसी प्रकार बुद्धि का शुद्ध स्वरूप दिखाई देता है। जैसे-जैसे योगाभ्यासी अपने मन को बार-बार बुद्धि में एकाग्र करता है, वैसे-वैसे बुद्धि को पूर्णता से अनुभव करता है। इससे संयम दृढ़ हो जाता है।

**'तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः
सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते'**

अर्थात् योगाभ्यासी की उस बुद्धि में मन की पूर्ण स्थिरता का अभ्यास होने से योगाभ्यासी को बुद्धि के सम्बन्ध में जो प्रवृत्ति=अनुभूति होती है वह मानो सूर्य, चन्द्र, ग्रह, स्फटिकमणि की जो आभा होती है, प्रकाश होता है उसी प्रकार बुद्धि का प्रकाश होता है। अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश स्वच्छ-निर्मल होता है सत्त्वगुण प्रधान होता है और प्रकाश में अन्धकार नहीं होता

है, वैसे ही बुद्धि का स्वरूप दिखाई देता है। इसी प्रकार चन्द्रमा, ग्रह और मणि की उपमा को समझना चाहिए। यहाँ पर बुद्धि का स्वरूप सत्त्वगुण प्रधान है, ऐसा बताना ही मुख्य उद्देश्य है। यहाँ पर कोई ऐसा न समझे कि जिस प्रकार सूर्य में चक्षुग्राह्य प्रकाश है, वैसा ही बुद्धि में है। यहाँ तो केवल निर्मलता-स्वच्छता की उपमा दी जा रही है, जो सूर्य आदि में और बुद्धि में साम्यता को दर्शा रहा है। वह साम्यता सत्त्वगुण की अधिकता है। इतना ही सूर्य, चन्द्र आदि उदाहरणों से ग्रहण करना चाहिए। न कि उन पदार्थों के सारे गुणों का ग्रहण करना चाहिए।

'तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गं महोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति।'

अर्थात् इसी प्रकार (जिस प्रकार बुद्धि में मन को एकाग्र करके बुद्धि का साक्षात्कार किया) अस्मिता नामक अपनी आत्मा में मन को एकाग्र करने से चित्त निस्तरङ्ग = तरङ्गों से रहित, विशाल सागर के समान **शान्त** = रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से रहित, **अनन्त** = बहुत विस्तार युक्त प्रतीत होने वाला और आत्मा की अनुभूति करने वाला हो जाता है।

यहाँ पर अस्मिता में मन को एकाग्र करने की बात कही जा रही है। इससे अहंकार सहित आत्मा को लेना चाहिए। आत्मा अहंकार के सहारे रहता है। अहंकार के बिना आत्मा कुछ भी कार्य नहीं करता। इसलिए अहंकार युक्त आत्मा के ग्रहण से जहाँ आत्मा का दर्शन होता है, वहाँ अहंकार का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। चित्त को निस्तरङ्ग कह कर मन की वृत्तियों (व्यापारों) को सर्वथा रोकने की बात कही है। जिस प्रकार से विशाल समुद्र को दूर से देखने पर वह शान्त दिखाई देता है। उसी प्रकार मन को रजोगुण व तमोगुण से रहित सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण शान्त बताया गया है। मन को अनन्त बताने का अभिप्राय यह है कि मन की कार्यप्रणाली बहुत व्यापक है और न समाप्त होने वाली है। परमेश्वर के समान अनन्त न मानकर मुक्ति प्राप्त होने तक या प्रलय होने तक निरन्तर कार्य करने की क्षमता वाला मन है, ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ पर मन की इतनी सारी विशेषताओं को बताने का मुख्य तात्पर्य यह है कि अहंकार के साथ-साथ मन का भी साक्षात्कार होता है, ऐसा

समझना चाहिए। क्योंकि आत्म-साक्षात्कार से पूर्व मन का भी साक्षात्कार हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में महर्षि वेदव्यास अन्य आचार्य का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—

''यत्रेदमुक्तम् 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते' इति।''

अर्थात् इस सम्बन्ध में किसी आचार्य ने कहा है कि उस अणुमात्र = अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा को जान कर योगी **'मैं ऐसा हूँ'** अर्थात् मुझ आत्मा का स्वरूप इच्छा, प्रयत्न, प्रीति (=सुख में प्रीति), द्वेष (=दुःख में द्वेष) व ज्ञान है; मैं इच्छा वाला, प्रयत्न वाला, प्रीति वाला, द्वेष वाला, ज्ञान वाला हूँ। ऐसा अच्छी प्रकार प्रत्यक्ष कर लेता है।

'एषा द्वयी विशोका विषयवती अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते।'

अर्थात् यह दो प्रकार की विशोका-ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। एक विषयवती (=बुद्धिसंवित् रूपवाली) और दूसरी अस्मिता मात्रा (=आत्मानुभूति वाली) कही जाती है। बुद्धिसंवित् और अस्मिता मात्रा इन दोनों उपलब्धियों को विशोका-ज्योतिष्मती इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें योगाभ्यासी ने अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान कर यह अनुभव किया होता है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला हूँ। न मुझ में काम है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है, न ईर्ष्या है और न ही अहंकार है। मैं तो सदा स्वच्छ-निर्मल-पवित्र था, हूँ और रहूँगा। योगाभ्यासी को जड़ और चेतन का स्पष्ट बोध हो चुका होता है और वह नित्य व अनित्य का अन्तर अनुभव करके किसी भी प्रकार का दुःख-क्लेश-कष्ट-शोक नहीं करता है। योगाभ्यासी के मन, बुद्धि, अहंकार सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण विवेक ज्ञानरूपी प्रकाश से ओत-प्रोत रहते हैं। इस कारण योगाभ्यासी की आत्मा शोक (=दुःख) से रहित होती है। इन उपलब्धियों से शोक दूर होने से और इन्हें शोक रहित ज्ञान से परिपूर्ण होने के कारण विशोका ज्योतिष्मती कहते हैं।

'यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।'

अर्थात् विशोका-ज्योतिष्मती नामक उपलब्धि के माध्यम से योगी का मन पूर्ण स्थिरता और एकाग्रता को प्राप्त होता है।

पिछले सूत्र में स्थूल उपलब्धियों (दिव्य गन्ध, दिव्य रस आदि उपलब्धियों) को बता कर प्रस्तुत सूत्र में सूक्ष्म उपलब्धियों की चर्चा की गई है। यहाँ पर पाठकगण यह न समझें कि पञ्च महाभूतों, तन्मात्राओं (=महाभूतों के कारण), ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की उपलब्धि के बिना मन, अहंकार, बुद्धि व आत्मा की उपलब्धि कैसे संभव है? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि यहाँ उपलब्धियों का क्रम नहीं बताया जा रहा है। यहाँ पर यह बताया जा रहा है कि शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेशों के द्वारा किसी एक पदार्थ का साक्षात्कार करने से उनके द्वारा उपदिष्ट सभी पदार्थों के प्रति श्रद्धा बनती है। फिर किस एक पदार्थ का साक्षात्कार करें? यह स्वाभाविक बात है कि पहले हम सरल और स्थूल पदार्थ का ही चयन करेंगे। इसलिए स्थूल पदार्थ दिव्यगन्ध, दिव्यरस आदि का उदाहरण दिया है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँच सकते हैं। स्थूल उपलब्धि को दिखा कर सूत्रकार ने सूक्ष्म-पदार्थ मन, बुद्धि, अहंकार व आत्मा का उदाहरण दिखाया है। इसलिए यहाँ पर पञ्चमहाभूतों, तन्मात्राओं, इन्द्रियों को दिखाया नहीं गया है।

यहाँ पर प्रसंग मन को एकाग्र करने का चल रहा है। इसी प्रसंग में उपलब्धि को प्राप्त करने की बात आई है। क्योंकि उपलब्धि के माध्यम से मन एकाग्र हो जाता है। शास्त्र ने बहुत सारी उपलब्धियों की चर्चा की है, तो उन्हें कैसे प्राप्त करें? इसका समाधान बताते हुए यह प्रसंग चलाया। जिसमें स्थूल-पदार्थों की उपलब्धि को दर्शा कर सूक्ष्म उपलब्धि को भी दर्शाया है। इतना ही समझना चाहिए। यह बात इसलिए भी बताना आवश्यक हो गया है कि सूत्रकार के पाठक्रम को देखकर पाठकगण अन्यथा न लेवें। क्योंकि प्रसंग वश अनेकत्र अर्थक्रम को न देखते हुए पाठक्रम का अनुसरण किया जाता है। पाठक्रम को देना भी शास्त्र-सम्मत है। अर्थक्रम का अभिप्राय है कि जिसके बाद जो-जो बनता है, उस-उसको ही क्रम में रखना और पाठक्रम का अभिप्राय है कि जिसके बाद जो-जो बनता है, उस-उस को क्रम में न रख कर जैसा शास्त्र में लिखा है वैसा क्रम रखना। ये दोनों क्रम शास्त्र-सम्मत हैं। जहाँ जिस क्रम की उपयोगिता होती है, वहाँ उसी क्रम का उपयोग लिया जाता है। इसलिए यहाँ बीच वाली उपलब्धियों को न

दिखा कर अन्तिम वाली उपलब्धियों को दिखाया है यह बात आगे आने वाले सूत्र 'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः' से भी पुष्ट होती है। क्योंकि मन को एकाग्र करने के प्रसंग में ये सारी बातें बतायी जा रही हैं। इसलिए बीच वाली उपलब्धियों को न दिखाना दोषपूर्ण नहीं है और फिर आगे सभी की एक-एक उपलब्धि की चर्चा क्रम से भी सूत्रकार करेंगे।

❖❖❖❖

चित्त की स्थिति का उपाय - ५

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

संसार में मनुष्य से भिन्न जितनी योनियाँ हैं, वे सब की सब अपने स्वाभाविक ज्ञान से खाना-पीना, उठना-बैठना, आना-जाना, शिकार करना, सोना-जागना, सन्तानोत्पत्ति करना आदि समस्त व्यवहार करती हैं। इन्हें इन क्रियाओं को करने के लिए मनुष्य के समान सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इन क्रियाओं से अतिरिक्त मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए कुछ सीमा में तोता, कबूतर, बिल्ली, कुत्ता, घोड़ा, शेर, भालू आदि को विशेष प्रशिक्षण दे कर कुछ सिखाता है। परन्तु वे मनुष्यों की तरह अपनी बुद्धि का विकास नहीं कर पाते हैं। परन्तु मनुष्य में बहुत बड़ी न्यूनता यह है कि वह अपने आप कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् मनुष्य को बिना सिखाये कुछ भी नहीं आ सकता। मनुष्य जो कुछ भी जानता है, वह सब कुछ सीखा हुआ होता है, उसे स्वाभविक रूप से जानकारी नहीं होती है। ऐसा हो सकता है कि इस जन्म में तो किसी से नहीं सीखा हो परन्तु पूर्व जन्म में सीखे हुए को स्वयं उद्‌बुद्ध कर लेता है। वह भी तब कर पाता है जब इस जन्म में अन्य विषयों में कुछ सीख लिया हो। यदि इस जन्म में अन्यों (माता, पिता आदि) से कुछ भी न सीखा हो, तो पूर्व जन्म में सीखे हुए को भी उदबुद्ध नहीं कर पायेगा। आज का मानव जो कुछ भी जानता है, वह सीखा हुआ होता है, यह सार्वभौम सिद्धान्त है।

मनुष्य का सीखना दो प्रकार से होता है। एक प्रकार वह है, जो माता-पिता, दादा-दादी, ताऊ-ताई, चाचा-चाची, भाई-बहन, गुरु-आचार्य, अध्यापक-

अध्यापिका आदि से सीखा जाता है। दूसरा प्रकार वह है कि वह स्वयं ही अन्यों को देख कर सीखता है अर्थात् अन्यों के द्वारा सिखाए हुए के आधार पर (सीखी हुई जानकारी का सदुपयोग करते हुए) स्वयं देख-देख कर सीखता रहता है। स्वयं सीखने के विषय में दृष्टि डाल कर देखा जाये, तो प्रतीत होता है कि मनुष्य जितना कुछ सीखता जा रहा है, इसकी कोई सीमा ही मानो नहीं दिख रही है अर्थात् एक प्रकार से सीखना असीम दृष्टि गोचर हो रहा है। कोई ऐसा क्षेत्र ही नहीं बचता, जिस क्षेत्र में मानव नहीं सीख रहा हो। मनुष्य किसी धनवान् को देख कर धनवान् बनने की इच्छा करता है और पुरुषार्थ करके धनवान् बन जाता है। कुशल प्रवक्ता को देख कर स्वयं को प्रवक्ता बना लेता है। किसी बलवान् को देख कर बलवान् बन जाता है। कुशल लेखक को देख कर स्वयं लेखक बन जाता है। नेता को देख कर नेता बनता है। खिलाड़ी को देख कर स्वयं भी खिलाड़ी बन जाता है। इस प्रकार संसार के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत सफल लोगों को देख कर अन्य लोग भी सफल बनते हैं। परन्तु इन लोगों की सफलता बाहर की ओर से होती है अर्थात् धन से, भूमि से, भोजन से, वस्त्रों से, विभिन्न आने-जाने के साधनों आदि से होती है। अच्छा भोजन, वस्त्र, मकान, आने-जाने के साधनों से युक्त होकर समाज में अच्छी प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु आन्तरिक जीवन में आत्म-तृप्ति, आत्म-सन्तोष, आत्म-निर्भयता, आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-आनन्द से रहित होते हैं। नाना प्रकार की चिन्ताओं से, तनावों से, दुःखों से, भयों से, दबावों से ग्रस्त रहते हैं। काम से, क्रोध से, लोभ से, मोह से, अहंकार से ग्रस्त रहते हैं। सहन-शक्ति से, तपस्या से, दया से, परोपकार की भावना से, मनोनियन्त्रण से रहित रहते हैं।

अन्यों को देख कर सीखना कोई बुरी बात नहीं है, अच्छी बात है। परन्तु मनुष्य को ऐसा सीखना चाहिए कि जिससे बाह्य-जीवन भी सुखमय हो अर्थात् भोजन, वस्त्र, मकान, आने-जाने के साधन, समाज में प्रतिष्ठा आदि पर्याप्त मिले और इसके साथ-साथ आन्तरिक-जीवन भी सुखमय हो अर्थात् आत्म-तृप्ति, आत्म-सन्तोष, आत्म-निर्भयता, आत्म-स्वातन्त्र्य, आत्म-आनन्द भी मिले और समस्त चिन्ताओं से, तनावों से, दबावों से, भयों से, दुःखों से रहित हो कर प्रसन्नता से रह सके। जीवन में काम,

क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार न हों और अपार सहन-शक्ति हो, जीवन तपस्या से ओत-प्रोत हो, दया के भण्डार से पूर्ण हो, परोपकारमय हो तथा अपने मन पर नियन्त्रण हो। ऐसा जीवन जीने के लिए मनुष्य को किन को देख कर सीखना चाहिए, इस बात को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार बिना योगाभ्यास के ऐसा जीवन (मनोनियन्त्रण से युक्त) जीना असंभव है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में योग को एक अभिन्न अंग बना लेवे। जो व्यक्ति अपने मन को एकाग्र करना चाहते हैं, उन्हें इस बात को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि मन को एकाग्र करने के उपायों में प्रस्तुत सूत्र में बताये जाने वाला उपाय (**वीतरागविषयं वा चित्तम्**) महत्त्वपूर्ण उपायों में से एक उपाय है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि '**वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।**' अर्थात् जिन योगियों ने संसार के समस्त भौतिक पदार्थों को 'सदा न रहने वाले (अनित्य) हैं', ऐसा जाना हो; समस्त सांसारिक सुखों में दुःख (परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख, गुणवृत्तिविरोध-दुःख) मिश्रित है ऐसा जाना हो; माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन आदि सम्बन्धों को 'ये तात्कालिक-सीमित-अनित्य सम्बन्ध हैं', ऐसा जाना हो; संसार के किसी भी पदार्थ को पाने की इच्छा को समाप्त किया हो, आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार किया हो, ऐसे योगियों का मन शुद्ध-निर्मल-पवित्र होता है। जिनके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार वास नहीं करते हैं और न ही चंचलता का निवास रहता है, जिनका जीवन ही अन्यों के कल्याण के लिए होता है, ऐसे योगी वीतराग होते हैं अर्थात् वे किसी भी व्यक्ति में या वस्तु में किसी प्रकार का राग-ममत्व-स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं रखते हैं। जिनके मन में लेश मात्र भी राग नहीं होता है। ऐसे योगी जो सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। ऐसे प्रसन्नचित्त योगियों के मन को देख कर प्रारम्भिक योगाभ्यासी भी अपने मन को प्रसन्न करने के लिए पुरुषार्थ करता है और पुरुषार्थ के परिणाम स्वरूप अपने मन को प्रसन्न कर ईश्वर में एकाग्र करने का सामर्थ्य उत्पन्न करके एकाग्रता को प्राप्त कर ही लेता है।

योगाभ्यास में रुचि रखने वाले महानुभावों को ऐसा कभी नहीं सोचना

चाहिए कि आज के भौतिकवाद के युग में ऐसे योगी हो ही नहीं सकते। क्योंकि युग किसी भी प्रकार का हो, प्रत्येक काल में अच्छे और बुरे लोग सदा रहते आये हैं। आज भी ऐसे योगी मिल सकते हैं और हैं भी, हाँ आवश्यकता है कि हम उन्हें ढूँढ़ें, लेकिन योगाभ्यास में रुचि मात्र रखते हुए नहीं? फिर कैसे? योगाभ्यास को प्रारम्भ करके फिर ढूँढ़ना है। ऐसी परिस्थिति में हमें अवश्य ही योगी मिलेंगे। क्योंकि बिना योगाभ्यास को प्रारम्भ किये हम ढूँढ़ नहीं पायेंगे। योगाभ्यास करने वाले ही योगी को अच्छी प्रकार पहचानने में समर्थ होते हैं। यदि किसी कारण जिस उच्च स्तर के योगियों की अपेक्षा हम करते हैं, उतने स्तर वाले न भी मिलें, तो भी हम से अधिक पहुँचे हुए साधक तो बहुत मिलेंगे। उनके जीवन से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। उन साधकों के अनुभवों से हम अपने मन को अपेक्षाकृत अधिक एकाग्र कर सकते हैं।

यदि योगाभ्यास करने वाले साधकों को ऐसा भी लगता हो कि हम से उच्च स्तर के योगाभ्यासी नहीं हैं, तो भी चिन्ता की बात नहीं है। क्योंकि अपने गन्तव्य स्थान (ईश्वर-साक्षात्कार) तक तो हम पहुँचे नहीं हैं और वहाँ तक पहुँचना ही है। ऐसी परिस्थिति में अपने इतिहास की ओर दृष्टि डालनी चाहिए। निकट भूतकाल के और प्राचीन भूतकाल के ढेर सारे उदाहरण मिलेंगे। जिनके सहारे से हम अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में सक्षम होंगे। कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनि, बादरायण आदि दर्शनकारों से; पाणिनि, पिंगल, यास्क आदि वेदांग प्रणेताओं से; याज्ञवल्क्य आदि ब्राह्मणकारों से; सनत्कुमार, रैक्वमुनि, नचिकेता आदि उपनिषदों में प्रतिपादित योगियों से; भारद्वाज, गार्गी, मैत्रेयी आदि ब्रह्मवादी-ब्रह्मवादिनियों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। कैसे? इन महान् ऋषियों, मुनियों, ब्रह्मवादिनियों-ब्रह्मवादियों द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों से सीखा जा सकता है। इन का प्रत्येक ग्रन्थ हमें ईश्वर तक ले जाने में समर्थ है। इनके ग्रंथों को पढ़ना बहुत बड़ा कार्य है। इनके ग्रंथों को ईश्वर को प्राप्त करने की दृष्टि से पढ़ना चाहिए। इन ग्रंथों में अनमोल सिद्धान्त हैं, जिन्हें पढ़ कर बार-बार अभ्यास करके आत्मसात् किया जाये, तो निश्चित रूप से हमारा मन प्रसन्न हो कर एकाग्र हो जायेगा। क्योंकि प्रत्येक ग्रंथकार ने स्वयं योगाभ्यास द्वारा प्रत्येक विषय को आत्मसात् करके

समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए उसे ग्रंथ में प्रतिपादित किया है।

जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों के ग्रंथों के माध्यम से हम अपने मन को प्रसन्न करके अधिक एकाग्र करने में समर्थ होते हैं। उसी प्रकार निकट भूतकाल के महान् ऋषि स्वामी दयानन्द के जीवन से और उनके महान ग्रन्थों से भी हम अपने मन को अधिक एकाग्र करने में समर्थ होंगे। आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं की कृपा से हैं। इसलिए उनके ग्रंथों के एक-एक सिद्धान्त को आत्मसात् करने लग जायें, तो हम कहाँ से कहाँ तक पहुँच जायेंगे अर्थात् ईश्वर के निकट अति शीघ्र पहुँच जायेंगे। यह तभी संभव हो पायेगा जब हमें उनके सिद्धान्तों पर पूर्ण निष्ठा-श्रद्धा-विश्वास हो जाये। हम जितनी निष्ठा-श्रद्धा-विश्वास करेंगे, उतना ही आगे बढ़ पायेंगे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद में भी अनेकों त्यागी, तपस्वी, योगनिष्ठ, वीतराग संन्यासी हुए हैं, जिनके जीवन को पढ़कर या जानकर उनके पद-चिह्नों पर चल कर हम अपने मन को अधिक एकाग्र कर सकते हैं। किसी संन्यासी के त्याग को अपना कर, किसी के तप को अपना कर, किसी के योगमय जीवन को अपना कर, किसी की वीतरागता को अपना कर हम अभ्यास कर सकते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि जी, स्वामी सर्वदानन्द जी, स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि अनेक महान् विभूतियाँ हुई हैं, जिनके एक-एक विशिष्ट गुण को भी हम अपने मन का विषय बनायेंगे, तो निश्चित रूप से हमारा मन अपेक्षा से अधिक एकाग्र हो जायेगा। ये ही महान् भाव हैं, जो हमें अन्दर से तृप्त, सन्तुष्ट, निर्भीक, स्वतंत्र, आनन्द से युक्त करेंगे। इन महान् संतों का जीवन हमको ईश्वर तक पहुँचायेगा। इनके आदर्श हमारी चंचलता को दूर करेंगे। इनका एक-एक उपदेश हमें गर्त में गिरने से बचायेगा। आज हम जो कुछ भी हैं, इन संतों के कारण से हैं। इन्हें उपेक्षित नहीं करना चाहिए, हम इनके प्रति कृतज्ञ हैं और रहेंगे।

अग्निःपूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥

(ऋ० १.१.१.२)

❖❖❖❖

स्वप्न व निद्रा ज्ञान के आश्रय से एकाग्रता सम्पादन

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि प्रारम्भिक योगाभ्यासी के लिए महर्षि पतञ्जलि मन को रोकने के लिए अलग-अलग उपायों का वर्णन अलग-अलग सूत्रों के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए आ रहे हैं। उसी शृंखला में मन को रोकने का और सरल उपाय प्रस्तुत सूत्र में वर्णन कर रहे हैं। महर्षि पतञ्जलि के द्वारा सरल से सरल उपाय का वर्णन करना यह जताता है कि वे चाहते हैं प्रारम्भिक योगाभ्यासी जिस किसी भी प्रकार से अपने मन को एकाग्र कर सके। उपायों के अभाव में योगाभ्यासी हताश-निराश न हो। ऐसा न हो कि योगाभ्यासी मन को एकाग्र करना ही छोड़ बैठे। इस बात को सतत ध्यान में रखते हुए महर्षि ने ऐसे-ऐसे उपायों को ढूंढ-ढूंढ कर योगाभ्यासी के लिए वर्णन किया है कि जिससे योगाभ्यासी के मन में यह न आये कि मुझ जैसे चंचल मन वाले प्रारम्भिक योगाभ्यासी के लिए कोई सरल उपाय ही नहीं है। जिससे मैं सरलता से मन को रोकने का अभ्यास कर सकूं।

कोई यह न सोचे कि भला कभी स्वप्न और निद्रा के ज्ञान से भी मन को एकाग्र किया जा सकता है? हाँ, अवश्य किया जा सकता है। जब महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास स्वयं लिखते हैं कि स्वप्न और निद्रा के ज्ञान से मन को एकाग्र किया जाता है, तो सोचना नहीं है। बस क्रियात्मक रूप में करके देखना है। क्योंकि ऋषियों का कथन सत्य से ओत-प्रोत होता है। स्वप्न-ज्ञान से और निद्रा-ज्ञान से मन को एकाग्र कैसे करना है, इस बात को समझना चाहिए। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा
तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।'

अर्थात् योगाभ्यासी स्वप्न-ज्ञान के आश्रय से अथवा निद्रा-ज्ञान के आश्रय से अपने मन को स्थिर करने में या एकाग्र करने में समर्थ होता है।

स्वप्न-ज्ञान के आश्रय से मन को एकाग्र करना किस प्रकार होता है।

इसे समझने से पूर्व स्वप्न को समझना चाहिए। मनुष्य प्रात:काल से लेकर रात्रि में निद्रा लेने तक विभिन्न कार्यों को करता है। जिससे मनुष्य का शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार और महत्तत्त्व रूपी बुद्धि थक जाते हैं। जैसे बाह्य यन्त्र थकते हैं, तो उनको रोक कर कुछ समय विश्राम दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी थकते हैं। उन्हें भी विश्राम की आवश्यकता होती है। इन्हें विश्राम देने के लिए परम-पिता परमात्मा ने निद्रा की व्यवस्था की है। निद्रा से शरीर आदि साधन थकावट को दूर कर ताजगी से युक्त होकर पुनः सुचारु रूप से कार्य करने में समर्थ होते हैं। रात्रि में मनुष्य सोता है, तो जब गहरी निद्रा नहीं होती है और न ही जागता हुआ होता है, तब न जागरित-अवस्था होती है न निद्रा-अवस्था होती है। इन दोनों अवस्थाओं से भिन्न अवस्था होती है, जिसे स्वप्न-अवस्था कहते हैं।

आयुर्विज्ञान के अनुसार स्वप्न सभी को आते हैं। इतना अवश्य है कि कुछ स्वप्न प्रकट होते हैं अर्थात् जागने पर व्यक्ति को स्मरण रहते हैं कि मेरे को रात्रि में स्वप्न आये थे। कुछ स्वप्न अप्रकट होते हैं अर्थात् जागने पर व्यक्ति को स्मरण नहीं रहते हैं। व्यक्ति को ऐसा लगता है कि मुझे स्वप्न ही नहीं आते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता है। जब से मनुष्य जागता है तब से जो कुछ भी कार्य करता है, उसके संस्कार मन में पड़ते हैं। जो कुछ भी सुनता है, उसके संस्कार मन में पड़ते हैं। जो कुछ भी पढ़ता है, उसके भी संस्कार मन में पड़ते हैं और जो कुछ भी कल्पना (विचार) करता है चाहे कुछ बनाने, चाहे कुछ बिगाड़ने, चाहे भविष्य को ले कर, सब के संस्कार मन में पड़ते हैं। न केवल स्वयं के सम्बन्ध में बल्कि अन्यों के सम्बन्ध में भी जो कुछ विचार करता है उन सब के संस्कार मन में पड़ते हैं। इस जन्म के संस्कार ही अनगिनत होते हैं। साथ ही जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के, स्वभावों के, ज्ञान के, विचारों के संस्कार भी मन में रहते हैं। प्रवाह से जन्म-जन्मान्तरों के अनगिनत संस्कार मन में रहते हैं। वे संस्कार कितने हैं? कैसे हैं? इसका आकलन करना बहुत कठिन है। यहाँ पर इन संस्कारों को बताने का अभिप्राय है कि मनुष्य को जो कुछ भी स्वप्न आते हैं, उन सबका सम्बन्ध इन संस्कारों से है। मनुष्य को जो भी स्वप्न आते हैं वे स्वप्न पूर्व अनुभव किये हुए विषयों के ही होते हैं।

यद्यपि स्वप्न काल्पनिक होते हैं। परन्तु उसमें भी कुछ स्वप्न ऐसे होते हैं, जो यथार्थता से सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए अपनी माता के साथ किसी कार्यक्रम में जाना या कार्यक्रम से आना, परिवार वालों के साथ किसी वाहन में जाना आदि अनेकों प्रकार के स्वप्न हैं। जिनका सम्बन्ध सीधा-सीधा यथार्थता के साथ होता है। परन्तु कुछ स्वप्न तो बिलकुल काल्पनिक होते हैं। जैसे आकाश में उड़ना, किसी का पीछा करना, सांप का आक्रमण करना, सब ओर से शत्रुओं से घिर जाना आदि जिनका सम्बन्ध सीधा-सीधा यथार्थता से नहीं होता है। अनेक बार तो ऐसा लगता है कि ऐसा कभी नहीं सोचा, न ही ऐसा कभी विचार कर सकता पुनरपि ऐसे-ऐसे स्वप्न आते हैं, जो हृदय को दहलाने वाले होते हैं। व्यक्ति का मन बिलकुल स्वीकार नहीं करता कि ऐसा कभी हुआ हो। फिर ऐसा स्वप्न क्यों आया? प्राय: व्यक्ति हृदय दहलाने वाले स्वप्नों के सम्बन्ध में निर्णय नहीं कर पाता है कि ये जो भी स्वप्न अनुभव में आये हैं, इनका सम्बन्ध पूर्व अनुभव किये हुए के आधार पर ही है? यथार्थता तो यह ही है कि जो भी स्वप्न आते हैं पूर्व अनुभव किये हुए के आधार पर ही आते हैं।

इसमें यह समझना चाहिए कि कोई व्यक्ति स्वप्न में उड़ता हुआ दिखाई देता है, तो पूर्वानुभव में व्यक्ति को उड़ता हुआ तो नहीं देखा, परन्तु पक्षी आदि को उड़ते हुए अवश्य देखा है। स्वप्न में मन पर नियन्त्रण नहीं होता है। इसलिए मन में पक्षी उड़ने के संस्कार हैं और मनुष्यों के संस्कार हैं। दोनों संस्कारों में मिश्रण हो जाता है अर्थात् पक्षी के उड़ने मात्र के संस्कार को मनुष्य के साथ जोड़ कर आत्मा देखती है, तो ऐसा लगता है कि स्वयं मनुष्य ही उड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार किसी का पीछा करना, सांप का दौड़ना, शत्रुओं से घिर जाना आदि के सम्बन्ध में समझना चाहिए। इसलिए पूर्व अनुभव किये हुए के आधार पर ही स्वप्न का आना होता है, ऐसा समझना चाहिए।

स्वप्न दो प्रकार के होते हैं। कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं, जो डरावने होते हैं, भयानक होते हैं, दु:खी करने वाले या दु:ख उत्पन्न करने वाले होते हैं। कुछ ऐसे स्वप्न भी होते हैं, जो व्यक्ति को प्रेरणा देने वाले, आगे बढ़ाने वाले, सुखी करने वाले या सुख उत्पन्न करने वाले होते हैं। इन दोनों प्रकार

के स्वप्नों के पीछे वर्तमान जीवन शैली का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के सोच व दृष्टि किस प्रकार के हैं, दिन भर के कार्यों को किस प्रकार संपन्न करता है। कार्यों को करते हुए क्या अनुभव करता है, अर्थात् किसी को देखता हुआ, किसी से बात करता हुआ, किसी से लेता हुआ या किसी को कुछ देता हुआ क्या विचार अन्दर रखता है और ऊपर कैसे विचार प्रकट करता है, किस उद्देश्य को अपने सम्मुख रख कर कार्य करता है। उचित-न्याय-धर्म, ईश्वर-अनुकूल कार्य करता है अथवा अनुचित-अन्याय-अधर्म, ईश्वर-आज्ञा के विपरीत कार्य करता है। कार्यों को सत्त्वगुण से प्रेरित होकर करता है या रजोगुण व तमोगुण से प्रेरित हो कर करता है। किस स्तर का भोजन करता है अर्थात् भारी भोजन करता है या हलका भोजन करता है अथवा अधिक भोजन करता है या कम मात्रा में भोजन करता है। भोजन तामसिक करता है या राजसिक करता है या सात्त्विक करता है। इस प्रकार के अनेकों विषय हैं, जो स्वप्न के साथ सम्बन्ध रखते हैं। प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में सोने तक के समस्त क्रिया-कलापों का और बचपन में जब से होश संभाला तब से लेकर अब तक के सारे क्रिया-कलापों का सम्बन्ध स्वप्न के साथ जुड़ता है।

एक वाक्य में कहा जाये, तो अच्छे विचारशील, उत्तम कार्यों को करने वालों को अच्छे-उत्तम प्रकार के स्वप्न आते हैं और मलिन विचारशील, बुरे कार्यों को करने वालों को बुरे-निकृष्ट प्रकार के स्वप्न आते हैं। प्रसंग के अनुसार यहाँ पर हमें अच्छे-उत्तम प्रकार के स्वप्नों को ग्रहण करना है। अच्छे-उत्तम प्रकार के स्वप्न कैसे होते हैं ? इस पर कोई शंका न उठा सके। इसलिए यह जान लेना चाहिए कि जिससे हमें सुख मिले, प्रसन्नता मिले, आत्मा को अच्छा लगे, जो अपने लक्ष्य के प्रति सहायक बने, जिससे अच्छी प्रेरणा मिले, जिस स्वप्न को देख कर तीव्र इच्छा उत्पन्न हो कि मुझे इस दिशा में पुरुषार्थ करके आगे बढ़ना है। ऐसे-ऐसे स्वप्नों को अच्छे-उत्तम स्वप्न समझना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी विद्यार्थी को ऐसे स्वप्न आते हों कि दर्जनों विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ा रहा हो, दर्जनों विद्यार्थियों को दर्शन पढ़ा रहा हो, सैकड़ों लोगों को उपदेश कर रहा हो। किसी योगाभ्यासी को यह स्वप्न आते हों कि बिना वृत्तियों का पूर्ण-ध्यान लग गया हो, मन

को बांधकर के अपने अनुकूल चलाते हुए देख रहा हो, इन्द्रियों को रोक करके इन्द्रियजित् बनते हुए अनुभव करता हो, हज़ारों-लाखों लोगों के बीच में बैठ कर योगाभ्यास करवा रहा हो, विशेष व्यक्तियों को समाधि लगवा रहा हो। किसी गृहस्थी को यह स्वप्न आते हों कि दीन-दुखियों की सेवा कर रहा हो, हजारों-लाखों का दान दे रहा हो, बड़े-बड़े यज्ञों को करवा रहा हो, बड़े-बड़े विद्वानों का अपने घर आतिथ्य करके उपदेश सुन रहा हो। इस प्रकार के स्वप्नों को अच्छे-उत्तम मानना चाहिए।

प्रारम्भिक योगाभ्यासी उपासना के काल में बैठकर ध्यान करने लगता है, तो अनेक बार मन एकाग्र हो नहीं पाता। ऐसी स्थिति में अनेकों उपाय लगा कर योगाभ्यासी प्रयत्न भी करता है, जिससे मन एकाग्र हो परन्तु कभी-कभी सारे उपाय सफल नहीं हो पाते। क्योंकि कभी कोई उपाय सफल होता है, तो कभी कोई अन्य उपाय सफल होता है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने स्वप्न-ज्ञान को भी एक सफल उपाय के रूप में प्रस्तुत किया है। इसलिए प्रारम्भिक योगाभ्यासी हताश व निराश न हो कर ध्यान न लगने की स्थिति में तरह-तरह की वृत्तियों में बह जाने के स्थान पर अपने अनुभव किये हुए किसी एक उत्तम स्वप्न को स्मरण कर लेवे। जिससे इधर-उधर दौड़ता हुआ मन तुरन्त स्वप्न में एकाग्र हो सके और उससे सुख ले सके, उससे मन प्रसन्न हो जायेगा। उस प्रसन्न मन को धीरे-धीरे ईश्वर की ओर लगा सके। ध्यान का सारा समय वृत्तियों में भटकने के स्थान पर कुछ समय स्वप्न को स्मरण करने में भले ही लग जायेगा किन्तु बाकी समय ईश्वर में लग सकेगा। इस प्रकार कर करके हम अपेक्षा से ईश्वर की ओर अधिक आगे बढ़ेंगे। एक समय आयेगा जब हम अलग-अलग उपायों के अभ्यास को एकत्रित करके अपने मन को पूर्णरूप से ईश्वर में लगाने में समर्थ हो जायेंगे।

महर्षि पतञ्जलि ने मन को एकाग्र करने के उपायों में स्वप्न-ज्ञान के समान निद्रा-ज्ञान को भी ग्रहण किया है। जिस प्रकार से स्वप्न-ज्ञान से मन एकाग्र होता है, उसी प्रकार से निद्रा-ज्ञान से भी मन एकाग्र होता है। जिस प्रकार से स्वप्न अच्छे और बुरे होते हैं। ठीक इसी प्रकार निद्रा भी अच्छी-सुखदायी और बुरी-दुःखदायी होती है। निद्रा एक ज्ञानात्मक वृत्ति-व्यापार है। इस सम्बन्ध में वृत्तियों के प्रकरण में निद्रा-वृत्ति वाले सूत्र (**अभाव-**

प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा योग. १.१०) की व्याख्या देख लेवें।

मनुष्य सोता है, तो तीन प्रकार से सोता है। सुख का अनुभव करता हुआ सोता है, दुःख का अनुभव करता हुआ सोता है अथवा बेखबर होकर मूढ़ हो कर सोता है। प्रसंग के अनुसार यहाँ हमें उस निद्रा का ग्रहण करना है, जिसमें व्यक्ति सुखपूर्वक सोता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में तीनों प्रकार की निद्रा का अनुभव रहता है। अपने पिछले भूतकाल पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीति होगी कि वे ढेर सारे दिन स्मरण हो आएंगे जिन दिनों में सुकून की-सुखदायी निद्रा ली है। वे ढेर सारे दिन स्मरण हो आएंगे जिन दिनों में बहुत ही दुःखदायी निद्रा ली है और वे भी दिन स्मरण हो आएंगे जिन दिनों मूढ़ हो कर सोये थे।

प्रारम्भिक योगाभ्यासी ध्यान के काल में मन को एकाग्र होता न पा कर विभिन्न उपायों का आश्रय लेता है। उन उपायों में निद्रा-ज्ञान भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। जब मन ईश्वर में नहीं लग रहा हो, तो किसी दिन की उस उत्तम-सुखदायी निद्रा को स्मरण कर लेवें कि उस दिन कितना अच्छा सोया था, क्या नींद थी, मेरा शरीर कितना हलका हुआ था, इन्द्रियाँ कितनी शान्त थीं, मन कितना प्रसन्न था, बुद्धि कितना अच्छा काम कर रही थी, उस दिन कितने अच्छे विचार थे, पूरा दिन कितना अच्छा निकला था, कितना अच्छा होता कि प्रत्येक दिन ऐसी ही निद्रा आती। इस प्रकार उस उत्तम-सुखदायी निद्रा को स्मरण करने से मन प्रसन्न हो जाता है। प्रसन्न मन एकाग्र होने में समर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन इधर-उधर दौड़ता नहीं है। एक दम रुक जाता है। रुके हुए मन को ईश्वर में लगा कर अपने ध्यान को उचित रूप में संपन्न कर लेना चाहिए।

इस प्रकार स्वप्न-ज्ञान के आश्रय से एवं निद्रा-ज्ञान के आश्रय से मन को ईश्वर में लगाने में समर्थ हो सकते हैं। प्रारम्भिक योगाभ्यासी को कभी भी अपने ध्यान के काल को व्यर्थ नहीं होने देना चाहिए। किसी न किसी उपाय को अपना कर उत्तम रीति से ध्यान कर लेवें। यह ही उद्देश्य महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास का है। इसी कारण विभिन्न उपायों का निर्देश किया गया है।

❖❖❖❖

यथानुकूल ध्यान से एकाग्रता सम्पादन

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

महर्षि पतञ्जलि ने प्रारम्भिक योगाभ्यासी के चंचल मन को एकाग्र करने के लिए पिछले अनेकों सूत्रों में अनेकों उपायों का निर्देश किया है। महर्षि वेदव्यास ने पतञ्जलि द्वारा निर्देशित सूत्रों की व्याख्या करते हुए उन उपायों का विश्लेषण करके योगाभ्यासी के मन में सुनिश्चित कर दिया है कि निश्चित रूप से इन उपायों के आश्रय से मन को ईश्वर में लगाया जा सकता है। इन उपायों का अवलोकन करने से और इनको क्रियात्मक रूप में अपनाने से योगाभ्यासी का डर, भय, आशंका व चिंताएँ निश्चित रूप से दूर हो जायेंगी। सूत्रों के माध्यम से व व्याख्या के माध्यम से महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने प्रत्येक स्तर वाले, चंचल मन वाले प्रारम्भिक योगाभ्यासी का पूर्ण ध्यान रखा है। कोई भी योगाभ्यासी एकाग्रता के उपायों से रहित नहीं रह पायेगा। महर्षि अनेकों उपायों का निर्देश करके प्रस्तुत सूत्र से महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश प्रदान कर रहे हैं। जिससे प्रारम्भिक योगाभ्यासी स्वतंत्र हो कर अपने मनोनुकूल उपायों को अपना सके। ऋषि सूत्र द्वारा यह स्पष्ट करते हैं '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' अर्थात् प्रारम्भिक योगाभ्यासी **यथा**= अपने-अपने, **अभिमत**= मन के अनुकूल जो-जो उपाय लगे, **ध्यानाद्**= उस-उस उपाय का स्मरण करके, अपने मन को प्रसन्न करके ईश्वर में लगावें, जिससे मन एकाग्र हो कर ईश्वर में ही लगा रहे, इधर-उधर न जा सके।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्।'

अर्थात् जो कोई भी उपाय अपने मन के अनुकूल लगे उसी उपाय को स्मरण कर लेवें। क्योंकि मन के अनुकूल उपाय को अपनाने पर ही मन प्रसन्न होता है। अन्यथा बलात् करने से उपाय को अपनाते हुए भी मन खिन्न रहेगा। खिन्नता से मन एकाग्र नहीं हो पाता है। इसीलिए महर्षि ने '**यथाभिमत**' कहा है। महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

'तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति।'

अर्थात् जिस योगाभ्यासी का मन अनुकूल उपाय में लग कर एकाग्र हुआ है और प्रसन्न हो कर मन उसी में लगा हुआ है, तो उस प्रसन्न और एकाग्र मन को वह अन्यत्र=ईश्वर में लगाने में समर्थ हो जाता है अर्थात् वह शीघ्रता से सरलता से ईश्वर में भी स्थिर हो कर एकाग्र हो जायेगा। मन के अनुकूल उपायों को अपनाने का मुख्य प्रयोजन भी यही है कि अन्ततोगत्वा मन को ईश्वर में लगाना है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए विभिन्न उपायों का कथन किया गया है। इन उपायों का सार भी मन को प्रसन्न करना है। प्रसन्न मन को किसी भी विषय में लगाया जा सकता है। हमारा उद्देश्य ईश्वर है, इसलिए मन को ईश्वर में लगाना है।

यहाँ पर प्रस्तुत सूत्र से एवं भाष्यकार के कथन से एक प्रश्न उभर कर आता है कि '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' का क्या अर्थ लेना चाहिए? सूत्र का अर्थ एवं भाष्य का अर्थ लिखने के उपरान्त यह कैसा प्रश्न है? ऐसा पाठकगण विचार कर सकते हैं। परन्तु सूत्र एवं भाष्य का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। एक अर्थ यह है कि महर्षि पतञ्जलि ने '**मैत्रीकरुणामुदितो-पेक्षाणां......चित्तप्रसादनम्**' सूत्र से लेकर '**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा**' सूत्र तक जितने उपाय मन को एकाग्र करने के लिए निर्देशित किये हैं, उन्हीं उपायों में से किसी एक उपाय का ग्रहण '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' से लेना है। '**यथाभिमत**' का अर्थ इन्हीं उपायों में से मन के अनुकूल एक उपाय लिया जाये। जिन उपायों की चर्चा महर्षि ने नहीं की, उनका ग्रहण प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय नहीं है। दूसरे प्रकार का अर्थ यह है कि महर्षि ने जितने उपायों का निर्देश किया है, उनके अतिरिक्त भी कोई उपाय मन को एकाग्र करने में सहायक बनता हो, तो उसे भी '**यथाभिमत**' के अन्तर्गत ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि उपाय कोई सा भी हो, जिससे मन एकाग्र हो कर ईश्वर में लग सके। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के अर्थों में से कौन-सा अर्थ लेना चाहिए? अथवा दोनों ही अर्थ लेने चाहिएँ? इसका क्या समाधान होना चाहिए? समाधान शास्त्रानुकूल होना चाहिए।

योगसाधक को यह समझ लेना चाहिए कि महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने मन को एकाग्र करने के जिन-जिन उपायों की चर्चा की है वे उदाहरण मात्र हैं। ऋषि यह नहीं कहना चाहते हैं कि मन को एकाग्र करने

के उपाय जितने निर्देश किये हैं, बस इतने ही उपाय होते हैं। उन्होंने तो दिशा का निर्देश मात्र किया है। उनकी दिशा का निर्देश पा कर हमें उसी निर्देश के माध्यम से शास्त्र-अनुकूल उपायों की परिकल्पना करनी चाहिए। सूत्र द्वारा एवं भाष्य द्वारा निर्देश किये गये उपायों से भिन्न उपायों को अपनाते हुए योगसाधक को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस उपाय का ग्रहण कर रहा हूँ वह उपाय अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूपी क्लेशों को उत्पन्न करने वाला उपाय तो नहीं है। यदि क्लेशों को उत्पन्न करने वाला नहीं है, तो अपनाने में शास्त्र-विरोध नहीं होगा। ऐसे उपाय को नहीं अपनाना चाहिए, जिससे भोगों में प्रवृत्ति बढ़ती हो। ऐसे उपाय को नहीं अपनाना चाहिए, जिससे भोगों के संस्कार पुनः जागरित हो रहे हों। ऐसे उपाय को नहीं अपनाना चाहिए, जो स्व-स्वामी सम्बन्ध को और बढ़ाने वाला हो। ऐसे उपाय को अपनाना चाहिए, जिससे प्रेय-मार्ग से हट कर श्रेय-मार्ग पर आरूढ़ हो सके। ऐसे उपाय को अपनाना चाहिए, जिससे पाप-प्रवृत्ति से हट कर कल्याण के राह पर चल पड़े। ऐसे उपाय को अपनाना चाहिए, जिससे तृष्णा से हट कर विवेक और वैराग्य की ओर अग्रसर हो सके।

उपर्युक्त इन सब बातों का ध्यान रखते हुए कोई योगसाधक अपने मन के अनुकूल (शास्त्रानुकूल) शास्त्र में निर्देश किये उपायों के अतिरिक्त उपाय को अपना कर अपने मन को एकाग्र कर ईश्वर में लगा ले, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए '**यथाभिमतध्यानाद्वा**' सूत्र के दोनों ही अर्थ ले सकते हैं। इसमें कोई ऐसा आग्रह न करे कि एक ही प्रकार का अर्थ लेना चाहिए। क्योंकि जिस सूत्र के दो प्रकार के अर्थ निकल रहे हों, तो एक अर्थ का आग्रह उचित प्रतीत नहीं होता। हाँ, यदि दूसरा अर्थ प्रसंग के अनुरूप न हो, तो एक अर्थ का आग्रह उचित होता है। जब दोनों ही अर्थ उचित भी हों, प्रसंग के अनुरूप के साथ-साथ सिद्धान्त-विरुद्ध भी न हों और शास्त्र से उसका खण्डन भी न होता हो, तो दोनों अर्थ ले सकते हैं। ऐसी स्थिति में एक ही अर्थ लेने का आग्रह पूर्वाग्रह ही कहलायेगा।

कोई यह भी कह सकता है कि वह कौन-सा उपाय है, जो शास्त्र में निर्देश किये उपायों से भिन्न हो और जो उपाय शास्त्र के अनुरूप भी हो?

ऐसे तो बहुत सारे उपाय हैं। परन्तु उदाहरण के लिए एक उपाय का निर्देश किया जा सकता है। एक योगसाधक है, जो अनवरत योगाभ्यास करता है और समय-समय पर अन्यों को भी योगाभ्यास सिखाता है। योगाभ्यास सिखाते हुए उसे अनेक बार अच्छी अनुभूतियाँ भी हुई हैं। जैसे कि कुछ साधकों को वह ध्यान करवाता है, तो अच्छी उपलब्धि यह हुई है कि ध्यान करवाते समय स्वयं का मन भी एकाग्र हो कर ईश्वर में ही लगा हुआ है और उसमें कोई विचार उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसी उपलब्धियाँ अनेक बार हुई हैं। वही ध्यान सिखाने वाला कभी अकेला ध्यान के लिए बैठता है और तब अनेक उपायों को अपनाने पर भी मन को एकाग्र नहीं कर पाता है। ऐसी स्थिति में उसे ध्यान सिखाते समय जो अच्छी उपलब्धि हुई थी, उसे स्मरण कर अपने मन को प्रसन्न कर लेता है, फिर धीरे-धीरे अपने मन को ईश्वर की ओर लगा कर ईश्वर में भी एकाग्र कर लेता है। ऐसा करने में वह योगसाधक ईश्वर की ओर ही अग्रसर होगा। इससे ईश्वर दूर नहीं होते हैं और ऐसा करना शास्त्र-विरुद्ध भी प्रतीत नहीं होता। किसी अच्छे स्वप्न को स्मरण करके एकाग्र हो रहा हो या अपने द्वारा सिखाये गये ध्यान को स्मरण करके एकाग्र हो रहा हो। इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, एक उदाहरण शास्त्र का है, दूसरा उदाहरण स्वयं का है, इतना अन्तर अवश्य है। परन्तु दोनों उदाहरण योग-साधक को ईश्वर की ओर बढ़ाने वाले हैं। इस उपरोक्त उदाहरण को समझ लेने से और उदाहरण भी समझ में आ जाएँगे।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या को पाठकगण एक दो बार अच्छी प्रकार पढ़ कर हृदयङ्गम करके ही अपना निर्णय लेवें कि सूत्र का अर्थ एक प्रकार का होना चाहिए अथवा दोनों प्रकार के अर्थ उचित हैं। जो व्यक्ति विशाल हृदय हो कर पूर्वापर का विचार करते हुए तर्क एवं प्रमाणों का आश्रय लेते हैं वे ही उचित निर्णय ले पाते हैं। जो पहले से ही अपने मन में किसी एक मत को स्वीकार कर रखते हैं और फिर किसी को सुनते व पढ़ते हैं, उस स्थिति में व्यक्ति का मन उचित और अनुचित को पकड़ नहीं पाता है, क्योंकि मन ने पहले से ही किसी मत को स्वीकार कर लिया होता है। इसलिए किसी को सुनने या पढ़ने से पहले अपने मन को निष्पक्ष बना कर सुनने या पढ़ने से पूर्वाग्रह व हठ आदि का स्थान नहीं रह पाता है। तभी व्यक्ति सत्य

सिद्धान्तों को जान पाता है और अपना पाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी यह ही निर्देश किया है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्याग करने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

'यथाभिमतध्यानाद्वा' इस सूत्र का एक वाक्य में यह अर्थ लेना चाहिए कि प्रारम्भिक योगाभ्यासी को चाहिए कि जो-जो उपाय (शास्त्र-अनुकूल) अपने मन के अनुकूल हो, उस-उस उपाय को स्मरण करके अपने मन को प्रसन्न कर ईश्वर में एकाग्र करना चाहिए। चाहे वह उपाय सीधा-सीधा शास्त्र में कहा गया हो या चाहे वह उपाय स्वयं द्वारा अनुभव किया गया हो। किसी भी स्थिति में अपने मन को इधर-उधर भटकने न देवें। ध्यान के काल में मन को ईश्वर में ही मग्न करें। यह ही मुख्य प्रयोजन होना चाहिए।

❖❖❖❖❖

एकाग्रता का विस्तार

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास ने 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां ....भावनातश्चित्तप्रसादनम्' सूत्र से लेकर 'यथाभिमतध्यानाद्वा' सूत्र तक मन को प्रसन्न कर एकाग्र करने के अनेकों उपायों की चर्चा की है। मन को एकाग्र करने हेतु दिशा-निर्देश भी प्रदान किये हैं। ऋषियों के दिशा-निर्देशों को अपनाते हुए विभिन्न उपायों का आश्रय लेकर प्रारम्भिक योगाभ्यासी अपने प्राप्तव्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है। जो योगसाधक ऋषियों के कथन को आप्त-वचन मानकर पूर्ण रुचि से, निष्ठा से, श्रद्धा से, ज्ञानपूर्वक, पुरुषार्थ पूर्वक उपायों को अपनाकर लम्बे काल तक, निरन्तरता से, तपस्या पूर्वक, संयम पूर्वक अभ्यास करते हुए अपने मन को शान्त व सत्त्वगुण से परिपूर्ण कर एकाग्र करता है। वही ईश्वर की ओर अग्रसर होता है।

मनुष्य जीवन हर समय एक जैसा नहीं रहता है अर्थात् बुद्धि हर समय एक जैसी नहीं रहती है, मन हर समय एक जैसा नहीं रहता है, इन्द्रियाँ भी एक जैसा कार्य नहीं करती हैं। व्यक्ति का शरीर भी हर समय एक जैसा नहीं रह पाता है। व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की उलझनें, नाना प्रकार की बाधाएँ, नाना प्रकार की समस्याएँ, अलग-अलग परिस्थितियों

में अन्य लोगों के व्यवहार अलग-अलग प्रभाव डालते हैं। अलग-अलग लोगों से अलग-अलग सम्बन्धों के कारण उनका अलग-अलग प्रभाव भी पड़ता है। इन सभी परिस्थितियों में योगसाधक को परमेश्वर का ध्यान करना ही पड़ता है। उन परिस्थितियों में ध्यान करने वाले योगसाधक को अलग-अलग प्रकार के उपायों को अपनाना पड़ता है। क्योंकि कौन-सा उपाय कब-कैसे सफल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऋषियों ने विभिन्न उपायों का निर्देश किया है। उन उपायों को बार-बार अपनाते हुए योगसाधक को यह अच्छा अनुभव हो जाता है कि कब कौनसा उपाय अपनाने से मन एकाग्र होगा।

योगसाधक को लम्बे अभ्यास का अनुभव अच्छी प्रकार से हो जाता है। जब योगसाधक को मन को रोकने का अच्छा अभ्यास हो जाता है तब योगसाधक को क्या उपलब्धि होती है ? उस उपलब्धि की चर्चा प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार एवं भाष्यकार प्रकट कर रहे हैं।

मन को स्थिर-एकाग्र करने का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि '**परमाणु**'- सूक्ष्म वस्तु अर्थात् जिससे अधिक सूक्ष्म नहीं हो, ऐसी वस्तु को परमाणु कहते हैं। ऐसे परमाणु में योगसाधक का मन एकाग्र होने में समर्थ हो जाता है। यह कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं है। '**परममहत्त्वान्तः**' बड़ी से बड़ी वस्तु अर्थात् जिससे अधिक बड़ी वस्तु नहीं हो सकती। ऐसी बड़ी वस्तु को परममहत्त्वान्त कहते हैं। ऐसे बड़े पदार्थ में भी योगसाधक का मन एकाग्र होने में समर्थ हो जाता है। सूत्र में '**अस्य**' शब्द मन के लिए आया है। '**वशीकारः**' शब्द का अर्थ वशित्व से है अर्थात् वशीकरण= नियन्त्रण। पूर्ण नियन्त्रण को वशीकार कहते हैं।

सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति।'

अर्थात् योगसाधक का मन सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ में एकाग्र होता हुआ अतिसूक्ष्म=परमाणु में भी एकाग्र हो जाता है।

यहाँ पर सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ में मन को एकाग्र करने की बात कही गई है। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं कि सेव फल की अपेक्षा बेर फल सूक्ष्म-छोटा है। सेव फल का क्षेत्र बड़ा है और बेर फल का क्षेत्र छोटा

है। अपने मन को बेर में ही समायोजित करना है। अर्थात् मन को मानो न फैलाते हुए संकुचित करते हुए उस छोटे से बेर में एकाग्र करना है। जैसे बेर में एकाग्र करना पड़ता है, वैसे यदि तिल में एकाग्र करना पड़े, तो मन को कितना नियन्त्रण करना पड़ेगा? परन्तु निरन्तर अभ्यास से तिल में भी मन एकाग्र हो जायेगा, ठीक इसी प्रकार तिल से भी सूक्ष्म मिट्टी के एक कण में मन को एकाग्र करना है। इसके लिए अतिसंयम व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। फिर मिट्टी के कण से भी सूक्ष्म वस्तु में मन को एकाग्र करना है। इस प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु पर्यन्त अति सूक्ष्म पदार्थ में मन को एकाग्र करना है। जिस प्रकार बाहर के सूक्ष्म पदार्थों में मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है, उसी प्रकार अपने शरीर के भीतर-अन्दर भी मन को एकाग्र करना है। शरीर के एक अंग पर एकाग्र करके प्रत्यंग पर एकाग्र करना है। फिर ऊतक में एकाग्र करना है। ऐसे करते-करते शरीर के एक सूक्ष्म कण में मन को एकाग्र करना है। बाहर के पदार्थों में मन को एकाग्र करने की अपेक्षा शरीर के अन्दर एकाग्र करना अधिक कठिन होता है और अन्दर एकाग्र करने का अभ्यास ही सर्वश्रेष्ठ कहलाता है, क्योंकि अन्ततोगत्वा हमें शरीर के अन्दर ही समाधि लगानी है। इसलिए अधिक पुरुषार्थ शरीर के भीतर करना चाहिए।

महर्षि वेदव्यास आगे लिखते हैं—

'स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य।'

अर्थात् योगसाधक का मन स्थूल से स्थूल पदार्थ में एकाग्र होता हुआ महत्परिमाण=बड़े पदार्थ में भी एकाग्र हो जाता है। सब से बड़ा पदार्थ आकाश है। यहाँ पर बड़े से बड़े पदार्थ में मन को एकाग्र करने की बात कही गई है। जैसे सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ में मन को एकाग्र करने के लिए मन को सब ओर से हटा कर केवल उस सूक्ष्म पदार्थ में एकाग्र करना होता है। यह कठिन कार्य है। ठीक इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ में मन को एकाग्र करना भी कठिन कार्य है। क्योंकि बड़े पदार्थ का क्षेत्रफल बड़ा होता है। उस बड़े क्षेत्रफल को पूरे मन का विषय बनाना है। उसमें कुछ भी न छूटे, तभी उस बड़े पदार्थ का बोध पूर्ण रूप से हो पायेगा। यह भी कोई छोटी-मोटी उपलब्धि नहीं है, अथक अभ्यास व पुरुषार्थ से संभव होने योग्य

बहुत बड़ा कार्य है। इसके आगे महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः'

अर्थात् इस प्रकार उन दोनों (सूक्ष्म-परमाणु व स्थूल-महत्परिमाण पदार्थों) में श्रद्धापूर्वक लगने वाले योगसाधक का मन अप्रतिघात=बिना बाधा के सबसे उत्तम मनोनियन्त्रण में होता है। मन के इस ठत्तम मनोनियन्त्रण को महर्षि वेदव्यास ने **'परो वशीकारः'** शब्द से कहा है। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में **'वशीकारः'** शब्द से निर्देशित किया है और भाष्यकार ने **'परः'** शब्द को वशीकार के साथ जोड़कर और अधिक महत्त्व दिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योगसाधक मन को एकाग्र करने के लिए अलग-अलग उपायों को अपना कर कितना पुरुषार्थ करता है। यह बात योगाभ्यास में रत योगसाधक ही समझ पायेंगे। क्योंकि जिस विषय में जो पुरुषार्थ करते हैं, उस विषय को वे ही भली-भांति समझ सकते हैं। अन्य जन उतना अनुभव कर नहीं पाते हैं।

विषय का उपसंहार करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति।'

अर्थात् उस उत्तम मनोनियन्त्रण से परिपूर्ण योगसाधक का मन इतना सधा हुआ हो जाता है कि योगसाधक को मन को रोकने के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती है। अर्थात् योगसाधक को मन को एकाग्र करने के लिए तरह-तरह के उपायों को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती है। एक उपाय से मन एकाग्र नहीं हो रहा है, तो दूसरे उपाय को लगा कर एकाग्र कर लिया जाये, ऐसा नहीं होगा। क्योंकि योगसाधक उन उलझनों, बाधाओं, समस्याओं, कठिनाइयों से ऊपर उठ चुका होता है। अब किसी भी काल में, किसी भी स्थान में, किसी भी प्रसंग में बड़ी सरलता से योगसाधक अपने मन को तत्काल एकाग्र करने में कुशल हो चुका है। इसलिए महर्षि कह रहे हैं कि अब योगसाधक को मन को रोकने का किसी भी प्रकार का अभ्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। योगसाधक मन को एकाग्र करने का संकल्प ले कर मन को किसी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ या स्थूल से स्थूल पदार्थ में सरलता से एकाग्र कर

लेता है।

इसलिए प्रारम्भिक योगाभ्यासी को चाहिए कि वह ऋषियों के द्वारा प्रदर्शित दिशा-निर्देशों को अपना कर जिस किसी भी प्रकार से मन को एकाग्र करने के लिए जितने भी उपाय हो सकते हों, उन्हें अपनाये। किसी भी योगसाधक को मन को एकाग्र करने में ढिलाई नहीं वर्तनी चाहिए। क्योंकि अनेक बार योगसाधक कुछ ही उपायों को अपना कर यदि मन को एकाग्र नहीं कर पाते हैं तो हताश-निराश हो कर मन को एकाग्र करना ही छोड़ देते हैं। ऐसा करने से कभी भी मन पर नियन्त्रण नहीं हो पायेगा। प्रयास कर-करके जब छोड़ दिया जाता है तो और अधिक गिरावट आती है। जिससे योगसाधक और पीछे चला जाता है। इसलिए इस विषय में योगसाधक को अत्यधिक जागरूक रहना पड़ता है। चाहे कितने ही बार मन को एकाग्र करने में असफलता मिले, परन्तु अभ्यास को दीर्घकाल तक, निरन्तर, विद्यापूर्वक, तपस्यापूर्वक, श्रद्धापूर्वक, संयमपूर्वक करने से लक्ष्य अवश्य ही मिलेगा। यह भी अभ्यास की महानता है।

❖❖❖❖❖

समापत्ति का स्वरूप

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

योग-साधक ने अपने चंचल मन को एकाग्र करने के लिए महर्षि पतञ्जलि एवं महर्षि वेदव्यास द्वारा बताये गये विभिन्न उपायों को बार-बार अपना कर निरन्तर अभ्यास किया। अनवरत अभ्यास करने का परिणाम योग-साधक को यह मिला कि उसका मन पूर्ण नियन्त्रण में आ गया। मन के पूर्ण नियन्त्रण में आने का भी परिणाम यह निकला कि योग-साधक अपने मन को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ (परमाणु) में एकाग्र करने में समर्थ हो गया और बड़े से बड़े पदार्थ (महत्परिणाम) में भी एकाग्र करने में समर्थ हो गया। योग-साधक को इतनी बड़ी उपलब्धि मिल ही गई है, तो अपने लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए योग-साधक को अब क्या करना चाहिए? इस बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार महर्षि वेदव्यास इस सूत्र की भूमिका

में लिखते हैं—

'अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा
किंविषया वा समापत्तिरिति तदुच्यते'

अर्थात् (मन को एकाग्र करने के) विभिन्न उपायों द्वारा एकाग्र हुए मन की समापत्ति किस स्वरूप वाली होती है और किस विषयवाली होती है ? यहाँ पर समापत्ति का अभिप्राय समाधि से है। इसे इस रूप में समझना चाहिए कि मन की समाधि किस स्वरूप वाली और किस विषयवाली होती है ? भाष्यकार के भूमिका रूप में किये गये प्रश्न का समाधान **'क्षीण-वृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः'** सूत्र से दिया गया है।

भाष्यकार महर्षि वेदव्यास स्वयं सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः'

अर्थात् सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में **'क्षीणवृत्तेः'** शब्द का ग्रहण किया है। इसका अर्थ यह है कि सारी वृत्तियाँ (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) अस्त हो गई हैं जिस मन में। अभिप्राय यह है कि समस्त वृत्तियाँ दब गई हैं अथवा नष्ट हो गई हैं, अर्थात् अब मन में कोई वृत्ति उभर नहीं रही है। मन शान्त, निर्मल, पवित्र हो गया है। समाधि लगाने में अब कोई बाधा नहीं आ रही है। निर्बाध रूप से समाधि लगाने में मन समर्थ हो गया है। 'क्षीणवृत्तेः' शब्द का यह ही अभिप्राय है। अब मन जिस को विषय बनायेगा, उसी की समाधि लग जायेगी। भाष्यकार सूत्र के आगे के पदों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम्।'

अर्थात् सूत्र में **'अभिजातस्येव मणेः'** यह जो वाक्य आया है यह उदाहरण के रूप में ग्रहण किया है। **'अभिजातस्येव मणेः'** इसका अर्थ है कि स्फटिक-मणि=बिल्लोर-पत्थर (क्रिस्टल) जो अभी-अभी निकला नया पत्थर है। जो स्पष्ट-शुद्ध-निर्मल-साफ-सुथरा है। इसी स्फटिक-मणि का उदाहरण देते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

'यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते।'

अर्थात् स्फटिक-मणि को किसी गुलाब पुष्प के समीप रख दिया जाये, तो स्फटिक-मणि गुलाब पुष्प जैसे रंग का बन जाता है। गुलाब पुष्प जैसा बना हुआ स्फटिक-मणि गुलाब पुष्प के रूप में प्रतीत होता है। देखने वालों को मानो ऐसा लगता है कि यह गुलाब पुष्प है। ठीक इसी प्रकार मन को समझना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं—

'यथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते।'

अर्थात् जैसे हमारा मन किसी वस्तु को देखता है, उदाहरण के लिए पुस्तक को देखता है तो यहाँ पुस्तक ग्राह्य-वस्तु है—ग्रहण करने योग्य वस्तु है। ग्राह्य-वस्तु पुस्तक हुआ। आलम्बन का अर्थ आश्रय है और उपरक्त का अर्थ जुड़ना है। 'ग्राह्यालम्बनोपरक्तम्' का अर्थ हुआ हमारा मन पुस्तक से जुड़ गया, तो मन मानो पुस्तक जैसा बन गया। मन के पुस्तक जैसे बनने को 'ग्राह्यसमापन्नम्' शब्द से कहा है। जब मन पुस्तक से जुड़ गया है, तो पुस्तक जैसा ही प्रतीत होने लगता है। यहाँ पर कोई व्यक्ति यह न समझे कि मन तो सीधा-सीधा पुस्तक से जुड़ता नहीं है। हाँ, यह बिलकुल ठीक बात है कि सीधा-सीधा मन नहीं जुड़ता है, परन्तु नेत्र के माध्यम से, तो जुड़ता ही है। माध्यम होने के नाते नेत्र को गौण करके मन को मुख्य करके बात कही जा रही है। इसलिए यह उदाहरण दिया गया है।

जिस प्रकार से लौकिक-कार्यों को करते समय मन लौकिक-वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है। ठीक उसी प्रकार समाधि के प्रसंग में भी समझना चाहिए। यहाँ पर अन्तर इतना अवश्य है कि मन लौकिक-पदार्थों का प्रत्यक्ष नेत्र, घ्राण, रसना आदि साधनों के माध्यम से करता है। यहाँ पर समाधि में मन स्वयं (किसी नेत्र आदि के सहयोग के बिना) ही सीधा-सीधा प्रत्यक्ष करता है। वह प्रत्यक्ष भी उन वस्तुओं का करता है, जो इन्द्रियों से नहीं दिखने वाली हैं। इसलिए इन्हें अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस प्रकार से स्फटिक-मणि गुलाब पुष्प से जुड़ कर गुलाब के समान दिखता है। जिस प्रकार से मन लौकिक-वस्तु पुस्तक से जुड़ कर पुस्तक जैसा दिखता है।

ठीक इसी प्रकार समाधि में भी मन अतीन्द्रिय वस्तुओं से जुड़ कर वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं—

'तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं
भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति।'

अर्थात् इसी प्रकार (उदाहरणों की तरह) मन सूक्ष्म-भूतों से जुड़कर मानो सूक्ष्मभूतों जैसा बन जाता है। सूक्ष्मभूतों जैसा बनकर सूक्ष्मभूतों के रूप में दिखाई देता है। अभिप्राय यह है कि मन सूक्ष्मभूतों का प्रत्यक्ष करता है। यहाँ सूक्ष्मभूतों का अभिप्राय है पांच तन्मात्राएँ, जो पञ्च महाभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व आकाश) का उपादान कारण (मेटीरियल कौज़) हैं। इन्हीं तन्मात्राओं को यहाँ '**भूत सूक्ष्म**' शब्द से कहा गया है।

तन्मात्राओं का प्रत्यक्ष करने की प्रक्रिया को इस प्रकार समझना चाहिए कि- योग-साधक आसनस्थ होकर अपने मन को संसार से, सांसारिक पदार्थों से, सांसारिक सम्बन्धों से हटा कर अपने ही शरीर में एक स्थान पर (भृकुटी या हृदय आदि स्थानों पर) मन को एकाग्र करने के लिए स्थिर करता है, इसे धारणा कहते हैं। उसी धारणा स्थल पर पांचों तन्मात्राओं में से एक तन्मात्रा (गन्धतन्मात्रा) का ध्यान निरन्तर करता है। तन्मात्रा का ध्यान परिपक्व होने पर वही ध्यान समाधि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में गन्धतन्मात्रा का प्रत्यक्ष हो जाता है। यह प्रत्यक्ष मन से होता है या मन में होता है, ऐसा कह सकते हैं। जैसे लौकिक पुस्तक आदि के प्रत्यक्ष में मन पुस्तक जैसा बन कर पुस्तक का प्रत्यक्ष आत्मा को कराता है। ठीक उसी प्रकार यहाँ यौगिक-प्रत्यक्ष में भी मन गन्धतन्मात्रा जैसा बन कर गन्धतन्मात्रा का प्रत्यक्ष आत्मा को कराता है। जिस रीति से प्रत्यक्ष करने की प्रक्रिया गन्धतन्मात्रा की बताई है। ठीक उसी प्रकार बाकी चारों तन्मात्राओं (रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा) को भी समझ लेना चाहिए।

'तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं
स्थूलरूपाभासं भवति।'

अर्थात् उसी प्रकार स्थूल-भूतों का भी है। यहाँ स्थूल शब्द से पंच महाभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) का ग्रहण करना चाहिए।

कोई यहाँ ऐसा न समझे कि पहले पंचमहाभूतों को पढ़ना चाहिए। ऐसा नहीं पढ़ा गया, इसका यह ही अभिप्राय लेना चाहिए कि यह अर्थ-क्रम को न ले कर पाठ-क्रम का ग्रहण किया गया है। जहाँ विकल्प हो, तो अर्थ-क्रम का आग्रह नहीं करना चाहिए। मन पंच-महाभूतों से जुड़कर पंच-महाभूतों जैसा बन जाता है। पंच-महाभूतों जैसा बन कर पंच-महाभूतों का प्रत्यक्ष आत्मा को कराता है। यहाँ पर भी पांचों तन्मात्राओं के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के समान ही समझना चाहिए अर्थात् बारी-बारी से एक-एक का प्रत्यक्ष होता है।

'तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति।'

अर्थात् उसी प्रकार विश्व भेद=संसार में और भी अतीन्द्रिय वस्तुएँ हैं, जो आंखों व यन्त्रों से प्रत्यक्ष नहीं होती हैं, उन सभी पदार्थों में से भी किसी को भी मन का विषय बनाया जा सकता है। उन पदार्थों से मन जुड़ कर उन जैसा बन कर उनका भी आत्मा को प्रत्यक्ष करा सकता है।

जैसे ग्राह्य-पदार्थों (पृथिवी, जल आदि व गन्धतन्मात्रा आदि) के प्रत्यक्ष में कहा गया है। वैसे ही ग्रहण-पदार्थों के संदर्भ में भाष्यकार आगे लिखते हैं—

'तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेषु द्रष्टव्यम्।'

अर्थात् उसी प्रकार ग्रहण=इन्द्रियों के प्रत्यक्ष में भी उसी प्रक्रिया से प्रत्यक्ष होता है, ऐसा समझना चाहिए। इस बात को स्वयं भाष्यकार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते।'

अर्थात् ग्रहण=इन्द्रियों से जुड़ कर मन इन्द्रियों जैसा बन जाता है। इन्द्रियों जैसा बन कर इन्द्रियों का प्रत्यक्ष आत्मा को कराता है। यहाँ पर भी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्व बताये हुए के अनुसार अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का प्रत्यक्ष बारी-बारी से समझना चाहिए। यहाँ पर ग्रहण शब्द से भाष्यकार एवं सूत्रकार ने जहाँ दसों इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों) का ग्रहण किया है, वहाँ ग्रहण शब्द से मन, अहंकार, महत्तत्त्व को भी ले लिया है। क्योंकि मन, अहंकार, महत्तत्त्व को अलग से नहीं पढ़ा है। मन, अहंकार, महत्तत्त्व को अन्तःकरण भी कहते हैं। ग्राह्य-पदार्थों एवं ग्रहण-इन्द्रियों व अन्तःकरणों

की चर्चा करके महर्षि वेदव्यास आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते।'

अर्थात् उसी प्रकार ग्रहीतृ-पुरुष-आत्मा के साथ जुड़ कर मन आत्मा जैसा बन जाता है। आत्मा जैसा बन कर आत्मा को आत्मा का साक्षात्कार=प्रत्यक्ष-दर्शन कराता है। यहाँ पाठकगण यह न समझें कि जब आत्मा में जड़-वस्तु के कोई रंग-रूप आदि गुण नहीं हैं, तो मन आत्मा के समान कैसे बनेगा? यहाँ पर इतना ही समझना चाहिए कि जैसा आत्मा (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान वाला) है वैसा ही मन इच्छा, द्वेष, प्रयत्न वाला बन कर ही दर्शन कराता है। भाषा-विज्ञान के अनुसार तो जड़ को चेतन समान और चेतन को जड़ समान बताना परम्परा से चला आ रहा है। महर्षि वेदव्यास ने वृत्तियों के प्रसंग में मन को चेतन समान बताया है—

'चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते'

(योग० व्यासभाष्य १.५)

'तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते।'

अर्थात् उसी प्रकार मुक्तपुरुष=जीवित रहते हुए भी जो मुक्त हो गया हो, उसे जीवनमुक्त कहते हैं। ऐसे जीवनमुक्त आत्मा से जुड़ कर मन जीवनमुक्त आत्मा जैसा बन जाता है। जीवनमुक्त आत्मा जैसा बन कर जीवनमुक्त आत्मा का दर्शन कराता है। अभिप्राय यह है कि कोई योगी स्वयं को जीवनमुक्त बताता हो, तो दूसरे योगी अपने मन का विषय उस जीवनमुक्त आत्मा को बना सकते हैं। वह योगी वास्तव में जीवनमुक्त है या नहीं? यह ऐसा करने से स्पष्ट हो जाता है। यह योगी जीवनमुक्त है, क्योंकि उसकी आत्मा शोक से-क्लेशों से-अविद्या से रहित है, निर्लिप्त है, ऐसा प्रतीत हो जाता है।

ग्राह्य-पदार्थों, ग्रहण-इन्द्रियों, ग्रहीतृ-आत्मा की दर्शन प्रक्रिया को बताकर महर्षि उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

'तदेवमभिजातमणिकल्पस्य **चेतसो** ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रिय-**भूतेषु या** तत्स्थतदञ्जनता **तेषु** स्थितस्य तदाकारापत्तिः **सा समापत्ति-रित्युच्यते।**'

अर्थात् बिलकुल अभी-अभी उत्पन्न अर्थात् नये बिल्लोर पत्थर के समान यह जो मन है, वह मन आत्मा, इन्द्रियों, भूतों=महाभूतों व तन्मात्राओं के साथ जुड़ कर मानो उन्हीं जैसा बन कर उन्हीं की तरह दिखता है। यही 'तदाकारापत्ति' है अर्थात् उसी के समान प्रतीत होना, इसे 'समापत्तिः' शब्द से भी कहते हैं। **तत्स्थ**= सामने वाले पदार्थ से जुड़ना। **तदञ्जनता**=जुड़ कर उसी पदार्थ जैसा प्रतीत होना। इसी '**तत्स्थतदञ्जनता**' को '**तेषु स्थितस्य** तदाकारापत्तिः' कहा है और इसी 'तत्स्थतदञ्जनता' व '**तेषु स्थितस्य** तदाकारापत्तिः को 'समापत्तिः' कहते हैं।

❖❖❖❖❖

सवितर्का-समापत्ति

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

पूर्व सूत्र (क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव......समापत्तिः १.४१) में स्थिर हुए या एकाग्र हुए मन की समापत्ति की चर्चा करते हुए समापत्ति के स्वरूप का कथन किया है और समापत्ति किस-किस विषय वाली होती है, उसकी भी चर्चा की है। जैसा कि पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट किया गया था कि समापत्ति का अभिप्राय समाधि है और वह समाधि भी संप्रज्ञात-समाधि है। समापत्ति चार प्रकार की होती है—सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा। प्रस्तुत सूत्र में सवितर्का-समापत्ति की चर्चा की जा रही है।

योगाभ्यासी योग के अंगों का अनुष्ठान (व्यवहार काल में) करता है। ईश्वर की अनन्य भक्ति अर्थात् ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है, तो योगाभ्यासी का मन एकाग्र होने लगता है। एकाग्र हो कर संसार को, स्वयं को और ईश्वर को यथार्थ रूप में समझ लेता है। उससे योगाभ्यासी को विवेक हो जाता है। विवेक होने पर त्याग करने योग्य को त्याग करता जाता

है और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करता जाता है। जब त्याज्य को पूर्ण रूप से त्याग करता है और ग्राह्य को पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, यह वैराग्य की स्थिति है। ऐसे वैराग्य को अपर (निचला) वैराग्य कहते हैं। जिसकी चर्चा '**दृष्टानुश्रविकविषय....... वैराग्यम्**' १.१५ सूत्र में की गई है। अपर-वैराग्य के होने पर संप्रज्ञात-समाधि लगती है। पहली बार योगाभ्यासी समाधि लगाता है, तो वह समाधि सवितर्का-समाधि होती है। उस सवितर्का-समाधि में योगी जिस वस्तु का साक्षात्कार करता है, वह किस प्रकार करता है अर्थात् वह साक्षात्कार किस रूप में होता है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान महर्षि पतञ्जलि इस सूत्र में करते हैं।

तत्र=योगाभ्यासी को जो संप्रज्ञात-समाधि लगती है, उस संप्रज्ञात-समाधि की प्रथम (सवितर्का) समाधि में। '**शब्दार्थ ज्ञानविकल्पैः**'=यहाँ साक्षात्कार होने वाली वस्तु का जो नाम (संज्ञा) है, उसे '**शब्द**' कहा गया है। साक्षात्कार होने वाली वस्तु को '**अर्थ**' कहा गया है। साक्षात्कार होने वाली वस्तु इस-इस प्रकार की है ऐसी जो जानकारी होती है, उस को यहाँ '**ज्ञान**' कहा गया है। नाम, अर्थ और ज्ञान ये तीन प्रकार हैं। प्रकार को '**विकल्प**' शब्द से कहा गया है। जिस समय योगी समाधि लगाता है, उस समय वह नाम, वस्तु और ज्ञान इन तीनों प्रकारों से युक्त होता है अर्थात् उसे नाम, वस्तु और ज्ञान इन तीनों का एक साथ साक्षात्कार हो रहा होता है। समाधि में इन तीनों प्रकारों का घुला-मिला स्वरूप होता है अर्थात् इन तीनों प्रकारों का एक साथ साक्षात्कार हो रहा होता है, इसे सूत्रकार ने '**संकीर्णा**' शब्द से प्रकट किया है।

इस प्रकार '**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः**' इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि संप्रज्ञात-समाधि के उन चारों भेदों में से प्रथम भेद वाली समाधि उसे कहते हैं, जिस समाधि के काल में योगी को साक्षात्करणीय वस्तु के नाम, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का एक साथ बोध होता है। एक साथ तीनों का बोध होने से इस समाधि का नाम '**सवितर्का समाधि**' है।

पाठकगण इस बात को अच्छी प्रकार समझ लें कि योगी उन वस्तुओं का साक्षात्कार समाधि में करता है जिनका प्रत्यक्ष पांचों ज्ञानेन्द्रियों से नहीं

होता है। अर्थात् सर्व साधारण (सांसारिक मनुष्य) ज्ञानेन्द्रियों से जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उनका प्रत्यक्ष योगी समाधि के काल में नहीं करता है। क्योंकि वे तो योगी को पहले से ही प्रत्यक्ष हैं और सब को प्रत्यक्ष होती हैं। जैसे सांसारिक मनुष्य उनका प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं, वैसे ही योगी भी उनका प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों से करता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होता है कि सांसारिक मनुष्य की अपेक्षा योगी अधिक स्पष्ट अनुभव करता है। इसमें कारण जानकारी का कम होना या अधिक होना बनता है। जैसे रोगी को अपने रोग का प्रत्यक्ष तो होता है, परन्तु डॉक्टर के जितना स्पष्ट बोध नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार लौकिक-वस्तुओं के प्रत्यक्ष में योगी और भोगी के प्रत्यक्ष में अन्तर होता है। योगी को संप्रज्ञात-समाधि तब लगती है जब वह योग के अंग 'प्रत्याहार' को सिद्ध कर लेता है। प्रत्याहार का अभिप्राय है दसों इन्द्रियों को रोके रखना अर्थात् रूप, रस आदि विषयों से हटाना। मन के समान इन्द्रियों को रोके रखना। इसलिए संप्रज्ञात-समाधि अबाह्य-प्रत्यक्ष वाली कहलाती है अर्थात् इसमें बाह्य-इन्द्रियों से न होने वाला प्रत्यक्ष होता है। इसे आन्तरिक-प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

योगी संप्रज्ञात-समाधि के प्रथम स्तर वाली सवितर्का-समाधि में किन वस्तुओं का साक्षात्कार करता है? इसका समाधान यह है कि योगी समाधि काल में पांच महाभूतों का साक्षात्कार करता है। उनमें भी सर्वप्रथम पृथिवी तत्त्व का साक्षात्कार करता है। यह पृथिवी वह पृथिवी नहीं है, जिसे योगी व भोगी सभी जन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते हैं। सभी जनों को दिखने वाली जो पृथिवी है, वह तो पांच महाभूतों को मिलाने पर बनी है। जिस प्रकार पांच महाभूतों को मिला कर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शरीर आदि बने हैं। उसी प्रकार यह जो सब जनों को दिखने वाली पृथिवी है, वह भी पांच महाभूतों को मिलाने पर बनी है। पांच महाभूतों में से जो एक महाभूत पृथिवी है, उसका साक्षात्कार योगी सवितर्का-समाधि में करता है। वह पृथिवी महाभूत इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। वह सूक्ष्म होता है इसलिए उसका मन से ही प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार पांच भूतों में से एक पृथिवी-महाभूत सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और आकाश महाभूत भी सूक्ष्म होते हैं, उनका प्रत्यक्ष भी मन से ही होता है। प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रियों से

प्रत्यक्ष होने वाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु के फिर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु नाम क्यों रखे गये हैं? इसका समाधान यह है कि समानता अर्थात् दोनों में गुणों की समानता है तथा उस-उस महाभूत की इनमें प्रधानता है, इसलिए इनके नाम भी पंचभूतों के नामानुसार रख दिये हैं।

योगी पहले संप्रज्ञात-समाधि के प्रथम स्तर वाली सवितर्का-समाधि लगाता है। उसमें पृथिवी का साक्षात्कार करता है। वह साक्षात्कार किस रूप में करता है। इसका उदाहरण लोक में इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष का ही दे सकते हैं। क्योंकि संप्रज्ञात-समाधि तो साध्य=सिद्ध (व्याख्या) करने योग्य है। इसलिए साध्य (व्याख्येय) को उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसी कारण महर्षि वेदव्यास सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'तद्यथा गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्'

अर्थात् उदाहरण के लिए कोई अनजान व्यक्ति पहली बार किसी वस्तु को देखता है, तो क्या अनुभव करता है? उदाहरण गाय है- **'गौरितिशब्दः'**= अच्छा इसका नाम गाय है। यहाँ 'गौ' शब्द नाम को कहने के लिए आया है। **'गौरित्यर्थः'**= अच्छा यह गाय है। यहाँ 'गौ' शब्द वस्तु को कहने के लिए आया है। **'गौरिति ज्ञानम्'**= अच्छा इस-इस स्वरूप वाली गाय है। यहाँ 'गौ' शब्द बोध (जानकारी) को कहने के लिए आया है। **'इत्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम्'** अर्थात् इस प्रकार नाम, अर्थ और ज्ञान अलग-अलग होते हुए भी एक साथ (मानो अलग न होते हुए) जाने जाते हुए दिखाई देते हैं। **'विभज्यमानाश्च'**= और यदि नाम, अर्थ व ज्ञान इन तीनों को अलग-अलग अनुभव किया जाये तो **'अन्ये शब्दधर्माः'**= 'गौ' यह जो नाम है इसकी विशेषताएँ अलग हैं। यहाँ शब्द की विशेषता को धर्म कहा गया है शब्द की क्या विशेषता है? उच्च ध्वनि, मध्यम ध्वनि, निम्न ध्वनि अर्थात् उदात्त, स्वरित व अनुदात्त। शब्द की यह भी विशेषता है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के रूप में भी ध्वनित होता है। ये शब्द के धर्म कहलाते हैं। **'अन्येऽर्थधर्माः'**=यह जो 'गौ' रूपी अर्थ (वस्तु) है, इसके धर्म अलग हैं। यथा- चार पाँव हैं, गल-कम्बल है (गले के नीचे जो कम्बल की तरह

लटकता है उसे गल-कम्बल कहते हैं), सींग हैं, पीठ के ऊपर उठा हुआ भाग है इत्यादि अनेक विशेषताएँ गाय में होती हैं। इन सब को वस्तु के धर्म कहा गया है। **'अन्ये ज्ञानधर्माः'**=ज्ञान की विशेषताएँ भी अलग हैं यथा-वस्तु को जनाने का धर्म, मन से गृहीत होना, अमूर्त होना आदि। इस प्रकार अमूर्त आदि धर्म ज्ञान के हैं। **'इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः'**=इस प्रकार नाम, अर्थ व ज्ञान इन तीनों का अलग-अलग अस्तित्व है। **'तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः'**=उन गाय आदि वस्तुओं में योगी अपने मन को एकाग्र कर गाय आदि वस्तुओं के ज्ञान को **'समाधिप्रज्ञायां समारूढः'**= अपने एकाग्र मन में अनुभव करता है।

'स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते।'

अर्थात् यदि वह अनुभव नाम, अर्थ व ज्ञान इन तीनों प्रकारों से युक्त होता है, तो उस संकीर्णा-समापत्ति को सवितर्का-समापत्ति कहते हैं।

महर्षि वेदव्यास ने भाष्य में गाय आदि पदार्थों को समाधि-प्रज्ञा में समारूढ़ होते हैं, ऐसा लिखा है। यहाँ पर समाधि-प्रज्ञा का अभिप्राय संप्रज्ञात-समाधि वाली प्रज्ञा नहीं लेनी चाहिए। क्योंकि उदाहरण लौकिक का दिया है, इसलिए समाधि-प्रज्ञा भी लौकिक है। यहाँ कोई यह न समझ ले कि लौकिक-अवस्था में समाधि नहीं होती है। जैसा कि योगदर्शन के प्रथम सूत्र (**अथ योगानुशासनम्**) के भाष्य में महर्षि वेदव्यास ने मन की पांचों अवस्थाओं में समाधि को स्वीकार किया है। परन्तु सभी समाधियों को योग स्वीकार नहीं किया है। केवल मन की एकाग्र-अवस्था और निरुद्ध-अवस्था को ही योग माना है। इस कारण यहाँ प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में आये **'समाधिप्रज्ञायां समारूढ़ः'** से योग वाली समाधि को न लेकर योग-भिन्न अवस्था वाली समाधि को लेना चाहिए। ऐसा लेने पर ही गाय आदि पदार्थ समाधि-प्रज्ञा में समारूढ़ हो पाते हैं। गाय आदि स्थूल-पदार्थ संप्रज्ञात-समाधि के विषय नहीं हैं।

महर्षि वेदव्यास ने संप्रज्ञात-समाधि को समझाने के लिए गाय आदि पदार्थों का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति गाय को देखता है, तो उसे **'गौ'** के नाम, अर्थ व ज्ञान इन तीनों का एक साथ घुला-मिला बोध

होता है। जैसे लोक में व्यक्ति गाय आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करते समय नाम, अर्थ व ज्ञान तीनों का एक साथ अनुभव करते हैं, उसी प्रकार योगी संप्रज्ञात-समाधि में पृथिवी, जल आदि पदार्थों का अनुभव करता है तो नाम, अर्थ व ज्ञान इन तीनों का एक साथ अनुभव करता है। ऐसा बताना ही प्रस्तुत सूत्र के भाष्य का अभिप्राय है।

❖❖❖❖

निर्वितर्का-समापत्ति

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

पूर्व सूत्र (**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः......**) में यह कहा गया था कि योगाभ्यासी पहली बार समाधि लगाता है, तो उसे नाम, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान इन तीनों का एक साथ साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार करना ही अपने-आप में बहुत बड़ा श्रेष्ठ कार्य है। एक बार समाधि लगा कर योगी उसे छोड़ता नहीं है, क्योंकि यह साक्षात्कार बाह्य-इन्द्रियों से नहीं होता। ऐसे अलौकिक-प्रत्यक्ष को योगी बार-बार प्रत्यक्ष कर-करके सुदृढ़ बना लेता है। सुदृढ़ बनी हुई समाधि की अनुभूति किस प्रकार की होती है? इस प्रश्न का समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिया है।

भाष्यकार महर्षि वेदव्यास ने सूत्र की व्याख्या करने से पूर्व भूमिका के रूप में सूत्र का सारांश प्रस्तुत किया है। ऋषि लिखते हैं—

'यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञान-विकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायाम्'

अर्थात् जब योगी बार-बार समाधि लगा-लगाकर प्रत्यक्ष को सुदृढ़ कर लेता है। तब समाधि काल में योगी जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करता है, उस वस्तु का नाम मन में दोहराता नहीं है कि इस वस्तु को इस नाम से पुकारते हैं। उस वस्तु के नाम की स्मृति भी मन में नहीं लाता है। उस वस्तु के विषय में शब्द-प्रमाण से और अनुमान-प्रमाण से जो जानकारी प्राप्त की थी उसका भी स्मरण नहीं करता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु

'स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते'

अर्थात् जो जिस स्वरूप में विद्यमान है (वस्तु के साथ न नाम जुड़ा हुआ है, न पूर्व प्राप्त ज्ञान जुड़ा हुआ है) उसे उसी रूप में प्रत्यक्ष करता है। अर्थात् समाधि में योगी को वस्तु के केवल स्वरूप का ही साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार काल में उस वस्तु का यह नाम है और इस वस्तु के बारे में शास्त्र में इस-इस प्रकार कहा है, ऐसा ज्ञान भी नहीं रहता है। केवल-केवल वस्तु के स्वरूप का ही दर्शन होता है। ऐसे दर्शन को महर्षि लिखते हैं कि '**तत्परं** प्रत्यक्षम्' अर्थात् वह जो वस्तु मात्र का प्रत्यक्ष हो रहा है, वह उत्कृष्ट प्रत्यक्ष है। '**तच्च** श्रुतानुमानयोर्बीजम्' अर्थात् वह जो उत्कृष्ट प्रत्यक्ष है, वह शाब्दिक और आनुमानिक ज्ञान का आधार है। क्योंकि '**ततः** श्रुतानुमाने **प्रभवतः**'=उसी प्रत्यक्ष के आधार पर शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण कार्य करने में समर्थ होते हैं। '**न च** श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्' अर्थात् समाधि काल में वह जो वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है, उस प्रत्यक्ष काल में शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण का ज्ञान नहीं रहता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष काल में केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान ही रहता है।

'तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण **योगिनो**
निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति'

अर्थात् इसलिए योगी को जो प्रत्यक्ष हो रहा है, वह प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणों से असंकीर्ण (आप्तोपदेश, अनुमान आदि प्रमाणों से रहित) केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान वाला ही होता है। इस भूमिका का संक्षेप में यह अभिप्राय है कि पूर्व सूत्र के प्रत्यक्ष में नाम, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान इन तीनों का बोध एक साथ होता है। प्रस्तुत सूत्र के प्रत्यक्ष में केवल अर्थ (वस्तु) का बोध होता है। यह ही दोनों में अन्तर है।

'निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः **सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते**'

अर्थात् प्रस्तुत सूत्र के द्वारा निर्वितर्का नामवाली समाधि (समापत्ति) का लक्षण बताया जाता है।

निर्वितर्का-समापत्ति का लक्षण करते हुए सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि '**स्मृतिपरिशुद्धौ**'=प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ के नाम (संज्ञा) की स्मृति और उसके शब्द-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाण से मिली जानकारी की स्मृति

से भी रहित होने पर, '**स्वरूपशून्य इव**'=मानो मन अपने स्वरूप से शून्य सा हो कर (चूंकि मन ही पदार्थों का साक्षात्कार कराता है) साक्षात्कार कराते हुए अपने-आपको गौण रखता है। योगी को केवल वस्तु मात्र का दर्शन होता है, मन का बोध दब जाता है। इसीलिए मन को '**स्वरूपशून्य इव**' कहा है। '**अर्थमात्रनिर्भासा**'=साक्षात्कार कराने का साधन मन है, वह केवल पदार्थ मात्र का दर्शन या आभास कराता है। इसी स्थिति को '**निर्वितर्का**'=निर्वितर्का-समाधि कहते हैं।

भाष्यकार महर्षि वेदव्यास सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ'

अर्थात् समाधि काल में प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ के नाम की स्मृति और उस से सम्बन्धित शाब्दिक-ज्ञान व आनुमानिक-ज्ञान की स्मृति मन में न आने पर '**ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा**'=दर्पण के समान स्वरूप वाला मन, प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ से जुड़कर '**स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा**' अर्थात् मन का स्वरूप यह है कि वह अन्य पदार्थों को साक्षात् कराता है। ऐसा मन पदार्थों का साक्षात् कराने वाले अपने स्वरूप को मानो छोड़कर '**पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति**' अर्थात् प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ जैसा बनकर पदार्थ का प्रत्यक्ष कराता है। '**सा तदा निर्वितर्का समापत्तिः**' अर्थात् जब मन प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ जैसा बन कर पदार्थ का प्रत्यक्ष कराता है तब उस समाधि को निर्वितर्का-समापत्ति कहते हैं।

'तथा च व्याख्यातम्'

अर्थात् कोई भी वस्तु जब प्रत्यक्ष होती है तब वह इकाई (एक वस्तु) के रूप में प्रत्यक्ष होती है। ऐसी ही अन्य आचार्यों के द्वारा व्याख्या की गई है। अन्य आचार्य इस रूप में व्याख्या करते हैं—

'तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो
ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः'

अर्थात् निर्वितर्का-समाधि में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। वह वस्तु एक वस्तु के रूप में प्रकट होती है। इसी को '**एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्मा**' कहा है अर्थात् एक ही बुद्धि (ज्ञान) को उत्पन्न करने वाला पदार्थ होता है। वह एक पदार्थ अणुओं का विशेष संघात होता है। अर्थात् अनेक अणुओं

को विशेष रूप से मिला कर बना हुआ पदार्थ है। महर्षि ने लोक का उदाहरण दिया है कि जैसे गाय, घोड़ा, ऊँट आदि और घड़ा, वस्त्र आदि। अर्थात् जिस प्रकार गाय, घोड़ा, घड़ा, वस्त्र एक वस्तु के रूप में दिखाई देते हैं, ठीक इसी प्रकार समाधि में भी योगी को पञ्च महाभूत (=पृथिवी, जल आदि) एक-एक वस्तु के रूप में दिखाई देते हैं। महर्षि ने गाय आदि और घड़ा आदि का उदाहरण देकर "एक वस्तु के रूप में दिखने वाली वस्तु 'अवयवी' है और वह अनेक अवयवों का संघात है" ऐसा दर्शाया है। ऋषि लिखते हैं—

'स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति।'

अर्थात् और वह एक वस्तु (जैसे घड़ा) संस्थान विशेष= अनेक अवयवों का संघटित रूप है। वस्तु की इकाई=एकत्व जो है, वह सभी सूक्ष्म अवयवों का समान रूप से धर्म है अर्थात् एकल रूप धर्म कुछ अवयवों का तो हो कुछ का न हो, ऐसा नहीं है। इसलिए एकत्व रूप धर्म सभी अवयवों का धर्म है। आत्मभूतः=एकत्व रूप में प्रकट हुई एक वस्तु उन सूक्ष्म अवयवों का ही स्वरूप है। 'फलेन व्यक्तेनानुमितः'=प्रकट रूप एकत्व फल से जो जाना जाता है वह अपने कारणों (अवयवों) से प्रकट होता है। तभी घड़ा उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा जाता है।

'धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरोभवति'

अर्थात् घड़े के कपाल रूप (=टुकड़ों रूप) भिन्न धर्म के प्रकट होने पर घड़ा रूप धर्म अप्रकट (=नष्ट) हो जाता है।

'स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते।'

अर्थात् वह यह घड़ा एकत्व रूप में आया है, इस एकत्व रूप में आये हुए धर्म को अवयवी कहते हैं। इस अवयवी का व्यवहार लोक में किस रूप में होता है, इसे बताते हुए ऋषि लिखते हैं—

'योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते।'

अर्थात् वह यह जो अवयवी है वह (जैसे घड़ा) एक है, बड़ा है, किसी की अपेक्षा से छोटा भी है, स्पर्शवाला है, व्यवहार में लाने योग्य

क्रिया वाला भी है, नष्ट होने वाला होने से अनित्य भी है। इस प्रकार से उस अवयवी के द्वारा लोक में व्यवहार होता है।

कुछ लोग अवयवी (एकत्व) को स्वीकार नहीं करते हैं। वे मानते हैं कि सब कुछ अवयवों के रूप में ही रहता है। ऐसा मानने वालों के मत में दोष दिखाते हुए महर्षि लिखते हैं कि '**यस्य** पुनरवस्तुकः'=जिसके मत में अवयवी नहीं है उसके मत में '**स** प्रचयविशेषः'=वह अवयव-समुदाय है और वह '**सूक्ष्मं च**'=सूक्ष्म होता है व 'कारणम्'=कारण रूप होता है इसलिए 'अनुपलभ्यम्'=उपलब्ध=इन्द्रियों से अनुभव में नहीं आता है।

'अविकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति **प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं** मिथ्याज्ञानमिति।'

अर्थात् उस अभिन्न एक अवयवी को न स्वीकार करने से यह माना जायेगा कि जो वस्तु जैसी है वैसी न मानने रूप मिथ्या-ज्ञान की उपस्थिति (=सिद्धि) हो जाती है। तब तो प्रायः सभी संसारस्थ पदार्थों का ज्ञान मिथ्या-ज्ञान को प्राप्त हो जायेगा। जब सब ज्ञान मिथ्याज्ञान को प्राप्त हो जायेगा। '**तदा च** सम्यग्ज्ञानमपि **किं** स्याद्विषयाभावात्।' अर्थात् तब यथार्थ-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) भी क्या हो पायेगा। क्योंकि कोई भी विषय अवयवी के रूप में उपलब्ध नहीं है। परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् लोक में जो भी व्यवहार होता है, वह व्यवहार अवयवों के रूप में न होकर अवयवी के रूप में ही होता है। इसलिए ऋषि लिखते हैं—

'यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेन**ऽऽम्नातम्**'

अर्थात् लोक में जो-जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, वह-वह अवयवी (एकत्व के) रूप में ही उपलब्ध होता है। ऐसा ही सभी प्रमाण स्वीकार करते हैं। ऐसा ही शास्त्र स्वीकार करता है।

निर्वितर्का-समाधि में केवल वस्तु का प्रत्यक्ष होता है नाम व ज्ञान दबे हुए रहते हैं। इस बात को समझाने के लिए गाय आदि व घड़ा आदि का उदाहरण देकर एक वस्तु (अवयवी) को समझा कर संप्रज्ञात-समाधि में प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों को भी अवयवी के रूप में सिद्ध किया है। संप्रज्ञात-समाधि में प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ अवयवी होते हुए भी बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। इसलिए लौकिक उदाहरण से समझाया गया है।

भाष्यकार महर्षि वेदव्यास सूत्र के भाष्य को पूर्ण करते हुए उपसंहार के रूप में लिखते हैं—

'तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयो भवति।'

अर्थात् यथार्थ ज्ञान से पदार्थों को देखने से पता लगता है कि एक अवयवी के रूप में एकत्व की सिद्धि होती है। जो कि बड़े या छोटे के रूप में व्यवहार में लाया जाता है। निर्वितर्का-समाधि में भी वस्तु अवयवी के रूप में विषय बन जाती है और अवयवी के रूप में उसका साक्षात्कार होता है। यह ही वास्तविक सिद्धान्त है।

❖❖❖❖

सविचारा व निर्विचारा-समापत्ति

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

पूर्व के दो सूत्रों में सवितर्का एवं निर्वितर्का समापत्तियों (समाधियों) की चर्चा की है और उन दोनों समाधियों के विषय स्थूलभूत (पंचमहाभूत) बताये गये हैं, जिनका साक्षात्कार योगी करता है। प्रस्तुत सूत्र सविचारा एवं निर्विचारा समाधियों की चर्चा करता है। इन दोनों समाधियों का विषय सूक्ष्म-पदार्थ हैं। यहाँ पर सूक्ष्म-पदार्थों में पंचतन्मात्राओं से लेकर सत्त्व, रज तथा तम तक सभी पदार्थों का ग्रहण होता है। पांच तन्मात्राएँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि (=महत्तत्त्व) और सत्त्व, रज, तम ये सभी पदार्थ सूक्ष्म हैं। सूत्र में आये **'सूक्ष्म'** पद से तन्मात्राओं से लेकर सत्त्व, रज, तम तक सभी पदार्थ गृहीत होते हैं। इन सभी सूक्ष्म-पदार्थों का साक्षात्कार सविचारा एवं निर्विचारा समाधियों में होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने **'एतयैव'** पद से पिछले सूत्र में आयी निर्वितर्का समापत्ति को ग्रहण किया है। अर्थात् जिस प्रकार से निर्वितर्का समापत्ति में नाम (शब्द), वस्तु व ज्ञान रूप विकल्प नहीं रहते। उसी प्रकार सविचारा व निर्विचारा समापत्ति में भी नाम (शब्द), वस्तु व ज्ञान रूप विकल्प नहीं

होते, इनसे रहित वस्तु मात्र का दर्शन होता है। '**व्याख्याता**'= व्याख्या कर दी गई है ऐसा समझ लेना चाहिए। पिछले दो सूत्रों में और प्रस्तुत सूत्र में अन्तर बताने वाला पद '**सूक्ष्मविषया**' है। जो यह स्पष्ट करता है कि पिछली दो समापत्तियों में स्थूल-पदार्थ विषय बनते हैं और प्रस्तुत सविचारा-निर्विचारा समापत्ति में सूक्ष्म-पदार्थ विषय बनते हैं। इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ '**एतयैव**'=पूर्व के सूत्र में कही हुई निर्वितर्का-समापत्ति के समान '**सूक्ष्म-विषया**'=सूक्ष्म-पदार्थों को विषय बनाने वाली '**सविचारा निर्विचारा च**'=सविचार व निर्विचार समाधियों की भी '**व्याख्याता**'=व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते।'

अर्थात् उन दोनों समाधियों (=सविचारा व निर्विचारा समाधियों) में से जो सविचारा-समाधि है, उस समाधि में सूक्ष्म-भूतों (तन्मात्राओं) का दर्शन होता है। उस दर्शन में प्रकट (=अभिव्यक्त) धर्म (=गुण) वाले सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार होता है। उन सूक्ष्मभूतों के साक्षात्कार के साथ-साथ योगी को उनके स्थान (देश) की अनुभूति, व जिस काल (समय) में दर्शन हो रहा है उस काल की अनुभूति, और जिस साधन (निमित्त) से सूक्ष्मभूतों का दर्शन करता है, उस साधन (मन) की अनुभूति भी होती है। यहाँ पर नाम, वस्तु, ज्ञान के साथ-साथ स्थान, समय और मन का बोध एक साथ हो रहा होता है। ऐसी समाधि को 'सविचारा' समाधि कहते हैं। उपरोक्त संस्कृत वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार लेना चाहिए कि प्रकट धर्मों वाले सूक्ष्मभूतों में उनके स्थान, समय व साधन से युक्त जो समापत्ति लगती है, उसे सविचारा-समापत्ति कहते हैं।

इस सूत्र में पूर्व कही गयी निर्वितर्का-समाधि में जो पंचभूतों का प्रत्यक्ष होता है वह एक वस्तु (इकाई) के रूप में होता है, जिसे अवयवी कहते हैं। वह प्रत्यक्ष-ज्ञान अवयवों के समुदाय रूप का नहीं होता है। एक वस्तु (इकाई) का व्यवहार लोक में पर्याप्त होता है, अवयवों का झुण्ड सूक्ष्म होने से उसका लोक में व्यवहार नहीं होता, ऐसा प्रतिपादित किया गया था।

ठीक इसी प्रकार यहाँ प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि यहाँ पर भी सविचारा नाम वाली समाधि में जो सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं) आदि का साक्षात्कार होता है। वह भी **'तत्राप्येकबुद्धि-निर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते।'** अर्थात् यहाँ पर समाधि-काल में आलम्बन (आश्रय) बने सूक्ष्मभूत चूंकि अपने-अपने विशिष्ट गन्धत्व, रसत्व आदि विशेष धर्मों से युक्त होते हैं, इसलिए अपने-अपने विशेष धर्मों से उदित (प्रकट) होकर एक वस्तु (अवयवी) के रूप में समाधि में प्रत्यक्ष होते हैं। अवयवों के रूप में (समुदाय के रूप में) प्रकट नहीं होते।

'या पुनः सर्वथा सर्वतः' और फिर जो सब प्रकार से व सब ओर से 'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु' अर्थात् शान्त-भूत, उदित-वर्तमान और अव्यपदेश्य-भविष्य में होने वाले सभी धर्मों से अनवछिन्न-मिश्रित-युक्त तथा 'सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु' अर्थात् सभी कार्य रूप धर्मों में उपस्थित रहने वाले, सभी कार्य रूप धर्मों के कारण रूप सूक्ष्म-भूतों में 'समापत्तिः'=जो समाधि होती है **'सा निर्विचारेत्युच्यते'**=उसे निर्विचार-समाधि कहते हैं। **'एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मम्'** अर्थात् सूक्ष्म-भूतों का यह ही स्वरूप है, जो ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है।

'एतेनैव स्वरूपेणाऽऽलम्बनीभूतमेव समाधिप्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति।'

अर्थात् सूक्ष्मभूतों का जो स्वरूप ऊपर की पंक्तियों में कह आये हैं, वह उसी स्वरूप से आलम्बन=आश्रय बन कर समाधि-काल में प्रत्यक्ष कराता है। यहाँ पर प्रत्यक्ष कराने वाला मन है। यहाँ पर मन को 'प्रज्ञा' शब्द से कहा गया है क्योंकि वह प्रज्ञा का साधन है। बिना मन के प्रज्ञा की उपलब्धि नहीं हो सकती। यहाँ ज्ञान के कारण मन को ही 'प्रज्ञा' शब्द से कथन किया गया है।

'प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते।'

अर्थात् और जब समाधिकाल में मन अपने स्वरूप से मानो शून्य हो गया हो (अर्थात् गौण हो गया हो), केवल अर्थ=वस्तु (सूक्ष्मभूत आदि) से युक्त होता है, अर्थात् केवल वस्तु का ही प्रत्यक्ष कराता है। वहाँ पर नाम, ज्ञान, स्थान, समय, निमित्त ये सब गौण हो जाते हैं=दबे हुए रहते हैं। आत्मा

को केवल अर्थ=वस्तु-मात्र का ही दर्शन होता है। ऐसी समाधि का नाम निर्विचारा-समाधि है।

'तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च'

अर्थात् उस संप्रज्ञात-समाधि में होने वाले प्रत्यक्षों में महद्=स्थूल विषय वाली जो समाधियाँ हैं, उन्हें सवितर्का और निर्वितर्का नाम से कहा जाता है। यहाँ पर '**महद्**' शब्द से स्थूल-भूतों का ग्रहण है, जिन्हें पञ्चमहाभूत कहते हैं।

'सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च।'

अर्थात् और जो सूक्ष्म-वस्तु विषय वाली समाधियाँ हैं, उन्हें सविचारा और निर्विचारा कहते हैं। यहाँ सूक्ष्म-वस्तु से सूक्ष्मभूत=तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, महत्तत्त्व रूपी बुद्धि, सत्त्व, रज, तम को ग्रहण करने के साथ-साथ जीवात्मा को भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि जीवात्मा का साक्षात्कार संप्रज्ञात में ही हो जाता है।

'एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्यातेति।'

अर्थात् इस प्रकार पूर्वोक्त सूत्र में कही गयी निर्वितर्का समापत्ति के अनुसार ही इस प्रस्तुत सूत्र में कही गयी दोनों (सविचारा एवं निर्विचारा) समापत्तियों की व्याख्या विकल्पों से रहित समझनी चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार निर्वितर्का-समापत्ति में केवल वस्तु का साक्षात्कार होता है, ऐसा कहा गया है। उसी प्रकार इन सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों में भी नाम, अर्थ (वस्तु), ज्ञान रूपी विकल्पों=भेदों से रहित केवल वस्तु का ही साक्षात्कार होता है। विकल्पहानि का यही अभिप्राय लेना चाहिए।

पूर्वसूत्र में और प्रस्तुत सूत्र में एक विशेष बात यह कही गई है कि जिसका भी प्रत्यक्ष होता है चाहे स्थूल-भूतों का, चाहे सूक्ष्म-पदार्थों का, प्रत्येक वस्तु इकाई (एक वस्तु) के रूप में ही प्रत्यक्ष होती है, अवयवों के समुदाय विशेष के रूप में प्रत्यक्ष नहीं होती है। जब सत्त्व, रज, तम का भी प्रत्यक्ष होता है तब भी योगी सत्त्व आदि को इकाई के रूप में (एक वस्तु के रूप में) ही प्रत्यक्ष करता है। हाँ, सत्त्व अनेक हैं। परन्तु एक सत्त्व एक इकाई के रूप में ही होगा। उसके तो अवयव ही नहीं हो सकते। इसलिए

इकाई के रूप में ही प्रत्यक्ष होता है। योगी कार्य-द्रव्यों को अवयवी के रूप में प्रत्यक्ष करता है।

❖❖❖❖❖

प्राकृतिक पदार्थों की सूक्ष्मता की अंतिम सीमा

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ ४५॥

पूर्व सूत्र में यह कहा गया है कि सविचारा एवं निर्विचारा नाम वाली समाधियाँ सूक्ष्म-विषय वाली होती हैं। प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि वस्तुओं की सूक्ष्मता की सीमा क्या है? अर्थात् कौन-कौन सी वस्तुएँ सूक्ष्म होती हैं? कौन-सी वस्तु किससे अधिक सूक्ष्म होती है और इस सूक्ष्मता का अन्त (समाप्ति) या सीमा कहाँ तक है? इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र है।

सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिए कि '**सूक्ष्म**' किसे कहते हैं? अर्थात् सूक्ष्म शब्द का क्या अर्थ है? इस संदर्भ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'उणादिकोश' में सूक्ष्म शब्द का निर्वचन किया है—

'सूचयति **पैशुन्यं** करोतीति **सूक्ष्मम्, अत्यल्पं वा**'

अर्थात् जो न्यूनता को दिखाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं अथवा जो थोड़ा है उसे सूक्ष्म कहते हैं। यहाँ पर न्यूनता व थोड़ा में दो अर्थ सूक्ष्म शब्द के दर्शाये हैं, चाहे न्यूनता कहो, चाहे थोड़ा कहो इनका एक अभिप्राय 'स्थान' की दृष्टि से है और दूसरा 'ज्ञान' की दृष्टि से है। स्थान की दृष्टि से सूक्ष्मता इस प्रकार समझनी चाहिए कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड कार्य-पदार्थ (उत्पन्न पदार्थ) है। उत्पन्न-पदार्थ कारण-पदार्थ की अपेक्षा अधिक स्थान (अवकाश) घेरता है। कौन-सा पदार्थ कितना स्थान घेरता है इसे समझने के लिए 'परिमाण' शब्द का प्रयोग करते हैं। जो पदार्थ न्यून या थोड़ा स्थान घेरता है, उसे अल्प परिमाण वाला कहा जाता है और जो पदार्थ अधिक स्थान घेरता है, उसे महत् परिमाण वाला कहा जाता है। महत् परिमाण वाले पदार्थ की

अपेक्षा अल्प परिमाण वाले पदार्थ को सूक्ष्म-पदार्थ कहते हैं।

सूक्ष्मता का दूसरा अभिप्राय ज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार समझना चाहिए कि कोई पदार्थ थोड़ी-सी जानकारी से समझ में आता है, कोई पदार्थ थोड़ी अधिक जानकारी से समझ में आता है और कोई पदार्थ अत्यधिक जानकारी से समझ में आता है। उदाहरण के लिए घड़ा कैसे बनता है, इसे समझने के लिए ज्ञान चाहिए, पंखे की मोटर को समझने के लिए भी ज्ञान चाहिए और सॉफ्टवेयर को समझने के लिए भी ज्ञान चाहिए। परन्तु तीनों के ज्ञान में अन्तर है। इसी प्रकार संसार को समझने के लिए ज्ञान चाहिए, जीवात्मा को समझने के लिए भी ज्ञान चाहिए और परमात्मा को समझने के लिए भी ज्ञान चाहिए। परन्तु ईश्वर को समझने के लिए सबसे अधिक ज्ञान चाहिए और वह भी बड़ी कठिनाई से जाना जाता है। जो पदार्थ अधिक ज्ञान से व कठिनाई से जाना जाता है, उस पदार्थ का सूक्ष्म शब्द से व्यवहार करते हैं। जैसे कि परमात्मा को कहा जाता है कि परमात्मा बहुत सूक्ष्म है अर्थात् सब से सूक्ष्म है। उपनिषदादि शास्त्रों में परमात्मा को अतिसूक्ष्म कहा गया है। परमात्मा स्थान की दृष्टि से तो सूक्ष्म नहीं है। क्योंकि वह महत् परिमाण वाला है, विभू है। परमात्मा से रिक्त कोई स्थान नहीं है, परमात्मा सब जगह (स्थान में) व्याप्त है। इसलिए परमात्मा की सूक्ष्मता स्थान की दृष्टि से नहीं है। फिर एक ही मार्ग बचता है वह है ज्ञान की दृष्टि से सूक्ष्मता। हाँ, यदि कोई परमात्मा को इस रूप में कहे कि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में भी परमात्मा विद्यमान है, इसी कारण स्थान के उपचार (लक्षणा) से ईश्वर को सूक्ष्म कहें, तो कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु उसे गौण प्रयोग कहते हैं, मुख्य प्रयोग नहीं। '**सूक्ष्म**' शब्द का सार यह निकला कि सूक्ष्मता स्थान की दृष्टि से भी होती है और ज्ञान की दृष्टि से भी होती है।

प्रस्तुत सूत्र में स्थान की दृष्टि से सूक्ष्मता कही जा रही है। संप्रज्ञात की चार समाधियों में से सवितर्का और निर्वितर्का समाधियों का विषय स्थूल पदार्थ (पञ्चमहाभूत) हैं और सविचारा व निर्विचारा समाधियों का विषय सूक्ष्म पदार्थ हैं। परमपिता परमेश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति सत्त्व, रज, तम से की है। निर्माण की प्रक्रिया में पञ्चमहाभूत अन्तिम पदार्थ माने जाते हैं। यह अलग बात है कि पांचों भूतों को मिला कर सूर्य, चन्द्र, शरीरादि का निर्माण

हुआ है। इसलिए सूक्ष्मता प्रारम्भ होती है पञ्चमहाभूतों के कारणों अर्थात् पञ्च तन्मात्राओं से। ये पञ्च तन्मात्राएँ सूक्ष्म-विषय हैं, पञ्च तन्मात्राओं से सूक्ष्मता प्रारम्भ होती है और यह सूक्ष्मता कहाँ तक जाती है, इस बात को समझाने के लिए '**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**' सूत्र है।

महर्षि वेदव्यास सूक्ष्मता को समझाते हुए लिखते हैं—

'**पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः।**'

अर्थात् पृथिवी का जो एक अणु है, उस अणु का जो कारण गन्धतन्मात्रा है, वह गन्धतन्मात्रा पृथिवी के अणु की अपेक्षा सूक्ष्म है। जैसा कि पूर्व में लिखा है कि कार्य की अपेक्षा कारण सूक्ष्म होता है क्योंकि कार्य अधिक स्थान घेरता है और कारण अल्प स्थान घेरता है, इसलिए कारण सूक्ष्म होता है। इसी प्रकार '**आप्यस्य रसतन्मात्रम्**' अर्थात् जल का जो अणु है, उस अणु का जो कारण रसतन्मात्रा है, वह जल के अणु की अपेक्षा सूक्ष्म है। '**तैजसस्य रूपतन्मात्रम्**' अर्थात् अग्नि का जो अणु है, उस अणु का जो कारण रूपतन्मात्रा है, वह अग्नि के अणु की अपेक्षा सूक्ष्म है। '**वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्**' अर्थात् वायु का जो अणु है, उस अणु का जो कारण स्पर्श-तन्मात्रा है, वह वायु के अणु की अपेक्षा सूक्ष्म है। '**आकाशस्य शब्द-तन्मात्रमिति**' अर्थात् आकाश का जो अणु है, उस अणु का जो कारण शब्दतन्मात्रा है, वह आकाश के अणु की अपेक्षा सूक्ष्म है।

तन्मात्राएँ भी किसी की अपेक्षा कार्य-पदार्थ हैं, इसलिए उनका भी कारण होना चाहिए और वह कौन-सा कारण है? ऋषि लिखते हैं कि '**तेषामहंकारः**' अर्थात् उन तन्मात्राओं का जो कारण अहंकार है, वह तन्मात्राओं की अपेक्षा सूक्ष्म है। वह अहंकार भी किसी का कार्य है, उसके कारण को बताते हुए महर्षि लिखते हैं—'**अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः**' अर्थात् इस अहंकार का जो कारण लिङ्ग स्वरूप महत्तत्त्व है, वह अहंकार की अपेक्षा सूक्ष्म है। यहाँ पर महत्तत्त्व (बुद्धि) को लिङ्ग शब्द से कथन किया है, '**लिङ्ग**' इसलिए कहते हैं '**यद् लयं गच्छति तद् लिङ्गम्**' अर्थात् जो वस्तु कारण में विलीन होती (मिल जाती) है, उसे लिङ्ग कहते हैं। कोई यह न समझे कि फिर तो अन्यों को भी लिङ्ग कहना चाहिए, क्योंकि वे भी अपने-अपने कारण में लीन होती हैं। यह बात ठीक है कि अन्यों को

भी कह सकते हैं, परन्तु नहीं कहेंगे। क्योंकि महत्तत्त्व (बुद्धि) ही अन्तिम मूल-कारण सत्व-रज-तम में विलीन होती है, अन्य नहीं। और ऐसा कहने पर लोक में व्यवहार नहीं हो पायेगा। इसलिए कुछ शब्दों का प्रयोग रूढ़ि में किया जाता है। जैसे पंकज का प्रयोग लोक में कमल के लिए करते हैं। ऐसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिए।

आगे महर्षि लिखते हैं कि लिङ्ग का भी कोई कारण है, वह है—

'लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं **सूक्ष्मो विषयः**।'

अर्थात् महत्तत्त्व रूपी लिङ्ग का जो कारण अलिङ्ग है, वह लिङ्ग की अपेक्षा सूक्ष्म है। यहाँ पर अलिङ्ग का तात्पर्य सत्त्व, रज, तम हैं। सत्त्व, रज, तम को अलिङ्ग इसलिए कहते हैं कि वह किसी में लीन नहीं होता है। वह स्वयं कारण है अर्थात् अन्तिम कारण है। अन्तिम कारण का कोई कारण नहीं होता है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक कारण का कारण नहीं होता है। यदि प्रत्येक कारण का कारण होने लगे, तो व्यवहार भी नहीं चलता क्योंकि कारण के कारण को समझना कभी समाप्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में करने योग्य अन्य व्यवहार नहीं कर पायेंगे।

महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि '**न चालिङ्गात् परं सूक्ष्ममस्ति**' अर्थात् सत्त्व, रज, तम रूपी अलिङ्ग से सूक्ष्म और कोई पदार्थ नहीं है। इस पर आक्षेपकर्ता कहता है कि '**नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति।**' अर्थात् सत्त्व, रज, तम से सूक्ष्म-पदार्थ 'पुरुष' है। तो महर्षि स्वीकार करते हैं- '**सत्यम्**' अर्थात् आपकी बात बिलकुल ठीक है। परन्तु स्पष्टीकरण भी करते हैं कि पुरुष की सूक्ष्मता कार्य-कारण सम्बन्ध से नहीं है। इस बात को समझाने के लिए आगे ऋषि लिखते हैं—

'**यथा** लिङ्गात्परमलिङ्गस्य **सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य।**'

अर्थात् जिस प्रकार महत्तत्त्वरूपी कार्य-पदार्थ की अपेक्षा सत्त्व, रज, तम रूपी कारण-पदार्थ की सूक्ष्मता है, ऐसी सूक्ष्मता पुरुष की नहीं है।

'**किन्तु** लिङ्गस्यान्वयिकारणं **पुरुषो न भवति।**'

अर्थात् वह पुरुष महत्तत्त्व रूपी लिङ्ग का उपादान-कारण नहीं है। यहाँ पर अन्वयी-कारण उपादान-कारण को कहता है। यद्यपि पुरुष उपादान-

कारण तो नहीं है परन्तु '**हेतुस्तु भवतीति।**' अर्थात् कारण अवश्य बनता है। अर्थात् महत्तत्त्व के उत्पन्न होने में कारण अवश्य बनता है। उपादान-कारण का खण्डन किया जा रहा है और कारण भी बताया जा रहा है, तो पुरुष को निमित्त-कारण समझना चाहिए। यहाँ प्रसंग के अनुसार पुरुष शब्द का अर्थ परमेश्वर ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि महत्तत्त्व का निमित्त-कारण परमेश्वर ही है। हाँ, यदि कोई यह कहे कि 'पुरुष' शब्द सामान्य अर्थ को बताने वाला है और वह सामान्य अर्थ 'जीवात्मा और परमात्मा' है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा का भी ग्रहण करें, तो जीवात्मा प्राणियों द्वारा निर्मित पदार्थों का निमित्त-कारण बनेगा। महत्तत्त्व का निमित्त-कारण कभी नहीं बनेगा।

महर्षि वेदव्यास भाष्य का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—

'अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम्।'

इसलिए प्रधान (सत्त्व, रज, तम) में सर्वाधिक सूक्ष्मता है, ऐसी व्याख्या समझनी चाहिए। सर्वाधिक सूक्ष्मता का अभिप्राय यह है कि यह ही अन्तिम सूक्ष्म है, इसके आगे और कोई सूक्ष्मता नहीं है। कारण की सूक्ष्मता सत्त्व, रज, तम पर्यन्त ही है। यहाँ सत्व, रज, तम को 'प्रधान' शब्द से कहा गया है। सत्त्व, रज, तम तीनों को सम्मिलित रूप से अव्यक्त, प्रकृति और स्वधा शब्दों से भी कथन किया जाता है।

'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्'

सूत्र का संक्षेप से यह अर्थ लेना चाहिए कि पञ्चमहाभूतों से सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ हैं, ऐसी सूक्ष्मता तन्मात्राओं से प्रारम्भ हो कर सत्त्व, रज, तम तक है। सत्त्व, रज, तम के आगे और कोई सूक्ष्मता नहीं है।

महर्षि के भाष्य में जो पुरुष की सूक्ष्मता कही गई है वह सूक्ष्मता ज्ञान की दृष्टि से लेनी चाहिए, जो प्रारम्भ में कह आये हैं।

❖❖❖❖

सबीज-समाधि

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

पूर्व के सूत्रों (**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः.......** से लेकर **एतयैव सविचारा......** तक) में सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा नामवाली चारों समाधियों की चर्चा की है। प्रस्तुत सूत्र उन चारों समाधियों को 'सबीज-समाधि' संज्ञा=नाम से कथन कर रहा है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि '**ताः**'=पूर्व कही गयीं वे चारों (सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा) समाधियाँ '**एव**'=ही '**सबीजः**'=बीज से युक्त '**समाधिः**'=समाधि है। अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि के चार भेद हैं और वे चारों भेद बीज से युक्त हैं।

सूत्र में आये '**बीज**' शब्द का क्या अर्थ लेना चाहिए? सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने बीज शब्द का क्या अर्थ (अभिप्राय) लिया होगा और भाष्यकार महर्षि वेदव्यास ने क्या अर्थ लिया होगा। यह सीधा-सीधा स्पष्ट नहीं है। परन्तु अब तक जितने भी टीकाकारों ने टीकाएँ लिखीं उनमें दो पक्ष सम्मुख आये हैं। **पहला पक्ष** यह है कि उन्होंने बीज का अर्थ '**कारण**' लिया है और वह कारण '**आश्रय**' के रूप में या कहें '**आधार**' के रूप में है।

यह जो संप्रज्ञात-समाधि प्राप्त होती है। यह मन के आश्रय से प्राप्त होती है मन के सहयोग के बिना संप्रज्ञात-समाधि नहीं लग सकती है। मन की एकाग्र-अवस्था में संप्रज्ञात-समाधि लगती है। संप्रज्ञात-समाधि के चारों भेदों में मन की एकाग्र-अवस्था बनी रहती है। मन की एकाग्र-अवस्था भी वृत्ति-स्वरूप है। यह कथन असंप्रज्ञात-समाधि की अपेक्षा से है। असंप्रज्ञात-समाधि को ध्यान में न रख कर केवल संप्रज्ञात-समाधि को देखा जाये तो वह एकाग्रावस्था वृत्ति-स्वरूप नहीं होगी। इसीलिए एकाग्र-अवस्था को योग स्वीकार किया गया है। यहाँ पर संप्रज्ञात में मन की एकाग्रता बनी रहती है। इसी एकाग्र-अवस्था वाले मन के आश्रय से संप्रज्ञात-समाधि में सभी विषयों का साक्षात्कार होता है। सम्प्रज्ञात की ये चारों समाधियाँ मन के माध्यम से होने वाली समाधियाँ हैं। सम्प्रज्ञात-समाधि में आत्मा अपने से भिन्न वस्तु (=मन) के आश्रय से=आधार से=कारण से=निमित्त से वस्तुओं का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार आश्रयवाली समाधि होने के कारण से इस संप्रज्ञात-

समाधि को सबीज-समाधि कहते हैं। इस पहले पक्ष का सार यह हुआ कि बीज का अर्थ आश्रय या आधार है और वह आश्रय मन है। टीकाकार इस आश्रय को आलम्बन शब्द से कहते हैं। महर्षि वेदव्यास संप्रज्ञात-समाधि को आलम्बन सहित मानते हैं। इसलिए वे व्यासभाष्य में संप्रज्ञात-समाधि को सालम्बन-समाधि लिखते हैं

टीकाकारों का **दूसरा पक्ष** यह है कि बीज का अर्थ '**अविद्या**' है। अविद्या का अभिप्राय मिथ्या-ज्ञान से है। यद्यपि संप्रज्ञात-समाधि विवेक-वैराग्य को प्राप्त करने पर लगती है। परन्तु अविद्या कारण रूप में=बीज रूप में विद्यमान रहती हैं। कभी भी अंकुरित हो सकती है। योगी बहुत बड़े पुरुषार्थ से समाधि को प्राप्त करता है। परन्तु सावधानी न रखे, तो कभी भी गिर सकता है। अर्थात् जो समाधि प्राप्त हुई है, वह समाधि पुनः हाथ से निकल सकती है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने संप्रज्ञात-समाधि प्राप्त योगी को सावधान किया है—

'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्'

(योग० ३.५१)

इस प्रकार अविद्या रूपी बीज से युक्त होने के कारण संप्रज्ञात-समाधि को सबीज-समाधि कहते हैं।

असंप्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि इसलिए कहते हैं कि उसमें अविद्या नहीं रहती है। असंप्रज्ञात-समाधि में अविद्या रहती है या नहीं रहती है। इसमें दो पक्ष हैं। एक पक्ष अविद्या को रहना स्वीकार करता है, उसके अपने हेतु हैं। दूसरा पक्ष अविद्या को न रहना स्वीकार करता है, उसके अपने हेतु हैं। जिस पक्ष में अविद्या को रहना स्वीकार किया जाता है उसका अभिप्राय यह है कि भले ही वृत्ति रूप में अविद्या न उठने पर ही असंप्रज्ञात-समाधि लगती है पर तब भी संस्कार-रूप में अविद्या रहती है। अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि अविद्या के संस्कार रूप में रहते हुए भी लगती है और असंप्रज्ञात-समाधि को लगा-लगा कर योगी अविद्या को पूर्ण अर्थात् संस्कार रूप से भी नष्ट करता है।

कुछ यह मानते हैं कि योगी संप्रज्ञात-समाधि की अन्तिम अवस्था में अविद्या को पूर्ण नष्ट करके ही असंप्रज्ञात-समाधि में प्रवेश करता है। इस

दृष्टि से असंप्रज्ञात-समाधि में यदि संस्कार रूप अविद्या नष्ट नहीं होती तो वह निर्बीज नहीं होगी। उस स्थिति में असंप्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कैसे मानें? इसका उत्तर यह है कि अविद्या भले ही संस्कार रूप में रहती हो तो भी योगी अपने को गिरने नहीं देता है और गिरने की संभावना भी नहीं है। क्योंकि वह पूरा प्रबन्ध कर लेता है, ऐसा महर्षि वेदव्यास ३.५१ के भाष्य में स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में अविद्या संस्कार रूप में रह कर भी कुछ नहीं कर सकती है, तो रह कर भी न रहने के समान है। इसलिए उस स्थिति को मोटे तौर पर निर्बीज कह सकते हैं। और यह भी है कि अन्ततोगत्वा असंप्रज्ञात-समधि की अन्तिम अवस्था में वह संस्काररूप अविद्या भी नष्ट हो ही जाती है और जीवन-मुक्त योगी जब तक शरीर नहीं छोड़ता तब तक असंप्रज्ञात-समाधि से युक्त रहता ही है। इस स्थिति को तो निर्बीज-समाधि कह ही सकते हैं। उस पक्ष में तो असंप्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कहने में कोई प्रश्न नहीं रहता।

सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'ताश्चतस्त्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा **इति** समाधिरपि **सबीजः।**'

अर्थात् वे ये चारों समाधियाँ बाह्य वस्तुबीजवाली हैं, इसलिए संप्रज्ञात-समधि को भी सबीज-समाधि कहते हैं। यहाँ पर भाष्यकार ने 'बाह्यवस्तु' शब्द का प्रयोग किया है। बाह्यवस्तु से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। वैसे तो बाह्य का अर्थ बाहर होता है। अन्दर-बाहर का प्रयोग अवयवों से निर्मित कार्य वस्तुओं में होता है। निरवयव अनिर्मित अकार्य वस्तुओं (आत्मा, परमात्मा) में अन्दर-बाहर का प्रयोग नहीं होता है। फिर भी यहाँ पर संप्रज्ञात-समाधि को बाह्य-समाधि कहा गया है, तो असंप्रज्ञात-समाधि अन्तः-समाधि कहलायेगी।

यहाँ पर बाहर-अन्दर शब्दों का मुख्य-अर्थ न लेकर गौण-अर्थ लेना चाहिए। जिस प्रकार से अष्टांग योग में पाञ्च अंगों को बहिरंग साधन माना है और धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग साधन माना है। धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरंग-साधन किस लक्ष्य के लिए हैं? संप्रज्ञात-समाधि के चार भेदों में से पहला भेद साधन है, दूसरा भेद लक्ष्य है। इसी प्रकार आगे दूसरा भेद साधन है, तो तीसरा भेद लक्ष्य है। तीसरा भेद साधन और चौथा भेद

लक्ष्य बनता है। फिर संप्रज्ञात-साधन और असंप्रज्ञात-लक्ष्य है। असंप्रज्ञात-साधन और मुक्ति (अपवर्ग) लक्ष्य बनेगा। यहाँ पर बहिरंग का अभिप्राय दूर वाले साधन और अन्तरंग का अभिप्राय निकट वाले साधन हैं, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ बहिः और अन्तः शब्दों का गौण-अर्थ दूर और निकट लिया है। ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत भाष्य में आये 'बहिः' शब्द का गौण-अर्थ 'दूर' लेना चाहिए। जिससे अन्तः-समाधि रूप असंप्रज्ञात-समाधि को 'निकट' अर्थ में ले लिया जायेगा। मुक्ति की अपेक्षा से संप्रज्ञात-समाधि बाह्य-वस्तु स्वरूप वाली है और असंप्रज्ञात-समाधि अन्तः-वस्तु स्वरूप वाली है अर्थात् दूर साधन और निकट साधन वाली है।

'तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति।'

अर्थात् उस इस संप्रज्ञात-समाधि के चारों भेदों में स्थूल-पदार्थों (पञ्चमहाभूतों) के साक्षात्कार में सवितर्का और निर्वितर्का समाधियाँ रहती हैं और सूक्ष्म-पदार्थों (पञ्चतन्मात्राओं, दसों इन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्व, सत्त्व, रजस्, तमस्, जीवात्मा) के साक्षात्कार में सविचारा और निर्विचारा समाधियाँ रहती हैं। इस प्रकार सबीज संप्रज्ञात-समाधि चार प्रकार से कही गयी है, ऐसा समझना चाहिए।

❖❖❖❖

निर्विचार-समाधि में परिपक्व होने पर आध्यात्मिक-प्रसाद की प्राप्ति

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारा नाम वाली समापत्ति के वैशारद्य=निर्मल होने पर योगी को अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है। यहाँ पर अध्यात्म-प्रसाद का अभिप्राय है कि प्रज्ञा का स्पष्ट प्रकाश होना अर्थात् वस्तु विषयक यथार्थ-ज्ञान का होना। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने निर्विचारा-समापत्ति के मल रहित होने पर अध्यात्म-प्रसाद का मिलना स्वीकारा है। समापत्ति मन की होती है और मन में मल नहीं होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार अथवा अविद्या,

अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनेवश रूपी क्लेशों की न्यूनता यदि मन में न हो तो समाधि नहीं लगा सकते। इन क्लेशों को अत्यन्त क्षीण करके समाधि लगा सकते हैं। संप्रज्ञात-समाधि के चार भेदों को सवितर्का-समापत्ति, निर्वितर्का-समापत्ति, सविचारा-समापत्ति, निर्विचारा-समापति कहते हैं। ये चारों समाधियाँ मन के पर्याप्त निर्मल होने पर ही लगती हैं अर्थात् मन में क्लेश रूपी मल अत्यन्त क्षीण हो, तो समाधि लगती है।

तो फिर मन की कौन सी मलिनता है जिसके हटने से अध्यात्म-प्रसाद मिल रहा है? इसका समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि मन की मलिनताएँ दो प्रकार की हैं। मन की एक प्रकार की मलिनता क्लेशों के कारण से है। जिसको ज्ञानात्मक मलिनता कहते हैं, जो अविद्या रूप है। मन की दूसरी मलिनता वस्त्वात्मक है अर्थात् तमोगुण और रजोगुण के कारण मन को मलिन कहा जाता है। यद्यपि मन की उत्पत्ति तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण से होती है, फिर भी मन को सत्त्वगुण स्वरूप वाला इसलिए कहा जाता है क्योंकि मन में सत्त्वगुण की मात्रा अधिक होती है। जब मन में तमोगुण और रजोगुण उभर जाते हैं तब मन में सत्त्वगुण दब जाता है। सत्त्वगुण के दब जाने के कारण मन एकाग्र नहीं हो पाता। मन में तमोगुण और रजोगुण उभरे हुए रहते हैं, तो मन को मलिन कहा जाता है। सत्त्वगुण की अपेक्षा से तमोगुण और रजोगुण को मल कहा गया है।

योगी समाधि लगा-लगा कर तमोगुण और रजोगुण को सर्वथा दबाए रखता है। जब मन पूर्णरूप से सत्त्वगुण से ओत-प्रोत रहता है, मन में लेशमात्र भी तमोगुण और रजोगुण उभरा न हो तब मन में अध्यात्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। जिसकी चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की जा रही है।

महर्षि वेदव्यास मन की निर्मलता की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

'अशुद्धि-आवरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्त-मोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्।'

अर्थात् तमोगुण और रजोगुण रूपी अशुद्धि सत्त्वगुण प्रधान मन को ढक देती है, जिससे मन एकाग्र नहीं हो पाता है। जब यह ही मल (तमोगुण और रजोगुण) हट जाता है या दब जाता है तब सत्त्वगुण स्वरूप वाला मन तमोगुण और रजोगुण से न दबता हुआ अपने निज रूप में अर्थात् स्वच्छ=

निर्मल होकर सतत उसी निर्मल अवस्था में बना रहता है। मन के सतत निर्मल अवस्था में बने रहने को स्वच्छ-स्थिति प्रवाह और वैशारद्य शब्द से कहा है।

'यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः।'

अर्थात् जब निर्विचारा-समापत्ति नामवाली समाधि में मन की निर्मलता होती है। तब योगी को अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त होता है।

अध्यात्म-प्रसाद किसे कहते हैं? अर्थात् अध्यात्म-प्रसाद का क्या अर्थ है? अध्यात्म-प्रसाद का अभिप्राय क्या समझना चाहिए? इन सब प्रश्नों का समाधान स्वयं महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः।'

अर्थात् अध्यात्म-प्रसाद का अर्थ स्फुट प्रज्ञालोक है अर्थात् स्पष्ट ज्ञान का प्रकाश, जिसमें अज्ञान की गन्धमात्र भी नहीं है, केवल तत्त्वज्ञान है और वह प्रज्ञालोक भूतार्थ विषय वाला है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में प्रकट करने वाला प्रज्ञालोक है। इतना ही नहीं वह प्रज्ञालोक जिस किसी वस्तु का बोध कराता है उस वस्तु के जितने भी गुण होते हैं उन सभी गुणों का मानो एक साथ ज्ञान कराता है। अर्थात् मानो कि जिसका क्रम ही न हो, बिना क्रम के एकसाथ ही ज्ञान कराता है। प्रज्ञालोक जिन वस्तुओं का ज्ञान कराता है, वे वस्तुएँ संप्रज्ञात-समाधि की विषय होती हैं अर्थात् पञ्चमहाभूतों से लेकर महत्तत्त्व=बुद्धि और सत्त्व, रजस्, तमस् तक सब जड़-पदार्थों व आत्मा का ग्रहण इसमें हो जाता है। यद्यपि मन एक समय में एक वस्तु या गुण का ही बोध कराता है, तो कैसे बिना क्रम के एक साथ बोध कराता है? यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि मन की जितनी निर्मलता होती है उतनी एकाग्रता आती है। अधिक एकाग्रता में मन अधिक कार्य करता है और मन की कार्य करने की क्षमता इतनी तीव्र होती है कि जिसे हम पकड़ नहीं पाते हैं। जिससे तीव्र गति से मन कार्य कर रहा होता है और हम उसे बिना क्रम के एक साथ होना मान लेते हैं।

प्रज्ञालोक रूपी विशेष तत्त्वज्ञान को प्राप्त योगी संसारस्थ समस्त भौतिक पदार्थों को यथार्थ रूप में जान कर, 'उन पदार्थों से क्या लाभ अर्थात् क्या

सुख मिलता है और क्या हानि अर्थात् क्या दुःख मिलता है' इसका यथार्थ विश्लेषण करके पदार्थ मात्र से न राग रखता है और न द्वेष रखता है अर्थात् संसार को न त्याज्य के रूप में न ग्राह्य के रूप में (हेय-उपादेयशून्य के रूप में) अनुभव करता है। वह इन्हें केवल मोक्ष के साधन के रूप में ही देखता है। ऐसी स्थिति में योगी को क्या अनुभूति होती है? इसका वर्णन स्वयं महर्षि वेदव्यास ने किसी अन्य ऋषि का उद्धरण देकर किया है '**तथा चोक्तम्**'=ऐसा ही किसी ऋषि ने कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः **शोचतो जनान्**।
भूमिष्ठानिव **शैलस्थः** सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

अर्थात् प्रज्ञाप्रसादम्=प्रज्ञा (-ज्ञान) रूपी महल पर **आरुह्य**=आरूढ़ हो (चढ़) कर, **अशोच्यः**=योगी स्वयं शोक से रहित होकर, **शोचतः**= शोक करने वाले, भूमिष्ठान्=पृथिवी पर (तलहटी में) स्थित, **सर्वान् जनान्**= सभी प्राणियों को अनुपश्यति=देखता है। **शैलस्थः इव**=जिस प्रकार कोई व्यक्ति पर्वत की चोटी पर खड़े होकर नीचे तलहटी पर चलने वाले मनुष्यों को देखता है। यहाँ पर पर्वत की चोटी पर खड़े होकर देखता है, तो उसे तलहटी में चलने वाले मनुष्य, पशु आदि इतने छोटे-छोटे दिखाई देते हैं कि उसे आश्चर्य होता है। ठीक इसी प्रकार योगी को भी अनुभव होता है कि मैं तो इतनी ऊँचाई पर हूँ अर्थात् तत्त्वज्ञान से ओत-प्रोत हूँ और बाकी जनता अविद्या से आकण्ठ डूबी हुई है। शोक से ग्रस्त यह जनता कब विवेक को प्राप्त करेगी? हे परमेश्वर! इस शोकग्रस्त जनता पर दया करो जिससे ये भी मेरी तरह शोक रहित हो सकें।

❖❖❖❖

समाहित-चित्त (योग) में ऋतम्भरा-प्रज्ञा की उत्पत्ति

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ ४८॥

पूर्व सूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने अध्यात्म-प्रसाद की चर्चा की है। महर्षि वेदव्यास ने अध्यात्मप्रसाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वस्तु के यथार्थ

स्वरूप को बताने वाली शुद्ध प्रज्ञा ही अध्यात्म-प्रसाद है। उसी अध्यात्म प्रसाद को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में '**ऋतम्भरा-प्रज्ञा**' नाम से पुनः कथन किया है। योग के क्षेत्र में जिस बुद्धि (ज्ञान) को अध्यात्म-प्रसाद शब्द से कथन किया है, उसे ऋतम्भरा-प्रज्ञा शब्द से भी कथन किया है। भाष्यकार ने इसे '**स्फुट-प्रज्ञालोक**' शब्द से भी कहा है।

मनुष्य जीवन में सुख और सुख के साधन विपुल मात्रा में उपलब्ध हों परन्तु बुद्धि (=ज्ञान) न हो, तो मनुष्य-जीवन निरर्थक हो जायेगा। इसलिए मनुष्य-जीवन में सब से महत्त्वपूर्ण वस्तु बुद्धि ही है। इसके बिना मनुष्य अपने प्रयोजन को पूर्ण कभी नहीं कर सकता। संसार में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। एक जड़ (नान लिविंग थिंग) दूसरी चेतन (लिविंग थिंग)। जड़ में बुद्धि नहीं होती और चेतन में बुद्धि होती है। बुद्धि के कारण ही चेतन की महत्ता है। चेतन-पदार्थों में भी एक जैसी बुद्धि सब में नहीं होती है। मनुस्मृति में महर्षि मनु कहते हैं—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिषु बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥

(मनुस्मृति १.९६.९७)

अर्थात् दो प्रकार के (जड़ और चेतन) पदार्थों में चेतन-पदार्थ श्रेष्ठ हैं। चेतन-पदार्थों में बुद्धिजीवी (बन्दर, तोता आदि) प्राणी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्यों में ब्राह्मण (=पठन-पाठन करने वाले) श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणों में भी विशेष ज्ञानवान् श्रेष्ठ हैं। विशेष ज्ञानवानों में भी जो उत्तम-उत्तम कर्म करने का संकल्प करने वाली बुद्धि रखते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। उत्तम-उत्तम कर्म करने की बुद्धि रखने वालों में भी जो श्रेष्ठ कर्मों को क्रियात्मक रूप में व्यवहार में उतारते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं। श्रेष्ठ कर्मों को करने वालों में भी जो ब्रह्म-साक्षात्कार करते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। यहाँ पर मनुस्मृति के श्लोकों को देने का अभिप्राय इतना ही है कि जीवन में बुद्धि की श्रेष्ठता बहुत अधिक है, इसलिए यदि जीवन में ऋतम्भरा-प्रज्ञा को प्राप्त न किया जाये, तो जीवन व्यर्थ कहलायेगा।

तीव्र इच्छा, अत्यन्त पुरुषार्थ, घोर तपस्या, उत्तम विधि और अनुकूल साधनों को अपनाने से '**ऋतम्भरा-प्रज्ञा**' प्राप्त हो पाती है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा का मिलना अनेकों जन्मों के पुरुषार्थ के कारण संभव हो पाता है। मनुष्य के जीवन में यदि कोई सर्वश्रेष्ठ बुद्धि है, तो वह ऋतम्भरा-प्रज्ञा ही है। जिसके माध्यम से मनुष्य आत्मा और परमात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है।

'**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**' सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'तस्मिन्समाहितचित्तस्य **या प्रज्ञा जायते**
तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति'

अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि के चार प्रकार के भेदों में चौथे प्रकार की निर्विचारा-समाधि की निर्मलता में एकाग्र हुए मन की जो प्रज्ञा (=बुद्धि) उत्पन्न होती है उसे '**ऋतम्भरा-प्रज्ञा**' नाम से कथन किया जाता है। ऋतम्भरा को ऋतम्भरा क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि लिखते हैं कि '**अन्वर्था च सा**' अर्थात् वह ऋतम्भरा नाम अर्थ के अनुरूप है। अभिप्राय यह है कि जैसा नाम है वैसा ही उसका गुण/काम है। ऋतम्भरा शब्द का क्या अर्थ है?

'सत्यमेव **बिभर्ति, न च तत्र** विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।'

अर्थात् इस प्रज्ञा को इसलिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहते हैं क्योंकि वह केवल सत्य को ही धारण करती है। सत्य को धारण करने वाली ऋतम्भरा-प्रज्ञा में मिथ्या-ज्ञान का लेशमात्र भी नहीं होता है। अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा विशुद्ध तत्त्वज्ञान है, जो वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकट करती है।

महर्षि वेदव्यास किसी अन्य ऋषि का प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि '**तथा चोक्तम्**' अर्थात् ऐसा ही किसी ऋषि ने कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन **च**।
त्रिधाप्रकल्पयन्प्रज्ञां **लभते योगमुत्तमम्**॥

अर्थात् मनुष्य कैसे अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ (=ऋतम्भरा-प्रज्ञा से युक्त) बना सकता है? ऋषि कहते हैं '**आगमेन**'; अभिप्राय यह है कि शब्द-प्रमाण के अनुसार चलने से मनुष्य अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ बना सकता है। योगाभ्यासी को शब्द-प्रमाण पर पूर्ण विश्वास रख कर चलना चाहिए। जैसा-जैसा शब्द-प्रमाण कहता जाये वैसा-वैसा करता जाये, तो अतिशीघ्र बुद्धि

का विकास हो जाता है। जिस प्रकार से आधुनिक शिक्षा को पढ़ने वाले विद्यार्थी विज्ञान के सिद्धान्तों को रखने वाले न्यूटन, आइन्सटीन आदि को शब्द-प्रमाण मानते हैं और उन पर पूर्ण श्रद्धा रख कर चलते हैं। उन पर विश्वास रख कर चलने का परिणाम यह निकलता है कि वे भौतिक सफलता की ऊँचाइयों को पा लेते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्म-शिक्षा को प्राप्त करने वाले योगाभ्यासियों को भी चाहिए कि ऋषियों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखें। जिससे कि हम भी आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकें। पूर्ण विश्वास न रखने के कारण अध्यात्म मार्ग प्रशस्त नहीं हो पाता है।

ऋषि आगे कहते हैं कि '**अनुमानेन**' अर्थात् अनुमान-प्रमाण के अनुसार चलने से मनुष्य अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ बना सकता है। अधिकांश न्यायदर्शन अनुमान-प्रमाण के आधार पर चलता है। अनुमान-प्रमाण को अपना कर चलने से व्यवहार की छोटी से छोटी बात को या बड़ी से बड़ी बात को सरलता से सुलझाया जा सकता है। अनुमान-प्रमाण को जीवन के साथ जोड़कर चलने वाला मनुष्य समस्त भूलों से बच सकता है। अनुमान-प्रमाण मनुष्य को व्यवहार-कुशल बना देता है और बुद्धि को खोल कर संशय रहित बना देता है। किसी भी वस्तु-तत्त्व को पहचानने या समझने का आधार अनुमान-प्रमाण भी है।

श्रेष्ठ बुद्धि बनाने का तीसरा उपाय बताते हुए ऋषि लिखते हैं '**ध्यानाभ्यासरसेन च**' अर्थात् निरन्तर ध्यान का अभ्यास करने से बुद्धि सात्त्विक बनती है। न जाने हुए सूक्ष्म-विषय स्पष्ट हो जाते हैं। पञ्चमहाभूतों, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, तन्मात्राओं, मन, अहंकार, महत्तत्त्व, सत्त्व, रज, तम, आत्मा और परमात्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। सबसे अधिक जानकारी प्राप्त करने का माध्यम ध्यान ही है। ध्यान बुद्धि को तपा-तपा कर अत्यन्त प्रखर बनाता है। जिससे बुद्धि सत्य को ही अपने में धारण करती है। इस प्रकार से योगी '**त्रिधा**'=तीनों (शब्द-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, ध्यान) उपायों के माध्यम से '**प्रज्ञाम्**'=ऋतम्भरा-प्रज्ञा को '**प्रकल्पयन्**'=सर्वश्रेष्ठ बनाता हुआ '**उत्तमं योगं लभते**'=आत्मा, परमात्मा के साक्षात्कार रूपी उत्तम योग को प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर उत्तम योग किसे कहना चाहिए? समाधान

यह है कि योग का अर्थ समाधि=साक्षात्कार है। और उत्तम समाधि वह ही है जिसमें आत्मा व परमात्मा का साक्षात्कार होता हो। इसलिए '**उत्तमं योगम्**' से आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार ही लेना चाहिए।

❖❖❖❖❖

ऋतम्भरा-प्रज्ञा की विशेषता

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९॥

पूर्व सूत्र में ऋतम्भरा-प्रज्ञा की चर्चा की गई है। प्रस्तुत सूत्र में उसी ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय में कथन किया जा रहा है कि '**सा पुनः**'= वह जो ऋतम्भरा-प्रज्ञा है, वह अन्य प्रज्ञाओं=ज्ञानों से विशिष्ट है। मनुष्य को जो भी ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान तीन प्रकार से होता है। प्रत्यक्ष-प्रमाण से, अनुमान-प्रमाण से और शब्द-प्रमाण से। यहाँ पर योगी को जो ऋतम्भरा-ज्ञान होता है, वह ज्ञान अन्य (लौकिक-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) ज्ञानों से विलक्षण होता है। ऋतम्भरा-ज्ञान की क्या विलक्षणता है? इसे प्रस्तुत सूत्र स्पष्ट कर रहा है। सूत्र का प्रथम पद 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्' है अर्थात् श्रुतप्रज्ञा और अनुमान-प्रज्ञा। '**श्रुत**' शब्द से शब्द-प्रमाण को लिया है। शब्द-प्रमाण से होने वाला ज्ञान और अनुमान-प्रमाण से होने वाला ज्ञान। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों से ऋतम्भरा-ज्ञान 'अन्यविषया'=भिन्न विषय वाला होता है। क्या कारण? 'विशेषार्थत्वात्'=समाधि में स्थित हो कर वस्तु का विशेष रूप से साक्षात्कार करने के कारण।

महर्षि वेदव्यास भाष्य करते हुए लिखते हैं 'श्रुतमागमविज्ञानम्' अर्थात् आगम=शब्द-प्रमाण से होने वाले ज्ञान को श्रुत-विज्ञान कहते हैं और वह श्रुत-विज्ञान 'तत्सामान्यविषयम्'=वस्तु के साधारण धर्मों को विषय बनाता है। अभिप्राय यह है कि किसी ने आगरा के ताजमहल के विषय में न जाने हुए व्यक्ति को जानकारी दी, सुनने वाले को जो जानकारी मिली, वह ताजमहल का साधारण ज्ञान ही होता है। ऐसा तो नहीं होता है कि सुनी हुई जानकारी पूर्ण है और व्यक्ति में अधिक की जिज्ञासा ही न हो। क्योंकि वस्तु के प्रत्यक्ष होने पर ही ज्ञान की पूर्णता मानी जाती है। इसलिए शब्द-प्रमाण से सुन कर जो ज्ञान मिलता है, वह साधारण ज्ञान ही होता है। विशेष-ज्ञान

तो प्रत्यक्ष होने पर ही होता है। इसलिए महर्षि लिखते हैं—

'न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम्'

अर्थात् शब्द-प्रमाण से वस्तु के विशेष अंश का कथन नहीं किया जा सकता। **'कस्मात्'**=वस्तु के विशेष अंश का कथन क्यों नहीं किया जा सकता? **'न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति।'** क्योंकि शब्द के साथ वस्तु के विशेष धर्म का संकेत जुड़ा ही नहीं होता है। शब्द उसी अर्थ को बताता है, जो अर्थ शब्द के साथ जोड़ (संकेतित कर) दिया गया हो। इस कारण शब्द-प्रमाण वस्तु का साधारण=मोटा-मोटा ज्ञान ही कराता है।

'तथाऽनुमानं सामान्यविषयमेव।'

अर्थात् जिस प्रकार शब्द-प्रमाण साधारण ज्ञान कराता है, उसी प्रकार अनुमान-प्रमाण भी वस्तु का साधारण ज्ञान ही कराता है। जैसे—

'यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्राप्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम्।'

अर्थात् जिस-जिस वस्तु में एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में जाने का सामर्थ्य है, उस-उस वस्तु में 'गति' अवश्य है और जिस-जिस में एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जाने का सामर्थ्य नहीं है, उस-उस वस्तु में 'गति' नहीं है, ऐसा जाना जाता है। यह बात अनुमान-प्रमाण के प्रसंग में पूर्व सूत्र (१.७ योगदर्शन) में कह आये हैं।

'अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः। तस्माच्छ्रुतानुमानविषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति।'

अर्थात् अनुमान-प्रमाण के द्वारा वस्तु का साधारण-ज्ञान कराकर ही ज्ञान प्राप्ति का उपसंहार=ज्ञान प्राप्ति की समाप्ति कर दी जाती है। अभिप्राय यह है कि अनुमान-प्रमाण वस्तु का साधारण ज्ञान करा कर समाप्त प्रयोजन वाला बन जाता है। इस प्रकार शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण किसी वस्तु का विशेष ज्ञान नहीं कराते हैं। वे तो केवल वस्तु का साधारण ज्ञान ही कराते हैं। ये ही शब्द-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण की वास्तविकता है।

'न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति।'

अर्थात् सूक्ष्म-वस्तुएँ जो पञ्चमहाभूतों के परमाणु, उन परमाणुओं के कारण पञ्च तन्मात्राएँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, महत्तत्त्वरूपी बुद्धि, सत्त्व, रज, तम। ये सब सूक्ष्म-पदार्थ कहलाते हैं। इन सब सूक्ष्म-

पदार्थों और जो भले ही स्थूल-पदार्थ हों लेकिन व्यवहित=ढके हुए (दीवार आदि से) हों तथा दूर स्थित हों उन पदार्थों का प्रत्यक्ष सामान्य लौकिक (योगियों से भिन्न) जनों को नहीं होता है।

'न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति।'

अर्थात् और न ही यह कहा जा सकता है कि इस विशेष धर्म का व सूक्ष्म, व्यवहित, दूर स्थित वस्तु के विशेष प्रत्यक्ष का जिसे लौकिक जन जान नहीं पा रहे हैं, अभाव है। अभिप्राय यह है कि साधारण जन को पदार्थों के विशेष धर्मों का व सूक्ष्म, व्यवहित और दूर स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, तो उन का और कोई विशेष प्रत्यक्ष भी न हो, ऐसा नहीं है क्योंकि

**'समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति
भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा।'**

अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा को प्राप्त किया हुआ योगी समाधिस्थ हो कर पदार्थों के विशेष धर्मों का व सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थित पदार्थों का साक्षात्कार करता है। चाहे सूक्ष्म-पदार्थ पञ्चमहाभूतों से लेकर सत्त्व, रज, तम तक क्यों न हों या आत्मा व परमात्मा तक क्यों न हों। अभिप्राय यह है कि समाधिस्थ योगी सभी वस्तुओं का साक्षात्कार कर सकता है।

यहाँ पर कोई यह शंका कर सकता है कि समाधिस्थ हो कर सूक्ष्म-पदार्थों का साक्षात्कार तो कर सकते हैं। परन्तु व्यवहित (दीवार आदि से ढके हुए) पदार्थों का साक्षात्कार और दूर स्थित पदार्थों का साक्षात्कार कैसे कर सकते हैं? इन दो प्रश्नों का समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि जिस प्रकार से आधुनिक यन्त्रों के माध्यम से रेलवे स्टेशनों और विमान स्थानों में यात्रियों के सामानों को बिना खोले, बन्द बैगों अटेचियों की तलाशी ले लेते हैं। यन्त्रों से ढ़के हुए पदार्थों का पता लगाते हैं। ऐसे ही योगी अपनी विशेष क्षमता को विकसित करके ढ़के हुए पदार्थों का पता लगा सकते हैं। यह बात अलग है कि वर्तमान में ऐसा कोई योगी हमारी जानकारी में नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसा होता नहीं है। कोई प्रक्रिया हमें समझ में न आने से वह नहीं होती हो ऐसा नहीं है। इसी प्रकार दूर स्थित वस्तुओं का प्रत्यक्ष सामान्य रूप से लौकिक जनों को नहीं होता है।

परन्तु योगियों को हो सकता है। जिस प्रकार बाज, गिद्ध आदि पक्षी दूर स्थित खरगोश चूहे आदि को देख लेते हैं। उसी प्रकार योगी अपनी क्षमता का विकास करके दूर स्थित पदार्थों को देख सकते हैं। यह अलग बात है कि कोई ऐसा योगी हमारी जानकारी में अब तक नहीं आया। इस विषय में और खोज करनी बाकी है, जिससे ऋषियों की बातों को प्रमाण से सिद्ध कर सकें। व्यवहित=ढके हुए पदार्थों और दूर स्थित पदार्थों का साक्षात्कार होना संभव कोटि में ही है। ऐसा समझना चाहिए।

'तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति।'

अर्थात् इसलिए वह जो ऋतम्भरा-प्रज्ञा है उससे समाधिस्थ योगी को जो विशेष साक्षात्कार होता है। वह साक्षात्कार शब्द-प्रमाण से और अनुमान-प्रमाण से होने वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न होता है। क्योंकि वह साक्षात्कार विशेष अर्थ वाला होता है। अभिप्राय यह है कि समाधिस्थ साक्षात्कार के होने के बाद मनुष्य को और कोई जिज्ञासा शेष नहीं रहती है। क्योंकि साक्षात्कार वाला ज्ञान पूर्ण होता है। वहाँ कोई अपूर्णता नहीं होती है। इसलिए ऋतम्भरा-प्रज्ञा से होने वाला साक्षात्कार विशेष अर्थवाला होता है।

❖❖❖❖

संप्रज्ञात-समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों द्वारा भोग के संस्कारों पर रोक

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो क्षणमात्र भी कर्म किये बिना रह सकता हो, उपासना किये बिना रह सकता हो और ज्ञान से रहित हो सकता हो। यद्यपि मनुष्य जिस समय कर्म कर रहा होता है, उसी समय उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा होता है; और यदि उपासना कर रहा होता है, तो कर्म और ज्ञान प्राप्त नहीं कर रहा होता है; और यदि ज्ञान प्राप्त कर रहा होता है, तो उपासना और कर्म नहीं कर रहा होता है। किन्तु ज्ञान, कर्म और उपासना में से किसी न किसी एक से सदा युक्त रहता है। मनुष्य जो भी ज्ञान कर रहा हो, उस ज्ञान की छाप मन पर पड़ती है, जो भी कर्म

कर रहा होता है, उस कर्म की छाप भी मन पर पड़ती है और जो भी उपासना कर रहा हो, उसकी भी छाप मन पर पड़ती है। मन पर पड़ने वाली ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्बन्धित छाप को **'संस्कार'** शब्द से कहते हैं।

मनुष्य जीवन में संस्कार बहुत विशेष महत्त्व रखते हैं। संस्कार मनुष्य को पाप की ओर ढकेल सकते हैं और कल्याण की ओर भी ले जा सकते हैं। यह तो मनुष्य पर निर्भर करता है कि कौन मनुष्य किस ओर बहता है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में पाप-संस्कार और कल्याण करने वाले संस्कार विद्यमान रहते हैं। दोनों प्रकार के संस्कार इसलिए रहते हैं क्योंकि मनुष्य शुद्ध-ज्ञान, शुद्ध-कर्म, शुद्ध-उपासना भी करता है और अशुद्ध-ज्ञान, अशुद्ध-कर्म और अशुद्ध-उपासना भी करता है। इस जन्म में भी नये अनगिनत संस्कार बनते हैं और जन्म-जन्मान्तरों के भी पुराने अनगिनत संस्कार मन में चले आ रहे हैं।

मनुष्य अपने संस्कारों से प्रेरित हो कर नये-नये कर्म करता रहता है। यदि संस्कार उत्तम हों, तो उत्तम कर्म कर पाता है। यदि संस्कार निम्न हों, तो निम्न कर्म करने लगता है। पूर्व सूत्रों (**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, श्रुतानुमान-प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्**) में ऋतम्भरा-प्रज्ञा की चर्चा की गई है। उसी ऋतम्भरा-प्रज्ञा को प्राप्त योगी समाधि लगा-लगा कर उत्तम-उत्तम संस्कार प्राप्त करता है। महर्षि वेदव्यास प्रस्तुत सूत्र की भूमिका में लिखते हैं—

'समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः
संस्कारो नवो नवो जायते।'

अर्थात् समाधि प्राप्त योगी को समाधि-काल में सत्य को ही धारण करने वाली प्रज्ञा=बुद्धि, जिसे ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहते हैं, उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा के कारण नये-नये संस्कार उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर भाष्यकार महर्षि वेदव्यास ने यह **'नवो नवो जायते'** लिख कर अच्छी प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि समाधि प्राप्त योगी आलस्य, प्रमाद आदि दोषों से रहित होता है और अतिशीघ्रता से अधिक से अधिक समाधि से उत्पन्न संस्कारों को बढ़ाता है। अन्यथा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को दबाना और नष्ट करना दुष्कर हो जायेगा। समाधि से उत्पन्न संस्कार इतने

अधिक प्रबल होते हैं कि लौकिक=सांसारिक संस्कारों को दबा सकें। कारण यह है कि समाधि से उत्पन्न संस्कार यथार्थ होते हैं, जिनमें सत्य ही धरा होता है। जिन संस्कारों का आधार विवेक, वैराग्य व यथार्थ-सत्य हो भला वे क्यों बलवान् न हों? अवश्य ही बलवान् होते हैं।

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'

अर्थात् (**तज्जः**)= उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न (**संस्कारः**)= संस्कार (**अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी**)=ऋतम्भरा-प्रज्ञा से भिन्न लौकिक-संस्कारों को रोकने वाला होता है। अभिप्राय यह है कि एक संस्कार अपने विरोधी संस्कार को रोकने वाला होता है। यहाँ पर समाधि से उत्पन्न संस्कार लौकिक-संस्कारों के विरोधी हैं। भाष्यकार महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते।'

अर्थात् संप्रज्ञात-समाधि की उत्कृष्ट अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार दूसरे व्युत्थान=लौकिक-संस्कारों के आशय=समुदाय को व्यर्थ कर देते हैं अर्थात् कार्य करने में असमर्थ कर देते हैं।

'व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति।'

अर्थात् समाधि विरोधी लौकिक-संस्कारों के अभिभव=दब जाने या बाधित हो जाने से उन लौकिक-संस्कारों से उत्पन्न होने वाली ज्ञानात्मक वृत्तियाँ नहीं बनती हैं। जब मन में किसी प्रकार की लौकिक-वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हो रही हो तब '**प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते।**' अर्थात् प्रत्यय= लौकिक ज्ञानात्मक वृत्तियों के रुक जाने पर समाधि बनी रहती है। अभिप्राय यह है कि जब तक मन की लौकिक वृत्तियाँ रुकी रहती हैं तब तक समाधि बनी रहती है, ऐसा समझना चाहिए।

'ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति
नवो नवः संस्काराशयो जायते।'

अर्थात् उस समाधि की उपस्थिति से समाधिजन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञा उत्पन्न होती है और उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से ऋतम्भरा जन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से नये-नये संस्कारों का समुदाय उत्पन्न होने लगता है।

'ततश्च प्रज्ञा, ततश्च संस्कारा इति।'

अर्थात् उन नये-नये संस्कारों से नयी-नयी ऋतम्भरा-प्रज्ञा उत्पन्न होती है फिर उस नवीन-नवीन ऋतम्भरा-प्रज्ञा से फिर और नये-नये संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा से संस्कार और संस्कार से प्रज्ञा निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। यह शृंखला तब तक चलती रहती है जब तक लौकिक-संस्कार सर्वथा दब नहीं जाते अथवा सर्वथा नष्ट नहीं होते।

यहाँ पर महर्षि वेदव्यास एक आशंका उत्पन्न करते हैं कि क्या ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार मन को भोगों के प्रति उन्मुख नहीं करते ? या वृत्तियुक्त नहीं करते ? '**कथम्**'=क्यों ? '**असौ**'=वह '**संस्कारातिशयः**'=संस्कार समुदाय '**चित्तम्**'=मन को '**साधिकारम्**'=अधिकारसहित '**न करिष्यतीति**' =न कर देगा ? यहाँ पर भोग रूप पुरुषार्थ को सम्पन्न=पूर्ण करते रहना ही मन का '**अधिकार**' कहा जाता है। इसलिए '**साधिकार**' का अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा को भोग रूप पुरुषार्थ को प्रदान करने के कार्य में लगाये रखना न कर देगा ?

स्वयं भाष्यकार प्रश्न का समाधान करते हुए लिखते हैं—

'न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षय-
हेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति।'

अर्थात् वे जो ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेशों को नष्ट करने का कारण होने से मन को अधिकारविशिष्ट=साधिकार=भोग रूपी कार्य में लगाये नहीं रखते हैं। अभिप्राय यह है कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार क्लेशों को नष्ट करने वाले होते हैं। इसलिए अविद्या के न रहने पर मन भोग कराने में असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति में मन अपने कारण में विलीन हो जाता है। यह बात इसी पाद के पांचवें सूत्र में कह आये हैं। इसलिए महर्षि लिखते हैं—

'चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति।'

अर्थात् वे ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार मन को अपने भोगापवर्गरूप कार्य से हटाते हैं अर्थात् मन को कर्त्तव्य से रहित करते हैं। क्योंकि—

'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति।'

अर्थात् मन की चेष्टा=क्रिया विवेकख्याति पर्यन्त ही होती है। तात्पर्य

इस प्रकार समझना चाहिए कि विवेकख्याति उत्पन्न होने से पहले तक मन आत्मा के भोग रूप अर्थ को सिद्ध करता रहता है। विवेकख्याति के उत्पन्न होते ही मुक्ति रूप अर्थ भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए संप्रज्ञात-समाधि की उत्कृष्ट अवस्था में सर्वथा=संपूर्ण विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर मन का कार्य या अधिकार समाप्त हो जाता है। इसलिए इस समाधि से उत्पन्न ऋतम्भरा-प्रज्ञा और उससे उत्पन्न संस्कारों के समुदाय से मन साधिकार नहीं रहता बल्कि अपने कर्त्तव्य से रहित हो जाता है। इसीलिए ख्यातिपर्यन्त ही मन की चेष्टा कही गई है।

❖❖❖❖

संप्रज्ञात-समाधि-प्रज्ञा जन्य संस्कारों के भी रुकने पर सर्ववृत्ति-निरोध से निर्बीज-समाधि

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

महर्षि वेदव्यास प्रस्तुत सूत्र की संक्षिप्त भूमिका में लिखते हैं कि '**किञ्चास्य भवति ?**' अर्थात् इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का क्या होता है ? इसका अभिप्राय यह है कि जब यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार मन को साधिकार नहीं करते, तो फिर इन संस्कारों का पर्यवसान=समाप्ति किस प्रकार होती है ? पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट किया गया था कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अविद्या को नष्ट करने का कारण बनते हैं। इसलिए मन को साधिकार नहीं करते हैं। फिर इन संस्कारों का क्या होता है ? यह '**किञ्चास्य भवति ?**' का आशय है।

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि समाधान करते हुए कहते हैं कि (**तस्यापि**) इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों का भी (**निरोधे**) असंप्रज्ञात-समाधि के द्वारा निरोध= रोक दिये जाने पर (**सर्वनिरोधात्**) सभी प्रकार के लौकिक-संस्कारों तथा ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों को रोक दिये जाने से (**निर्बीजः समाधिः**) निर्बीज नामक असंप्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर सूत्रकार ने सूत्र में '**सर्वनिरोधात्**' का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यह है कि संप्रज्ञात-समाधि मन के द्वारा प्राप्त होती है। संप्रज्ञात की

चारों समाधियाँ मन में होने वाली समाधियाँ हैं। ये समाधियाँ मन की एकाग्र अवस्था में होती हैं। मन में होने वाली समाधियाँ होने से वृत्ति स्वरूप ही हैं। इसलिए लौकिक-वृत्तियों को रोकने के साथ-साथ संप्रज्ञात-समाधि को भी रोकने के लिए '**सर्वनिरोधात्**' का प्रयोग किया है। सूत्रकार ने असंप्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कहा है और संप्रज्ञात-समाधि को सबीज-समाधि कहा है। सबीज-समाधि किस कारण से कहते हैं? और निर्बीज-समाधि किस कारण से कहते हैं? इसका समाधान '**ता एव सबीजः समाधि**' इस सूत्र की व्याख्या में कर आये हैं, वहीं पर देख लेवें।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र में आये हुए '**अपि**' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'**स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी प्रज्ञाकृतानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति।**'

अर्थात् वह निर्बीज नामक असंप्रज्ञात-समाधि न केवल संप्रज्ञात-समाधि में प्राप्त होने वाली ऋतम्भरा-प्रज्ञा को रोकती है, बल्कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को भी रोक देती है। '**कस्मात्**' अर्थात् क्यों रोकती है? प्रश्न का अभिप्राय यह है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा बहुत कठिनाई से संप्रज्ञात-समाधि प्राप्त हुई है। ऐसी स्थिति में असंप्रज्ञात-समाधि इसे क्यों रोकती है? इसका समाधान स्वयं भाष्यकार देते हुए लिखते हैं—

'**निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति।**'

अर्थात् असंप्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न निरोध नामक संस्कार संप्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न संस्कारों को अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों को रोक देता है। इसके पीछे यह कारण है कि जब तक संप्रज्ञात-समाधि बनी रहेगी तब तक असंप्रज्ञात-समाधि नहीं लग सकती। इसलिए असंप्रज्ञात-समाधि को लगाने के लिए संप्रज्ञात-समाधि को हटाना ही होगा। इस कारण असंप्रज्ञात-समाधि संप्रज्ञात-समाधि को रोकने वाली बनती है।

यहाँ पर कोई यह न सोचे कि क्या असंप्रज्ञात-समाधि से भी संस्कार बनते हैं? इसका समाधान स्वयं भाष्यकार देते हैं कि हाँ, असंप्रज्ञात-समाधि में भी संस्कार बनते हैं। उन असंप्रज्ञात-समाधि के संस्कारों की सत्ता को अनुमान-प्रमाण से अनुभव किया जाता है। वे लिखते हैं—

'निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्।'

अर्थात् निरोध-अवस्था में होने वाली असंप्रज्ञात-समाधि जितने काल लगती है उतने काल क्रम के अनुभव से निरोध कालीन मन में उत्पन्न संस्कारों की सत्ता अनुमान-प्रमाण से जानी जाती है। इसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि योगी असंप्रज्ञात-समाधि लगा कर बैठता है, जब तक बैठता है तब तक का समय निर्धारित होता है। अर्थात् मानो आधा घण्टा या एक घण्टा असंप्रज्ञात-समाधि लगाई, तो उतने काल तक मन में संस्कार बने हैं, ऐसा अनुमान हो जाता है।

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन निरोध-समाधि से उत्पन्न संस्कारों का भी निरोध होता है? यदि होता है, तो किससे होता है? अथवा क्या ये निरोध-समाधि से उत्पन्न संस्कार सदा मन में बने ही रहते हैं? इनका समाधान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

'व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते।'

व्युत्थान-संस्कार (=यहाँ व्युत्थान शब्द से लौकिक-संस्कारों का ग्रहण तो होता ही है बल्कि संप्रज्ञात-समाधि के भी संस्कार गृहीत होते हैं। क्योंकि जैसे संप्रज्ञात-समाधि की दृष्टि से लौकिक-संस्कार रोकने योग्य होने से व्युत्थान-संस्कार कहलाते हैं, उसी प्रकार असंप्रज्ञात-समाधि की दृष्टि से संप्रज्ञात-समाधि के संस्कार भी रोकने योग्य होते हैं। इस कारण संप्रज्ञात-समाधि के संस्कारों को भी व्युत्थान शब्द से ग्रहण किया है।) अर्थात् लौकिक-संस्कार एवं संप्रज्ञात-समाधि के संस्कारों को रोकने वाली असंप्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न कैवल्य भागीय संस्कार=मुक्ति को देने वाले संस्कारों सहित मन अपने कारण रूप प्रकृति (=सत्त्व, रज, तम) में विलीन हो जाता है अर्थात् मिल जाता है। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि जब योगी असंप्रज्ञात-समाधि लगा-लगा कर ईश्वरीय आनन्द, ज्ञान, बल आदि का अनुभव कर लेता है। इसके साथ-साथ अनगिनत निष्काम-कर्म कर लेता है और पाप-पुण्य के संस्कारों को नष्ट करने के साथ-साथ अविद्या को भी नष्ट कर लेता है। ऐसी स्थिति में **'जीवन-मुक्त'** बन जाता है अर्थात् शरीर में रहते हुए ही मुक्ति जैसी

स्थिति का अनुभव करता है। ऐसे योगी को '**जीवन-मुक्त**' कहते हैं। जन्म लेने का प्रयोजन भोग और अपवर्ग है, वह प्रयोजन योगी का पूर्ण हो चुका है। तब मन का कार्य पूर्ण हो गया है। इसलिए मन अपने कारण में विलीन होता है, ऐसा कहा है। जब योगी का आत्मा शरीर में रहने योग्य नहीं रहता और शरीर जर-जर हो गया हो, तब आत्मा तो शरीर से निकल कर मुक्त हो जाता है और सूक्ष्म-शरीर सहित मन अपने कारण में विलीन हो जाता है।

भाष्यकर आगे लिखते हैं—

'तस्मात् ते संस्काराश्चित्तस्याधिकारविरोधिनो
न स्थितिहेतवो भवन्तीति।'

अर्थात् मन अपने कारण में विलीन होता है। इस कारण से असंप्रज्ञात-समाधि के संस्कार मन के अधिकार (भोग और अपवर्ग रूपी अधिकार) को रोकने वाले होते हैं। वे संस्कार मन के बने रहने के कारण नहीं बनते।

'यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्तते।'

क्योंकि जब मन का अधिकार समाप्त ही हो जाता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त कराने वाले संस्कारों के साथ ही अपने कारण में विलीन होता है।

'तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः
केवलो मुक्त इत्युच्यत इति।'

अर्थात् उस मन के निवृत्त हो जाने पर अर्थात् भोग और अपवर्ग रूप कार्य से निवृत्त (=कारण में विलीन) होने पर पुरुष=जीवात्मा अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को अनुभव करता है। इसलिए उस मुक्तकाल में जीवात्मा स्वयं को शुद्ध=त्रिगुणातीत=सत्त्व, रज, तम से रहित अनुभव करता है और स्वयं को अकेला=केवल अनुभव करता हुआ समस्त दुःखों से रहित अनुभव करता है। ऐसी आत्मा को मुक्त-आत्मा कहा जाता है।

॥ इत्यों शम्॥

स्वामी विष्वङ् जी परिव्राजक योगाभ्यासी विद्वान् संन्यासी हैं। लगभग २० वर्ष से वे योग-साधना कर रहे हैं। वैदिक-परम्परा, वैदिक सिद्धान्तों व संस्कृत-भाषा से भी भलीभांति परिचित हैं। ऐसे विद्वान् साधक की व्याख्या से जन-सामान्य योग-शास्त्र को कुछ और अधिक अच्छी तरह समझने में समर्थ होकर अपने जीवन को और अधिक शुद्ध योगमय बना सकेगा, ऐसी आशा है।

जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से आत्मा संसार में आने के अपने प्रयोजन को यथार्थ रूप से समझ लेती है कि यह संसार मेरे सुख-आनन्द के लिए बना है। यदि मैं इस संसार को सुख पाने का माध्यम न मान कर इसी में डूबी रहूंगी, तो यही संसार मेरे दु:ख का कारण बनेगा। मैंने संसार के वास्तविक स्वरूप को जाना है, तो इसे साधन के रूप में ही प्रयोग करूंगी। इस विषय को आत्मा अपने आप को समझा कर पूर्ण विवेक से संसार को साधन के रूप में उपयोग कर अपने मन की चंचलता को सर्वथा बन्द करती है। विवेक-वैराग्य के कारण मूढ़ता को दबा लेती है। परमेश्वर के द्वार को खुला देख कर विक्षेपों के प्रति ध्यान ही नहीं देती है। अपनी सारी एकाग्रता को परमेश्वर में ही केन्द्रित करती है।

जब आत्मा को यह बोध हो जाता है कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे प्रयोजन को पूर्ण करने में असमर्थ है। तब इसी से आत्मा संसार के प्रति पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में मन सब वृत्तियों से निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था को निरुद्ध-अवस्था कहते हैं। इस में केवल ईश्वर ही ज्ञान का विषय रहता है। जीवात्मा का ईश्वर के साथ ही सम्बन्ध रहता है। इसी अवस्था में परमेश्वर का प्रत्यक्ष-दर्शन हो जाता है।

प्रकाशक
वैदिक पुस्तकालय, अजमेर